परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपं

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

कुलपतेः प्रो.राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषितम्

भाषाभाष्यत[illegible]ः सम्पादकश्च

[illegible]श्रः 'हंसः'

[illegible] विश्वविद्यालयः

[illegible]ी

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 31]

ŚRĪ MĀLINĪ-VIJAYOTTARATANTRA

With the Hindi Commentary
By

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. RAMMURTI SHARMA
VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'



V A R A N A S I
2 0 0 1

ISBN : 81-7270-047-4

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.



Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



First Edition, 500 Copies

Price : Rs 500/00



Printed by—
VIJAYA PRESS
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[३१]

श्रीमालिनी-विजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ. परमहंसमिश्रकृतेन 'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्येण

कुलपतेः प्रो. राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया च विभूषितम्

सम्पादकः

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'



वाराणस्याम्

२०५८ तमे वैक्रमाब्दे   १९२३ तमे शकाब्दे   २००१ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

ISBN : 81-7270-047-4



प्रकाशकः —
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशनसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२



प्राप्ति-स्थानम् —
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२



प्रथमं संस्क[illegible] – ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् – 500 रूप्यकाणि



मुद्रकः —
विजय-प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी।

प्रस्तावना

संस्कृतवाङ्मये वर्णमालाविज्ञानं द्विधाविभक्तमित्यपरोक्ष एव विषयो विज्ञातृणाम्। वर्णानि भगवत्याः परायाः स्पन्दनान्येव वैखर्यां सुस्फुरन्ति। देवी वाचं प्रथममयजन्त। तामेव विश्वोल्लासे समुल्लसन्तीं प्राणिनः प्रवदन्ति। वागात्मिकेयं पयस्विनी धेनुः पयोरूपिणीं भावसम्प्रेषणप्रेरिकामूर्जां जीवने दधाति विदधाति चेति।

पराया वाचश्चमत्काराण्येव सन्ति वर्णानि। षट्त्रिंशत्तत्त्वानां व्यक्ताव्यक्तरूपाणां वाचकान्येतान्येव सन्ति। तन्त्रे सम्यगेवोक्तं यत्—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी सैव सिसृक्षोः परमेश्वरस्येच्छाशक्तिरूपेण, एतदिदमीदृगेवेति ज्ञापयन्ती ज्ञानशक्तिरूपेण, इदं वस्तु एवं भवत्विति प्रकुर्वती क्रियाशक्तिरूपेण समुल्लसति। अर्थोपाधिवशाच्चिन्तामणिरिवेश्वरीयं भेदानन्त्यं बिभर्त्ति।

बीजयोनिरूपेण द्विधात्वं, वर्णभेदतो नवधात्वं प्रतिवर्णविभेदत्वेनेयं शतार्धकिरणोज्ज्वला शक्तिः पञ्चाशद्धात्वमङ्गीकरोति। तत्र 'अ'कारादयः षोडश स्वरा भैरववाचका बीजरूपाः, ककारतः क्षकारपर्यन्तं चतुस्त्रिंशद्वर्णा भैरवीशक्तिवाचकाः सन्ति। प्रतिवर्णविभेदे मातृशक्तिसमुल्लासाद् इयं वागात्मिका स्फूर्त्तिर्मातृका इति समुदीर्यते।

वर्णमालाया द्वितीया प्रथा 'मालिनी'त्युच्यते। मिमीते माययति वा विश्वोल्लासं सर्वमिति मा+ल+इनि+ङीप्-विभक्तिसमवायान्निष्पन्नेयं मालिनी भिन्नयोनिः शब्दराशिरूपा वर्णमालाऽस्ति। वर्णदृष्ट्या तु पञ्चाशद्धात्वं स्वीकरोति, तदपि मातृकाभावतः पृथक् प्रथमानतां प्रथयति। मातृकाया औपासनिको मन्त्रो 'ह्रीं अक्ष ह्रीं' भवति। मालिन्यास्तु 'ह्रीं न फ ह्रीं' इति। नकारात् फकारान्तं प्रसरन्त्या अस्याः क्रमस्त्वेवम्—न, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, कवर्ग, इ, आ, व, भ, य, ड, ढ, ट, झ, ञ, ज, र, ट, प, छ, ल, आ, स, विसर्ग (:), ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द, फ इति।

इत्थं मालिनीप्राधान्ये ग्रन्थेऽस्मिन् समुद्घुष्टं शिवेनैव यत्—

यथेष्टफलसंसिद्ध्यै मन्त्रतन्त्रानुवर्त्तिनाम् ।
विशेषविधिहीनेषु न्यासकर्मसु मन्त्रवित् ।।
न्यसेच्छाक्तशरीरार्थं भिन्नयोनिं तु मालिनीम् ।।

शाक्तशरीरसमुत्पादयित्री मालिनीयं विद्या सर्वातिशायिनी विद्येति वक्तुं शक्यते।

विश्वस्मिन् वर्त्तमानासु प्रचलितास्वप्रचलितासु च नेदृशं वर्णविज्ञानं विकसितं वर्त्तते, न वा दृश्यते कुत्रापि। वर्णेषु वर्णेषु वर्त्तमानाः शक्तयः विश्वोल्लासं कया विधया विदधति, केषु केषु रूपेषु ता व्यज्यन्त इति सर्वमस्मिन् तन्त्रग्रन्थे सन्दृब्धमिति ध्रुवम्।

ग्रन्थस्यास्य कस्याञ्चिदपि विश्वभाषायामनुवादादिकं किमपि नासीत्। एतस्यां परिस्थितौ **डॉ. परमहंसमिश्र**महोदयेन यत् कृतं **'नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यम'**स्य तन्त्रागमवाङ्मये मूर्धन्यस्य नैयून्याविष्कारविश्रुतस्य ग्रन्थस्य तत् सत्यं चमत्कार एवेति निश्चप्रचम्।

मिश्रमहोदयाः श्रीतन्त्रालोकस्य तन्त्रागमवाङ्मयविश्वकोषस्य विश्रुता भाष्यकाराः पथिकृतो विद्वांसः सन्ति। साधकशिरोमणीनामेतेषामागमिक रहस्योल्लासेऽभिनवालोकललामतायाः प्रकाशिकया लेखन्या यदलेखि भावनामयं भाष्यम्, निखिलं खलु खनिरेव चिन्तामणीनां मणिद्वीपस्येति समर्थतया वक्तुं शक्यते।

सन्दर्भेऽस्मिन् **डॉ. परमहंसमिश्रमहोदयं** साधुवादसहस्रैः सभाजयामि। आयतौ चैवमेव चिद्रसचिन्तामणिचयनेन तन्त्रसपर्यामाजीवनं विधास्यन्ति मिश्रमहोदया इत्याशासे।

महतोऽस्य प्रकाशनस्य श्रेयःसाधकाः **श्रीमन्तो डॉ. हरिश्चन्द्रमणि-त्रिपाठि**महाभागा आशीराशिभिरभिषिच्यन्ते। शुभाशीर्वादास्पदाश्च प्रकाशन-संस्थानस्य सर्वे सहयोगिनश्चावसरेऽस्मिन् सुस्मर्तव्याः सन्ति। सर्वैरेतैः कार्येऽस्मिन् स्वकीयानि निर्व्यूढान्युत्तरदायित्वानीति। मुद्रापकं **श्रीगिरीशचन्द्रञ्च** स्मरामि शुभाशंसनञ्च तस्य विदधामि। अन्ते च ग्रन्थमिमं सान्नपूर्णाय श्रीविश्वेश्वराय समुपहरामीति शम्।

रामभूर्तिशर्मा

राममूर्तिशर्मा
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य

वाराणस्याम्
ज्येष्ठपूर्णिमायाम्,
वि.सं. २०५८

स्वात्मविमर्श

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का उत्स

मातृविहीन को माँ मिल जाय, यह सौभाग्य का विषय माना जाता है। श्रीतन्त्रालोक के आठवें खण्ड के अन्त में मैंने 'स्वात्मनिवेदनम्' में लिखा है—

> सा गता मां जगन्मातुः समर्प्य पदपद्मयोः।
> मातृहीनोऽपि पुत्रोऽस्मि पराम्बायाः कृपास्पदः॥

पराम्बा का कृपास्पद होने का सौभाग्य मुझे मिला। माँ ने मुझे षाणमातुर (जिसकी एक नहीं छः छः मातायें हों, उसकी) मनोज्ञता से संयुक्त कर दिया। यद्यपि कार्त्तिकेय षाणमातुर कहलाते हैं; किन्तु पार्वतीनन्दन भी उनका एक विशेषण है। वे हमारी माँ के ही पुत्र हैं। उनमें और मुझमें कुछ साम्य और भी है। वे महासेन और सेनानी भी कहलाते हैं। मैं भी स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी हूँ। वे शक्तिधर हैं। मैं शक्ति का साधक हूँ। वे शास्त्र सुनते और सुनाते हैं। मैं तन्त्र-शास्त्र का भाष्य कर लोगों में पहुँचाता हूँ। इस तरह श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र ने मुझे कुमार कार्त्तिकेय का अनुगत भाई बना दिया है। मैं परम प्रसन्न हूँ।

इस आदिम तन्त्र को 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्' की संज्ञा प्रदान करने वाले श्री कार्त्तिकेय ही हैं। उन्होंने स्वयं ऋषियों से कहा—

> 'इति वः सर्वमाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम्'[1]।

तथा ग्रन्थ के अन्त में यह उल्लेख भी है कि,

> 'कार्त्तिकेयात्समासाद्य ज्ञानामृतमिदं महत्।
> मुनयो योगमभ्यस्य परां सिद्धिमुपागताः'[2]॥

वस्तुतः यह कथा कैलाश की देवपरिषद् को जिज्ञासा का निष्यन्द है। परमेश्वर के मुखारविन्द मकरन्द रूप अमृत का प्रवाह कैलाश पर्वत पर उन्मुक्त भाव से प्रवहमान था। सनत्कुमार, सनक, सनातन, सनन्दन, नारद, अगस्त्य, संवर्त्त और अन्य मनीषियों में वरिष्ठ मुनीश्वर वशिष्ठ आदि मनोयोग-

---

१. मा० वि० २१।४१।

२. तदेव—२३।४९।

पूर्वक इस अमृत रस का आस्वादन कर रहे थे। योगविद्या के रहस्यों को समझने के उद्देश्य से किये गये उनके विनम्र अनुरोध को स्वीकार कर तारकान्तक शिव प्रसन्न थे।

वातावरण बड़ा पावन और प्रेरक था। अत्रि के नेत्र से निष्पन्न चन्द्र यहाँ शिरोभाग पर विराजमान था। परमेश्वर की इच्छा से वह ज्ञान का चन्द्र बनकर यहाँ रहस्य रश्मियों को विकीर्ण कर रहा था। ज्ञानचन्द्र की मरीचियाँ 'मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र' के रूप में चतुर्दिक् चैतन्य की चेतना का चमत्कार भर रही थीं।

मनीषियों के साथ वहीं माता पार्वती भी थीं। उन्होंने भी सिद्धयोगीश्वरी मत और मालिनी मत आदि के सम्बन्ध में कुछ जिज्ञासायें प्रस्तुत की थीं। वहीं क्रौञ्चहन्ता, तारकजित् कार्त्तिकेय भी थे। इस श्रुति समारोह का रस वे भी ले रहे थे।[1] आद्योपान्त उन्होंने इस अमृत को आत्मसात् किया था।

कार्त्तिकेय से ही यह रहस्य मुनियों को प्राप्त हुआ था। देवी पार्वती ने परमेश्वर से योगविधि सम्बन्धी प्रश्न किया था। परमेश्वर ने उसके उत्तर में मन्त्रों के लक्षण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला था। इस उत्तर से ऋषि चकित थे। कार्त्तिकेय से पूछने पर उन्होंने ही ऋषियों के सन्देह की निवृत्ति की। इस तरह पूरा श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र ऋषियों को श्रवणगोचर हो सका।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र सर्वप्रथम महेश्वर अघोर[2] परमेश्वर से तारकान्तक शिव ने सुना था। दूसरी बार[3] परमेश्वर शिव ने देवसभा में उमा देवी को सुनाया और तीसरी बार कार्त्तिकेय ने ऋषि परम्परा को इस कथामृत से अभिषिक्त किया। वही कार्त्तिकेय द्वारा प्राप्त यह तन्त्र मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र है।

शास्त्र की संज्ञा

कार्त्तिकेय ने इस शास्त्र का नामकरण मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् किया है।[4] इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कुछ तथ्य और उक्तियाँ इस सम्बन्ध में एक वैचारिक विकल्प प्रस्तुत करती हैं।

१. तारकान्तक से ऋषियों ने योगमार्ग विधि के सम्बन्ध में पूछा था। भगवान् ने महेश्वर अघोर को प्रणाम कर उन्हीं अघोर के मुख से उद्गत मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र को सुनाया था—

---

१. मा० वि० ४।३;   २. तदेव—१।६-१।१४;
३. तदेव—१।१३।   ४. तदेव - २३।४१;

प्रत्युवाच प्रहृष्टात्मा नमस्कृत्य महेश्वरम्[1] ।
शृणुध्वं संप्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धि-फलप्रदम् ॥

मालिनीविजयं तन्त्रं परमेशमुखोद्गतम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं .... ॥

२. अमरार्चित उमेश को प्रणाम कर उस समय देवी पार्वती ने कहा था—

स्वस्थानस्थमुमादेवी प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।
सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रं नवकोटिप्रविस्तरम् ॥

यत्त्वया कथितं पूर्वं भेदत्रयविसर्पितम् ।
श्रीमालिनीविजये तन्त्रे कोटित्रितय-लक्षिते ॥

योगमार्गस्त्वया प्रोक्तः सुविस्तीर्णो महेश्वर !
भूयस्तस्योपसंहारः प्रोक्तो द्वादशभिस्तथा ॥

अर्थात् पार्वती के अनुसार योगमार्ग सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र के माध्यम से सुनाकर पुनः उसी को शिव ने मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के रूप में संक्षेप में सुनाया था। पुनः बारह हजार मन्त्रों में उसका संक्षेप किया। वह भी अल्पबुद्धि लोगों द्वारा आत्मसात् नहीं हो पा रहा था। इसलिये पार्वती ने उसका भी संक्षेप करने के लिये प्रार्थना की थी। यह संक्षेप की बात भी दोनों की एकता का संकेत करती है।

३. पार्वती के उक्त कथन के उत्तर में भगवान् शिव ने कहा था—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ॥ (मा० १।१३)

४. इस प्रकार शुद्ध (मोक्ष) और अशुद्ध (बन्ध) दो भावों के भेद से इन्द्रियों के प्रभाव का सिद्धयोगीश्वरी मन्त्र में वर्णन किया गया[2] ।

५. सिद्धयोगीश्वरी मतानुसार ध्यान से सर्वमन्त्रोपलक्षणा सिद्धि होती है[3] ।

६. स एव मन्त्रदेहस्तु सिद्धयोगीश्वरीमते[4] ।

७. भगवान् शिव कहते हैं कि, देवि ! मैंने इस तरह यह सिद्धयोगीश्वरी मत तुम्हें सुनाया[5] और इसके तुरत बाद कार्त्तिकेय कहते हैं कि, ऋषियों ! मैंने तुम्हें यह मालिनीविजयोत्तरतन्त्र सुनाया[6] ।

---

१. मा० वि० १।६-७ २. तदेव—१५।४५; ३. तदेव—१७।३३;
४. तदेव—१८।३८; ५. तदेव—२३।३८; ६. तदेव—२३।४१;

इन कथनों और उपकथनों से सिद्धयोगेश्वरी तन्त्र का ही परम संक्षेप रूप कोई खण्ड मालिनीविजयोत्तरतन्त्र है, यह सिद्ध हो जाता है। भगवान् शिव की उक्ति—

'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम्[1] ॥

भी इन दोनों का एक होना ही सिद्ध करती है।

श्रीतन्त्रालोककार श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र का द्वितीय, तृतीय, एकादश, सप्तदश, ऊनविंश, त्रयोविंश, पंचविंश और अष्टाविंश आह्निकों में खुलकर प्रयोग किया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि, उनके समय में सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र का बृहत् स्वरूप प्रचलित था। आज एक तरह से यह अनुपलब्ध ही है। ज्ञात हुआ है कि एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के ग्रन्थागार में इसकी एक दुर्लभ पाण्डुलिपि है। श्री शीतला प्रसाद उपाध्याय, उपाचार्य योगतन्त्र विभाग सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के अनुसार नेपाल राज्य के राज्य ग्रन्थागार में भी इसकी एक प्रति है।

इस प्रकार इसके 'पृथक् अस्तित्व' 'इसके एकत्व' और 'सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र का ही यह कोई अंश है', ये तीनों तथ्य विचारणीय हैं। सिद्धातन्त्र, सिद्धामत और सिद्धान्त शासन ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी गवेषणा आवश्यक है।

विशेषतः विद्वद्वर्ग द्वारा यह विचारणीय है कि, सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र और मालिनीविजयोत्तरतन्त्र दोनों एक ही महान् ग्रन्थ के दो भागों में बँटे हुए रूप हैं ? क्या दोनों अलग होकर भी एक हैं ?

मातृका मालिनी का अन्तर

मातृका—मालिनी एक अभिनव मातृका है। मातृका के ५० वर्ण प्रसिद्ध हैं। 'अ' से विसर्ग तक के १६ वर्ण स्वर वर्ण हैं और क से स तक ३३ वर्ण मिलकर ४९ वर्ण होते हैं। 'क्ष' को चक्रेश्वर वर्ण कहते हैं। इस तरह कुल मिलाकर पचास वर्ण मातृका के माने जाते हैं। सोलह स्वर वर्ण बीज वर्ण हैं और शेष ३४ व्यंजन योनिवर्ण हैं। बीज और योनिवर्णों के संयोग से सारा वाङ्मय प्रसार प्राप्त करता है। मातृका नाम पड़ने का कारण निम्नवत् है—

१. अवर्ग की अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी हैं।

२. कवर्ग की अधिष्ठात्री देवी कमलोद्भवा ब्राह्मी हैं।

३. चवर्ग में महेशानी देवी का अधिष्ठान है।

---

१. मा० वि० १।१३।

४. टवर्ग में कुमारिका अर्थात् कौमारी देवी उल्लसित हैं।

५. तवर्ग में नारायणी देवी अधिष्ठित हैं।

६. पवर्ग में वाराही माता का अधिष्ठान माना जाता है।

७. यवर्ग (य र ल व) में ऐन्द्री अधिष्ठित रहती हैं।

८. शवर्ग (श ष स ह) में चामुण्डा देवी का अधिष्ठान माना जाता है।

इस तरह, १. महालक्ष्मी, २. ब्राह्मी, ३. माहेशी, ४. कौमारी, ५. नारायणी (वैष्णवी), ६. वाराही, ७. ऐन्द्री और ८. चामुण्डा नामक मातृशक्तियाँ इसमें निवास करती हैं। इसी आधार पर आठ वर्गों में विभाजित पूरी वर्णमाला मातृका मानी जाती है[1]।

मालिनी—मालिनी की एकमात्र परिभाषा का उल्लेख करते हुए भगवान् कहते हैं—

न्यसेच्छाक्तशरीरार्थं भिन्नयोनिं तु मालिनीम्[2]।

अर्थात् भिन्नयोनि मातृका को मालिनी कहते हैं। मातृका में योनिवर्ग सात वर्गों में विभक्त होने पर भी वर्गानुकूल परिगणित होती है। वही मालिनी भिन्नयोनि वाली होती है। योनि भिन्नता वर्णों पर ही आधारित होती है। वर्णों में ही सारे तत्त्व और उनकी शक्तियों के सत्त्व उल्लसित हैं। इनका शरीर के अवयवों पर न्यास करने से दिव्यता का सम्पूर्ण आधार हो जाता है।

मातृका क्रम से सभी वर्ण प्रचलित हैं। मालिनी का वर्णक्रम इस प्रकार है। यहाँ वर्ण क्रम, तत्त्व, न्यास के अङ्ग और वर्णशक्ति क्रम प्रदर्शित हैं—

क्रमाङ्क	मालिनीवर्ण सोलह अक्षर	तत्त्व	न्यास के अङ्ग स्थान	वर्ण शक्तियों की संज्ञा
१.	न	शिव तत्त्व	शिखा	नादिनी
२-५	ऋ ॠ ऌ ॡ	,,	शिरोमाला	कला—१. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ता
६.	थ	,,	शिर का अग्रभाग मस्तक	सती उमा
७.	च	,,	तृतीय नेत्र	चामुण्डा
८.	ध	,,	नेत्र	प्रियदर्शिनी

---

१. स्वच्छन्द तन्त्र १।३४-३६, मा० वि० ३।१०-१५।

२. मा० वि० ३।३६, ४।११, ४।१४।

९.	ई	,,	दोनों नेत्रों का मध्य	गुह्यशक्ति
१०.	ण	,,	दोनों कान	नारायणी
११.	उ	,,	कर्णाभूषण बाँयाँ	मोहिनी
१२.	ऊ	,,	दक्ष भूषण	प्रज्ञा
१३.	ब	,,	वक्त्र	अव्ययावच्छिणी
१४-१६.	कखग	सदाशिव	दन्तपङ्क्ति	क-कङ्कटा,
१७-१८.	घङ.	ईश्वर		ख-कालिका, ग-शिवा घ-घोरघोषा, ङ-शिविरा
१९.	इ	सद्विद्या	जिह्वा	माया
२०.	अ	मन्त्रमहेश्वर	वाक्	वागीश्वरी
२१.	व	मन्त्रेश्वर	कण्ठ	शिखिवाहनी
२२.	भ	मन्त्र	दक्षस्कन्ध	भीषणी
२३.	य	विज्ञानाकल	वामस्कन्ध	वायुवेगा
२४.	ड	कलाकल	दक्षबाहु	लाभ-
२५.	ढ	प्रलयाकल	वामबाहु	विनायकी
२६.	ठ	सकल	दोनों हाथ	पूर्णिमा
२७.	झ	प्रकृति	दाहिनो अङ्गुलियाँ	झङ्कारी
२८.	ञ	अहंकार	वाम अङ्गुलियाँ	कुन्दना
२९.	ज	बुद्धि	शिखा शूल	जयन्ती
३०.	र	मन	शूल दण्ड	दीपनी
३१.	ट	घ्राण	शूल कपाल	पारमेश्वरी
३२.	प	जिह्वा	हृदय	पावनी
३३.	छ	स्पर्श त्वक्	दक्ष स्तन	छगली
३४.	ल	चक्षु	वाम स्तन	पूतना
३५.	आ	श्रोत्र	क्षीर	मोटरी
३६.	स	उपस्थ	जीव	परमात्मा
३७-३८.	विसर्गः ह	पाद	पञ्चप्राण	इच्छाशक्ति

३९.	ष	पाणि	उदर	लम्बिका
४०.	क्ष	वाक्	नाभि	संहारिका
४१.	म	गन्ध	नितम्ब	महाकाली
४२.	अनुस्वार	रस	शुक्र	भैरवी
४३.	श	रूप	गुह्य	कुसुमायुधा
४४.	त	स्पर्श	उरुयुग्म	तारा
४५.	ए	शब्द	दक्षजानु	ज्ञाना
४६.	ऐ	आकाश	वामजानु	क्रिया
४७.	ओ	वायु	दक्षजंघा	गायत्री
४८.	औ	तेज	वामजंघा	सावित्री
४९.	द	जल	दक्षप्रपद	दहनी
५०.	फ	धरातत्त्व	वामप्रपद	फेत्कारिका[१]

इस प्रकार पचास वर्ण राशि (शब्द राशि) के स्थान, तत्त्व और उन पर न्यस्य देवताओं की यह तालिका मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के तीसरे अधिकार के श्लोक ३७ से ४१ तक की सूची में अङ्कित है। इसे भिन्न योनि अर्थात् बीज और योनि के पारस्परिक मेल से बनी वर्णमाला मानते हैं। श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार बीजयोनि से उत्पन्न रुद्रशक्ति के आश्रय से प्रवर्त्तमान वाचकों की अनन्त संख्यायें स्वीकार्य हैं[२]।

सर्वशास्त्रार्थ को अपने रहस्यमय अन्तर्गर्भ में धारण करने वाली इस मालिनी-विद्या के द्वारा परमेश्वर शिव ने अघोर भट्टारक को बोध प्रदान किया था। इस विद्या से संप्रबुद्ध होकर योनि वर्णों को बीज शक्तियों के प्रभाव से क्षुब्ध कर उसी के समान श्रुति वाले पृथक् वर्णों को उत्पन्न कर दिया। इन्हीं वर्णों से सारा का सारा वाङ्मय वेद, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि समुत्पन्न हुए और अनवरत उत्पन्न हो रहे हैं।

शिवशक्ति के अनन्त भेदों के रहते कार्य भेद से इसके तीन भेद होते हैं— १. अपरा, २. परा और ३. परापरा शक्ति।

१. अपरा घोरतरी शक्ति है। यह रुद्र रूप अणुओं को जो स्वयं विषयों में ही लीन रहते हैं, उन्हें और नीचे से नीचे गहराइयों में गिराने का काम करती है।

---

१. मा० वि० ३।२५; २. तदेव—३।३२।

२. परापरा—मिली जुली आसक्ति उत्पन्न करने वाली तथा मुक्तिमार्ग का निरोध करने वाली घोर शक्ति है।

३. पराशक्ति शिवधाम पर पहुँचाने का पावन कार्य करती है। यह अघोर शक्ति मानी जाती है। इसके बीजमन्त्र के उच्चारण मात्र से सारे मन्त्र संमुखीन हो जाते हैं।[1]

त्रिक दर्शन की मूल भित्ति रूप इन तीन शक्तियों का प्रतिपादक श्रीमालिनी-विजयोत्तरतन्त्र नामक यह तन्त्र परमेश्वर के मुखारविन्द का परम पावन मकरन्द है[2]। इससे भुक्ति और मुक्ति हस्तामलकवत् उपलब्ध होते हैं। इसे परमेश्वर के मुख से उद्भूत ज्ञानचन्द्र की मरीचि रूप मानते हैं।[3] यह १. हेय और २. उपादेय विज्ञान से स्वाध्याय में संलग्न साधकों को परमार्थ रूप से परिचित कराता है।

इसके अनुसार मल (आवरक तत्त्व) कर्म, माया और मायीय यह शाश्वत संसरणशील संसार ही हेय माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त १. शिव, २. शक्ति, विद्येश्वर, मन्त्र और मन्त्रेश्वर सभी उपादेय श्रेणी में आते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि, इस तन्त्र के अनुसार सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्व सम्पन्न परमेश्वर ने सृष्टि की इच्छा होने पर सर्वप्रथम आठ विज्ञान-केवलों को उत्पन्न किया था। उन्हें क्रमशः १. अघोर, २. परमघोर, ३ घोररूप, ४. घोरमुख, ५. भीम, ६. भीषण, ७. पिबन और ८. वमन कहते हैं। ये सभी १. स्थिति, २. ध्वंस, ३. रक्षा और ४. अनुग्रह करने में समर्थ हैं[4]।

इस शास्त्र के अनुसार संसार के अङ्कुर का एकमात्र कारण मल है। वहीं मोक्ष का एकमात्र कारण ज्ञान माना जाता है।[5] माया व्यापिनी शक्ति है। माया की बड़ी पुत्री का नाम कला है। कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह संसार मण्डल है।[6] इसको जीतकर माया से भी ऊपर उठने के लिये हेयोपादेय विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।

योगसिद्धि के लिये भुवन माला के रूप में विस्तृत इस संसार मण्डल को जानना भी आवश्यक है।[7] भगवान् शङ्कर ने तो यहाँ तक घोषित किया है कि,

यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः॥ (मा० वि० २।१०)

---

१. मा० वि० ४।१५-१७; २. तदेव—१।७; ३. तदेव—१।१।
४. तदेव—३।१९-२०; ५. तदेव—१।२३; ६. तदेव—१।३३।
७. तदेव—१।८।

ऐसे गुरुवर्य मन्त्रों की वीर्यवत्ता के प्रकाशक होते हैं। उन पर रुद्रशक्ति का समावेश शाश्वत रहता है। इसके लक्षण भी उनमें दीख पड़ते हैं। १. रुद्र में भक्ति, २. मन्त्रसिद्धि, ३. सर्वसत्त्ववशित्व, ४. प्रारब्ध कार्य निष्पत्ति, ५. कवित्व और ६. सर्वशास्त्रार्थवेतृत्व ।

इस समावेश के मुख्य रूप से १. भूत समावेश (पंचविध) २. तत्त्व समावेश (त्रिंशत् विध) ३. मन्त्रसमावेश (दशविध) ४. आत्म समावेश (त्रिविध) ५. शक्ति या शाक्त समावेश (द्विविध) कुल मिलाकर पचास भेद होते हैं।[1]

पचास प्रकार के आणव, पचास प्रकार के शाक्त और पचास प्रकार के शाम्भव कुल मिलाकर एक सौ पचास भेद इस समावेश के होते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि, ब्रह्माण्ड का यह जागतिक उल्लास शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर चार इसके पति रूप में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार इन स्वामियों से व्याप्त यह संसार मण्डल छः अध्वाओं (१. कला, २. तत्त्व, ३. भुवन, ४. वर्ण, ५. पद और ६. मन्त्र) से भरा हुआ है। इसे षडध्व दृष्टि कहते हैं। इसी आधार पर इसे षडध्व दर्शन भी कहते हैं। इसमें १. अपरा, २. परापरा और ३. परा इन तीन शक्तियों की व्याप्ति के कारण इसे त्रिक दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन के सर्वोच्च तत्त्व शिव हैं। कहा गया है कि,

निष्प्रपञ्चो निराभासः शुद्धः स्वात्मन्यवस्थितः ।
सर्वातीतः शिवो ज्ञेयः यं विदित्वा विमुच्यते[2] ॥

शिव की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं—१. सिसृक्षु परमेश्वर की इच्छा शक्ति, २. यह इस प्रकार का है—इस रूप में ज्ञेय का ज्ञापन करने वाली ज्ञान शक्ति। ज्ञानविषयक इस दर्शन की मान्यता भी मननीय है। यह त्रिविध ज्ञान की चर्चा करता है।[3] १. श्रुत, २. चिन्तामय और ३. भावनामय। इसी तरह १. सम्प्राप्त, २. घटमान, ३. सिद्ध और ४. सिद्धतम भेद से ज्ञानी भी चार प्रकार के माने गये हैं। यह वस्तु इस प्रकार की हो, इस भाव से वैसा ही बना देने वाली क्रिया शक्ति ही शिव की तीसरी शक्ति है।

यह क्रिया शक्ति अर्थोपाधिवश तीन भागों में विभक्त होती है। १. बीज योनि भेदमयी, २. वर्ग भेद से नौ वर्गों वाली (अ क च ट त प य श और क्ष) और ३. मालिनी (पचास वर्णविभेद वाली)[4]।

---

१. मा० वि० २।१९-१६, २. तदेव—२।४२।
३. तदेव—४।२८-३३; ४. तदेव—३।१०-१५।

बीज स्वर सोलह होते हैं और ये रुद्रबीज माने जाते हैं। इनमें अधिष्ठित १६ अमृत आदि रुद्र भी माने जाते हैं।

योनि रूप व्यंजन ३४ होते हैं। इनसे समुत्पन्न जय, विजय आदि ३४ रुद्रांश भी माने जाते हैं।[१]

इनसे विभिन्न मन्त्रों की सृष्टि होती है। जैसे—१. ब्रह्मशिरस्[२] २. शिखा मन्त्र, ३. पुरुष्टुत्[३] मन्त्र, ४. पाशुपत[४] मन्त्र, ५. अपरा मन्त्र, ६. परापरा मन्त्र और ७. परामन्त्र। इन सब में परामन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र माना जाता है। इस एक बीज-मन्त्र में पार्थिव, प्राकृत, मायीय, शाक्त और शैव नामक पाँच अण्डकटाहों को विजय कर लेने की शक्ति है। इसीलिये इस मन्त्र को शास्त्र में 'पञ्चपिण्डनाथ' कहते हैं। परात्रीशिका शास्त्र में इसकी व्यापक व्याख्या की गयी है।[५]

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र समस्त अध्वा वर्ग पर अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। विशेष रूप से कालाग्नि भुवन में अवीचि कुम्भीपाक और रौरव भुवनों की विशेषतः प्रयत्नपूर्वक शुद्धि का संकेत देते हुए यह तन्त्र ग्रन्थ कूष्माण्ड भुवन की शुद्धता और उसके अन्तर्गत आने वाले रसातल इत्यादि सात पातालों की शुद्धि का ही समर्थक है। हाटक भुवन भी इसी शुद्धता के क्रम में परिगणित हैं।

इसके ऊर्ध्वभाग में भूमण्डल की चर्चा की गयी है।[६] यहीं सप्तद्वीपों और अर्णवों से संयुक्त पृथिवी के मध्य में देवताओं का आश्रय मेरु अधिष्ठित है[७]। इसके ऊर्ध्व-ऊर्ध्व भाग में भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोक प्रतिष्ठित हैं। इनमें १४ प्रकार के भूत समूह निवास करते हैं। भुवन वर्णन, प्रत्यष्टक, स्थाण्वष्टक, देवयोन्यष्टक, योगाष्टक आदि के बाद मायातत्त्व, विद्यातत्त्व आदि भुवनों की संख्या के क्रम में कुल एक सौ अट्ठारह भुवनों की चर्चा इस शास्त्र में की गयी है।[८]

इस दर्शन के अनुसार शरीर का अन्यतम महत्त्व स्वीकृत है। शरीर में सभी तत्त्वों का न्यास इसमें स्वीकृत है। श्रीतन्त्रालोककार भगवान् अभिनव ने भी इसका वर्णन इसी आधार पर किया है।[९] ८४ अङ्गुल के शरीर में अङ्गुल गणना के अनुसार सभी तत्त्व यथास्थान इसमें प्रदर्शित हैं।

---

१. मा० वि० ३।२०-२४ ; २. तदेव—३।६२ ; ३. तदेव—३।६४।
४. तदेव—३।६५ ; ५. तदेव—४।२५; ६. तदेव—५।५; ७. तदेव—५।५।
८. तदेव—५।३३ ; ९. तदेव—६।१, श्रीतन्त्रालोक-१५।२८४-२८५।

साधना के आधार

सर्वप्रथम मुद्रा के माध्यम से यौगिक कर्म को हृदय में मन्त्र द्वारा सम्पृक्त करने का पूरा विवेचन किया है।[१] याग सदन में विशेष न्यास पद्धतियों द्वारा भैरव सद्भाव का विशेष आयोजन इस शास्त्र में नितान्त अपेक्षित माना गया है।[२] इसके अतिरिक्त मातृसद्भाव से उत्तम सिद्धि की विधि में उतारने का निर्देश है। साथ ही रुद्रशक्ति समावेश के सन्दर्भ के प्रकरण में परा, परापरा, अपरा देवियों की आत्मपूजा का रहस्य भी प्रतिपादित है। मुख्य रूप से तीन शूल शृङ्गों की पूजा के समन्त्रक साधना के निर्देश दिये गये हैं। खेचरी मुद्रा द्वारा इनकी सिद्धि सरल मानी जाती है। अधिवासन, मण्डल रचना और होम आदि के विधान साधना के अङ्ग रूप में ही स्वीकृत हैं।

इस शास्त्र की मुख्य क्रिया अध्वा शोधन है। इसके बाद ही दीक्षा का विधान है। इस दीक्षा के द्वारा शिष्य स्वात्मशिवत्व को जागृत कर द्वादशान्त में प्रवेश करने का अधिकारी होता है।[३] दीक्षा में अभिषेक का महन्महत्त्व है। अभिषेक के अनन्तर ब्रह्मशिरस् आदि मन्त्रों के जप द्वारा स्वात्मशुचिता की प्रक्रिया अपनायी जाती है। मातृका बीज मन्त्र 'ह्रीं अक्षह्रीं' और मालिनी बीज मन्त्र 'ह्रीं न फ ह्रीं' इन दोनों मन्त्रों से साधक अपने शरीर को शक्तिमूर्त्ति में परिवर्त्तित कर लेता है।[४]

गुरुदेव द्वारा शिवहस्त विधि द्वारा शिष्य पर शक्तिपात के विधान का इसमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। योगाभ्यास की विधि पूरी तरह इसी शास्त्र से अन्य शास्त्रों में ली गयी है। वारुणी, पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी धारणाओं और आकाशीय धारणाओं का यह अनूठा शास्त्र है। इन धारणात्मक साधनाओं द्वारा व्यक्ति विश्वविजयी बन सकता है। पञ्चमहाभूत धारणाओं के साथ ही तन्मात्र धारणाओं का निर्देश उनकी साधना की विशेष विधियाँ इस शास्त्र की अपनी देन मानी जा सकती हैं। इनके अतिरिक्त महागर्वकरी धारणा आदि ऐसी विधियाँ यहाँ प्रदर्शित हैं, जिनसे दिव्य ज्ञान का अनिवार्यतः प्रवर्त्तन हो जाता है।[५] चित् शक्ति के दर्शन और शैवसंवित्ति की समापत्ति की साधना की जो विधि यहाँ वर्णित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।[६] शिवज्ञानात्मक योगविधि इसी शास्त्र की विशेष विधि है।[७]

---

१. मा० वि० ७।३५-३६ ; २. तदेव—८।३४ ; ३. तदेव—९।७७ ।
४. तदेव—१०।३६-३७ ; ५. तदेव—२६।६४ ।
६. तदेव—१८।३९-४० ; ७. तदेव—१८।७०-७१ ।

अभिन्न साधना, वाक्‌सिद्धि (१९।८,८७), योगिनो मेलक, (२१) तत्त्वभाव संविति, विज्वरत्व सिद्धि, मृत्युनाश विधि, शास्त्रज्ञान, उच्छिन्न शास्त्रज्ञान, विद्येश्वरत्व, सात दिन में अपूर्व सिद्धि (१९।६२), उर्वशी सिद्धि, पुष्टि, रिपुनाश, उत्साह, योगिनियों द्वारा ज्ञान प्राप्ति की साधना, रुद्रशक्ति समावेश साधना, पराक्रान्त परासन साधना, मृत या जीवत् शरीर में प्रवेश विधि (२१।९-१०), स्वादाकृष्टि विधि, प्रतिमा चालन विधि, सर्वत्र प्रवेश विधि, सद्यः प्रत्ययकर प्रयोग, चन्द्राकृष्टिकर प्रयोग, चन्द्रबिम्ब में परादर्शन प्रयोग, त्रैलोक्यवशीकरण योग (२१।१३), सूर्याकृष्टिकर योग, खेचरता सिद्धि (२२।१८), त्रिशूल प्रयोग, दूरश्रवण विज्ञान, विषक्षयकरप्रयोग, सर्वसिद्धिकर प्रयोग, स्वप्न विज्ञान, सर्वज्ञता इत्यादि साधना की विधियाँ विस्तारपूर्वक इसमें बतायी गयी हैं। ये साधनायें एक ओर विश्वोत्तीर्णता की व्याप्ति का वरदान देने वाली हैं और दूसरी ओर विविध प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न बनाकर भोगवाद की सिद्धि करने वाली हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि, यह तन्त्र भोगवाद के साथ मोक्ष का भी समान रूप से साधक है। इसकी दार्शनिक दृष्टि निष्प्रपञ्च, निराभास, शुद्ध स्वात्म में प्रतिष्ठित सर्वातीत शिव के साक्षात्कार में समर्थ है, तो दूसरी ओर यह घोषणा करती है कि, 'तत्समानबलो भूत्वा भुङ्क्ते भोगान् यथेप्सितान्'। इसमें सर्वसिद्धिकर प्रयोगों की कमी नहीं है।

भगवान् स्वयम् अन्त में देवी पार्वती से कहते हैं कि—

> **इत्येतत् कथितं देवि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।**
> **नातः परतरं ज्ञानं शिवाद्यवनिगोचरे ।**
> **य एवं तत्त्वतो वेद स शिवो नात्र संशयः ॥**

अर्थात् इस शास्त्र से बढ़कर ज्ञानप्रद इस विश्वात्मक विस्तार में कोई शास्त्र नहीं है। इसी शास्त्र का अभ्यास कर मुनियों ने परासिद्धि प्राप्त की थी। श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ठीक ही कहते हैं—

> **न तदस्तीह यन्न श्रीमालिनीविजयोत्तरे ।**
> **देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिङ्गतः ॥**
>
> **दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।**
> **तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्[1] ॥**

महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य की यह उक्ति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र के महत्त्व का ही प्रतिपादन करती है।

1. श्रीतन्त्रालोक—१।१७-१८।

मालिनी महेश्वर की मनोज्ञा महाशक्ति है। यद्यपि यह पूर्णाहन्ताविमर्शमयी अभेद सद्भाव भव्यता से भरी हुई है, फिर भी इसमें देशकालाकार सक्रियता की सिद्धि भेदवादिता के रूप में भी प्रतिबिम्बित है।

महामाहेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति ही देवीयामल में कालकर्षिणी रूप से विमृष्ट है। वही परमहंसों की शिशुता को सहलाने वाली अनुग्राहिका महाशक्ति है। श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र में वही मातृसद्भावमयी महाशक्ति के रूप में प्रतिपादित है।

हिमानी अपने अमृतद्रव रूप में परिवर्त्तित होने के लिये प्रकृति की स्वात्मानुशासित सक्रियता की प्रतीक्षा करती है। विश्वात्मक प्रकाश की तेजस्विता रश्मिरथी के अनुग्रह की ग्राहिका बनकर विश्वप्राण को अनुप्राणित करने के उद्देश्य से विकीर्ण हो जाने को आकुल रहती है।

ऐसे अवसर की अपेक्षा स्वयं महाकाल को भी रहती है। कुछ ऐसे क्षण काल की उस कला का साक्षात्कार करने के लिये व्याकुल रहते हैं, जब प्रतिभा का पीयूष विश्व पर ज्ञानविज्ञान की पीयूष-वर्षा के रूप में बरसने का मन बना लेता है।

तब ब्रह्मवाद का वैलक्षण्य ऋषियों के मस्तिष्क में अभ्यावर्षण द्वारा उतर जाता है और परावाक् औपनिषदिकता का आकार ग्रहण कर लेती है। तब ऋक्, यजुष् और साम का निःस्वन आकाश में शिंजित हो जाता है। तब कैलाश के अधीश्वर महेश्वर की मूकता परा, पश्यन्ती और मध्यमा के मार्ग से वैखरी का रूप ग्रहण कर लेती है। तब शिवानी शैवसद्भाव और मातृसद्भाव के यामल मेलापक को अस्तित्व का रूप दे देती है। आद्या शक्ति सृष्टिशक्ति का आश्रय बन जाती है। तब अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'चित्' सत् बन जाता है, आनन्द की दृष्टि से चित् चेतना के स्वरस का रसास्वाद बन जाता है। स्वरूपानन्द का स्रोत उद्वेलित हो उठता है। स्वाभाविकी स्वातन्त्र्य शक्ति शिव के मुखारविन्द मकरन्द से विनिःसृत ज्ञान की मरीचियों के रूप में हिमानी पर फैल जाता है। उसे देखने वहाँ देववृन्द उपस्थित रहते हैं। मृडानी उस अमृत का पीने के लिये उद्यत रहती है और ज्ञान की गंगा का प्रवाह आगम बनकर वाङ्मय को अभिषिक्त कर जाता है। तब पराशर के माध्यम से व्यास इस धरा धाम पर अवतरित हो जाते हैं। तब गणपति मनीषियों के संविद् समुद्र को उच्छलित करने लगते हैं। ज्ञानचन्द्र की मरीचियों की अमृतधारा के महाप्रवाह में विश्व भी अभिषिक्त हो जाता है—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का यही उद्भव-क्रम है।

अन्त में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति विश्रुत मनीषी विद्वान् **प्रो० राममूर्ति शर्मा** का मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इस विश्वविद्यालय के उत्कर्ष में इनकी महती भूमिका अविस्मरणीय है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन-निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** की ज्ञानचन्द्र मरीचियाँ प्रकाशन संस्थान के माध्यम से विश्व को संस्कृत मनीषा से मनोज्ञ बना रही हैं। मैं इनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष का आशीर्वाद दे रहा हूँ।

इस अवसर पर प्रिय आगमिक-रहस्यान्वेषी आत्मीय श्री शीतला प्रसाद उपाध्याय को अनन्त आशीर्वाद दे रहा हूँ।

मुद्रक श्री गिरीश चन्द्र, व्यवस्थापक विजय प्रेस, वाराणसी को मेरे स्नेह-भरे शुभाशीर्वचन।

षट्तिला
२०५७

गुरुचरणचञ्चरीक
परमहंसमिश्र
ए ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

विषयक्रमः

प्रथमोऽधिकारः **पृष्ठाङ्काः**

चतुर्थोऽधिकारः

पञ्चमोऽधिकारः

षष्ठोऽधिकारः

सप्तमोऽधिकारः

अष्टमोऽधिकारः

नवमोऽधिकारः

दशमोऽधिकारः

एकोनविंशोऽधिकारः

विंशोऽधिकारः

एकविंशतितमोऽधिकारः

द्वाविंशतितमोऽधिकारः

त्रयोविंशतितमोऽधिकारः

स्वात्मनिवेदनम्

नैष्कल्यं परमाद्भुतं सुविपुलं दिव्यं प्रकाशात्परं,
तादात्म्येऽन्वभवं भवं स्वविभवं स्वात्मन्यहोऽवस्थितः ।
तच्छक्त्या स्फुरिता सदैव सुखदा वैश्वात्म्यविद्योतिता,
विद्या वन्द्यपदारविन्दयुगला सा मालिनी मोदताम् ॥ १ ॥

या सा शम्भुमुखेन्दु-सारसुधया विभ्राजिता विश्रुता,
विज्ञानात्मकभिन्नयोनिमहिता मां मालिनीमातृका ।
नीर-क्षीर-विवेक भाष्यरचनां रोचिष्णुतारोचिताम्,
भाषायां सुविधित्सया श्रुतिधरं पुत्रं कृतार्थं व्यधात् ॥ २ ॥

सोहं संविदधामि तस्य कृपया भाष्यं स्वभाषामयं,
तन्त्राणां चितिचारुतार्चितचिदानन्दप्रदानां मुदा ।
तस्मिन्नेव शुभक्रमकलाकल्पे प्रकल्पे स्वयम्
मालिन्याः विजयोत्तरस्य विहितं भाष्यं प्रियं प्रस्तुतम् ॥ ३ ॥

पुत्रोहं 'फ' उदार मिश्रतनयः सोहं शिवोपासकः,
माता मे परमाम्बिका सहृदया काली परापूर्विका ।
पत्नी सूर्यमणिः सदाशयतया मां सेवते स्नेहतः,
आस्ते हृद्यतया हृदि सदा दीक्षागुरुः लक्ष्मणः ॥ ४ ॥

राजानकं परं देवं
सद्गुरुं लक्ष्मणाभिधम् ।
स्मरामि कृपया यस्य
चित्ते मे स्फुरिता चितिः ॥ ५ ॥

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ. परमहंसमिश्रविरचितनीरक्षीरविवेकभाष्यसंवलितम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

अथ प्रथमोऽधिकारः

जयन्ति जगदानन्दविपक्षक्षपणक्षमाः ।
परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचयः ॥ १ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक-भाष्यसमन्वितम्

प्रथमोऽधिकारः

[१]

'जयन्ति' क्रिया ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्वजयनशीलता के माङ्गलिक महाभाव का उद्भावन कर रही है। जीवन में 'जय' की प्रक्रिया का अन्यतम महत्त्व है। महादेव विश्व के आराध्य हैं। उनमें भी 'दिव्' धातुगत विजिगीषा को सर्वातिशायिनी सक्रियता विद्यमान है। जीवन में 'जय' का वरदान जगदानन्द को उपलब्ध करा देता है।

'जगदानन्द' एक पारिभाषिक शब्द है। प्राण का व्यापार 'उच्चार' कहलाता है। उच्चार सर्वप्रथम हृदय के शून्य में विश्रान्त रहता है। इसके इस अवस्थान के सन्दर्भ में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के उदय का अनुसन्धान साधक करता है। शून्य से लेकर व्यान पर्यन्त जितनी विश्रान्तियाँ होती हैं, वे आनन्द की भूमियाँ मानी जाती हैं। ये छः होती हैं। इन्हें १. निजानन्द, २. निरानन्द, ३. परानन्द, ४. ब्रह्मानन्द, ५. महानन्द और ६. चिदानन्द की भूमियाँ कहते हैं। विश्रान्तियों में उल्लसित इन आनन्दों की भी पृथक्-पृथक् परिभाषायें हैं।

इन आनन्द भूमियों का अनुसन्धान साधना का विषय है। साधक को इस तथ्य का अनुभव हो जाता है कि, इनका एक आन्तर-विश्रान्ति-परमार्थरूप उदयास्तमयरहित परम अनुसन्धाता भी है। उसे ही शास्त्र 'जगदानन्द' कहते हैं[१]। श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य के परमगुरु शम्भुस्वरूप श्रीशम्भुनाथ ने इस रहस्य का उद्घाटन किया था[२]।

जगदानन्द का विपक्ष—

यह एक आश्चर्य जैसा ही लग रहा है कि, जो समस्त आनन्द भूमियों का अन्तर्विश्रान्तिपरमार्थरूप अनुसन्धाता है, जो उदयास्त मयरहित शाश्वत वेद्यता-विधायक है, उसका भी विपक्ष, शास्त्र से समर्थित है। उदयास्तमय समन्वित सूर्य का विपक्ष तो प्रकल्पित है। पर उदयास्तमय रहित जगदानन्द के विपक्ष के सम्बन्ध में स्वयं श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

"श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में अधिकार संख्या १ से लेकर अधिकार १७ पर्यन्त जितना कहा गया है, वह उन साधकों के हित के उद्देश्य से कहा गया है, जो अनुत्तर शिव पद की प्राप्ति के लिये साधनारत हैं। उन्हें यहाँ यही बताने का प्रयत्न किया गया है कि, यह सारा भेदप्राण प्रपञ्च जगदानन्द का विपक्ष है।"[३]

वास्तविकता यह है कि, संवित्स्वातन्त्र्य के फलस्वरूप ही प्राणियों में फलभोग की आकांक्षा उत्पन्न होती है। इसलिये अनुत्तर शिवपद को तादात्म्यसिद्धि की साधना में रत साधक को धरा से लेकर शिवपर्यन्त सारे भेदप्राण-प्रपञ्च का ज्ञान भी आवश्यक होता है। तभी हेयोपादेय विज्ञान के माध्यम से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो पाती है।

शैवतादात्म्य सिद्धि के लिये इस प्रपञ्च रूप विपक्ष का क्षय अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है। विना भेद-प्राणता-प्रधान प्रपञ्च के संहार के जगदानन्द का शाश्वतिक आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता। इसके विनाश में सक्षम तत्त्व एकमात्र ज्ञान ही माना जाता है। ज्ञान प्रकाश रूप होता है।

शास्त्र के अनुसार भेदमयता अज्ञान है। अज्ञान अन्धकार है। अन्धकार का विनाश विना प्रकाश रश्मियों के नहीं हो सकता। उन रश्मियों का परिचय स्वयं भगवान् शिव के मुखारबिन्द से निःसृत ज्ञानचन्द्र की मरीचियों के रूप में ज्ञानियों

१. श्रीत० आ० ५।४४-५१ ;
२. श्रीत० आ० ५।५२;
३. मालिनीविजयवार्त्तिकम् १।३५।

जगदर्णवमग्नानां तारकं तारकान्तकम् ।
सनत्कुमारसनकसनातनसनन्दनाः ॥ २ ॥
नारदागस्त्यसंवर्तवशिष्ठाद्या महर्षयः ।
जिज्ञासवः परं तत्त्वं शिवशक्त्युन्मुखीकृताः ॥ ३ ॥

को प्राप्त है। उन्हीं मङ्गलमरीचियों का मङ्गल महोत्सव उनकी जय-जयकार से सम्पन्न हो रहा है।

चन्द्र सोमतत्त्व का प्रतीक है। चन्द्र की मरीचियाँ जब प्राण सूर्यप्रभा में भासमान 'शुचि' नामक वह्निशिखा के सम्पर्क में आती हैं, उसी क्षण निष्पन्न अमृत द्रव से साधक का अभिषेक हो जाता है। यही अवस्था विपक्ष-क्षपण-क्षम अवस्था होती है। वे मङ्गलमरीचियाँ जयनशील हों, जिनसे इस अनुत्तर तत्त्व का प्रस्रवण हो सके। इसी माङ्गलिक सद्भाव भव्यता में मालिनी का अवतरण विश्व के आवरण का निराकरण करे, यही प्रार्थना है ॥ १ ॥

ग्रन्थ के ग्रथन का सन्दर्भ एक अध्यात्म-गर्भ ऐतिहासिक आख्यान से सम्बद्ध है। मन्त्रों के दर्शन करने वाले अनुत्तर तत्त्व के आमर्शक 'ऋषि' कहलाते थे। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि 'तदेनान् तपस्यमानान् स्वयं ब्रह्म अभ्यानर्षत्। तद् एतेषाम् ऋषित्वं सिद्धम्'। ऋषित्व की सिद्धि हो जाने पर ये मन्त्रों का साक्षात्कार कर सकते थे। इनमें भी 'म' रूप शिव और 'ह' रूप प्राण तत्त्व के विमर्शक महर्षि कहलाते थे। जिस आदिम सर्ग के समय इस आकर ग्रन्थ रत्न का उद्भव अपने पूर्व रूप में था, उस समय के विश्वविश्रुत महर्षि, देवाधिदेव तारकान्तक के सान्निध्य में परमतत्त्व की जिज्ञासा के समाधान के लिये उपस्थित हुए थे। उनके नाम इस प्रकार थे—

१. सनत्कुमार, २. सनक, ३. सनातन, ४. सनन्दन, ५. नारद, ६. अगस्त्य, ७. संवर्त्त और ८. वशिष्ठ। इन आठों के अतिरिक्त उनके साथ अन्य जिज्ञासु महर्षि भी थे। आदि शब्द से उनके होने का स्वाभाविक आकलन हो जाता है। इन इन लोगों ने सम्यक् रूप से आराध्य की अभ्यर्थना की। वे यह जानते थे कि, भगवान् भूतभावन संसाररूपी समुद्र में डूब रहे सभी का उद्धार करने में समर्थ हैं।

जब तक व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान पराङ्मुख रहता है, अज्ञान के अन्धकार में निमग्न होना, उसकी नियति बन जाती है। सौभाग्यवश सत्तर्क का उदय हृदय में

समभ्यर्च्य विधानेन ते समूचुः प्रहर्षिताः ।
भगवन्योगसंसिद्धिकाङ्क्षिणो वयमागताः ॥ ४ ॥

सा च योगं विना यस्मान्न भवेत्तमतो वद ।
ऋषिभिर्योगमिच्छद्भिः स तैरेवमुदाहृतः ॥ ५ ॥

होता है और वह जिज्ञासु बनकर गुरु के शरण में प्रस्थान करता है। यह उसकी शिवशक्ति सामरस्यानुभूति की ओर उन्मुखता मानी जाती है। इसी उन्मुखता के फलस्वरूप प्रत्यभिज्ञान का प्रकाश उसे उपलब्ध हो जाता है।

उक्त ऋषि समुदाय भी इसी श्रेणी का प्रातिनिध्य करता था। उन्मुखीकृत था। शिवशक्ति समाराधन में तत्पर था। 'कृत' का 'क्त' प्रत्यय यह उद्घोषणा कर रहा है कि, उन पर शिवशक्ति की कृपा थी। उसी से वे प्रेरित थे। यही कारण था कि, वे सभी 'सर्वज्ञ' की शरण में उपस्थित थे। उनके हर्ष की सीमा नहीं थी। वे अत्यन्त प्रहर्षित थे। जिसके दर्शन के लिये तपी तपस्या करते हैं, उनका स्वयं साक्षात्कार कर रहे थे ॥ २-३ ॥

विधि पूर्वक पूजा करने के उपरान्त उन्होंने स्वयं निवेदन किया—

भगवन्! हम सभी योग मार्ग के पथिक हैं। यात्रा का उद्देश्य परम गन्तव्य की अधिगति है। हमें यह निवेदन करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि, हम सम्यक् प्रकार को योग सिद्धि से अभी तक वञ्चित हैं। उसी की आकांक्षा से हम यहाँ आये हैं। हम यह अनुभव करते हैं कि, जब तक योग को प्रक्रिया में सातत्यमयी सक्रियता का व्यवधान रहता है, योग नहीं हो पाता। इसके विना सम्यक् सिद्धि असंभव है। अतः भगवन्! आप शरणागत वत्सल हैं। हमें आप वह 'योग' बतायें, जिससे सम्यक् रूप से शैव महाभाव सद्भाव संभूति सामरस्यमयी योग की सिद्धि हो सके। योग संसिद्धि जिस 'योग' से हो, हमें वही बताकर अनुगृहीत करें। श्लोक ५ में 'योग' शब्द 'योगविधि' और शिवशक्तितादात्म्य सिद्धि दो अर्थों में प्रयुक्त है। इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वे योग मार्ग से परिचित होकर वहाँ उपस्थित थे। वे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। उनकी यह इच्छा थी कि, भगवान् भूतभावन द्वारा हमें स्वतः वह तत्त्व उपलब्ध हो जाय। इस प्रकार श्रद्धा संपूरित विनम्र प्रार्थना से संप्रार्थित भगवान् भूतभावन रूप गौरवपूर्ण विश्वगुरु को ऋषि शिष्यों ने विश्वमयता को कृतार्थ करने का अवसर प्रदान कर दिया ॥ ४-५ ॥

प्रत्युवाच प्रहृष्टात्मा नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
शृणुध्वं संप्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिफलप्रदम् ॥ ६ ॥
मालिनीविजयं तन्त्रं परमेशमुखोद्गतम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारमुमेशममरार्चितम् ॥ ७ ॥
स्वस्थानस्थमुमा देवी प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।
सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रं [1]नवकोटिप्रविस्तरम् ॥ ८ ॥

प्रहृष्टात्मा तारकान्तक शिव ने महादेव महेश्वर[2] को मन ही मन नमन किया और ऋषियों के प्रत्युत्तर में उन्होंने कहना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा— ऋषियों, आप ध्यानपूर्वक मेरी बातों का श्रवण करें। मैं आप के समक्ष उस तत्त्व का उद्घाटन करने जा रहा हूँ, जिसे स्वयं महेश्वर के मुखारविन्द से मकरन्द रस के समान पान करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। यह समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला आपानक रस है। इस परावाक् की आकार ग्रहण करने वाली अमृतमयी शब्द राशि का नाम मालिनीविजय[3] है। यह विश्वतारक मन्त्र है। साधना के लिए इसका अन्यतम महत्त्व है।

ऋषिप्रवर्ग और तारकान्तक प्रयुक्त इस कथोपकथन के साथ एक अवान्तर कथानक का सन्दर्भ भी यहाँ प्रस्तुत है। तारकान्तक ने कहा—ऋषिगों! मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वह मेरा स्वोपज्ञ कथन नहीं है। यह परमेश्वर के मुखारविन्द से विनिःसृत शास्त्र है। उस प्रसङ्ग को भी मैं आप लोगों के समक्ष स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

ऋषियों! एक बड़ा ही सुन्दर स्वर्ण अवसर था, जब भगवान् परमेश्वर अपने ही स्थान पर अवस्थित थे। कैलाश शिखरासीन महेश्वर को एकान्त में इस प्रकार स्वात्म सद्भाव भूषित अवस्था में देख देवतावृन्द भी वहाँ आ पहुँचा। उन्होंने उनकी पूजा अर्चना की। स्वयम् एक ओर विनत और सश्रद्ध आसीन हो गये। मुमुक्षुओं को मोक्ष और भोगेच्छुओं को भोग प्रदान करने का अनुग्रह करने वाले वे उमेश अत्यन्त प्रसन्न थे। इस अवसर का लाभ उठाते हुए भगवती उमा ने विशेष रूप से पति के चरणों में अपनी प्रणिपात-प्रथा का अर्पण किया और बिना कुछ अन्तराल दिये उन्होंने अपने हृदय के उद्गार अभिव्यक्त करने प्रारम्भ किये॥ ६-८ ॥

---

१. सं० शतकोटिप्रविस्तरमिति पाठः ;
२. श्रीत० ३।१९६ ; ३. श्रीत० ३।१९९

यत्त्वया कथितं पूर्वं भेदत्रयविसर्पितम् ।
मालिनीविजये तन्त्रे कोटित्रितयलक्षिते ॥ ९ ॥
योगमार्गस्त्वया प्रोक्तः सुविस्तीर्णो महेश्वर ।
भूयस्तस्योपसंहारः प्रोक्तो द्वादशभिस्तथा[1] ॥ १० ॥
सहस्रैः सोऽपि विस्तीर्णो गृह्यते नाल्पबुद्धिभिः ।
अतस्तमुपसंहृत्य समासादल्पधीहितम् ॥ ११ ॥
सर्वसिद्धिकरं ब्रूहि प्रसादात्परमेश्वर ।
एवमुक्तस्तदा[2] देव्या प्रहस्योवाच विश्वराट् ॥ १२ ॥
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ॥ १३ ॥

उन्होंने कहा—प्राणेश्वर परमेश्वर ! आप बड़े ही कृपालु हैं। आपने कृपा कर विश्ववाङ्मय को अनन्त सारस्वत चिन्तारत्नों से सदैव भरा है। नौ करोड़ मन्त्रों से समन्वित आप ने ही सिद्ध योगीश्वरी तन्त्र का कथन किया था। वह तीन भेदों से भूषित तन्त्र अपने असीम विस्तार में पूरी तरह परिपूर्ण था। आपने तीन करोड़ मन्त्रों से लक्षित मालिनीविजयतन्त्र अनुसार के योग मार्ग का सविस्तर वर्णन किया था। आपने इतने विस्तार को दृष्टिगत रखते हुए बारह सहस्रों में उसका उपसंहार भी किया था। सामान्यजनों के लिये जिनकी बुद्धि का वकास नहीं हुआ है, ऐसे लोगों के लिये ये बारह हजार श्लोक भी दुरूह थे। उन्हें पूरी तरह अवगम नहीं किया जा सकता था।

इसलिये, परमेश्वर मेरी एक विनम्र प्रार्थना है। आप कृपा कर एक बार फिर उसका उपदेश कर अनुगृहीत करें। समास पद्धति में अल्प बुद्धि के साधारण अधिकारियों की श्रेयः सिद्धि के उद्देश्य से ऐसा प्रवचन कर दें, जिससे सबके उद्देश्य को सरलतया सिद्धि हो सके। उमा के इस अनुरोध को सुनकर परमेश्वर प्रसन्न हो उठे। उनके अधरों पर स्मिति रेखा का उल्लास हो गया और विश्वाराध्य विश्वराट् ने कहा कि, हे दिव्यता की दिव्यमूर्ति उमे ! मैं तुम्हारा अनुरोध स्वीकार करता हूँ। मैं उसी सिद्धयोगीश्वरी मत का कथन करूँगा। यह सिद्ध योगेश्वरी मत ही मालिनीविजयोत्तर तन्त्र है। यह तथ्य आज तक किसी को ज्ञात नहीं था। वही मैं यहाँ कहने जा रहा हूँ ॥ ९-१३ ॥

---

१. तं० द्वादशभिस्त्वत इति पाठः ; २. तं० उक्तस्तत इति पाठः

मयाप्येतत्पुरा प्राप्तमघोरात्परमात्मनः ।
उपादेयं च हेयं च विज्ञेयं परमार्थतः ॥ १४ ॥

शिवः शक्तिः सविद्येशा मन्त्रा मन्त्रेश्वराणवः ।
उपादेयमिति प्रोक्तमेतत्षट्कं फलार्थिनाम् ॥ १५ ॥

परमेश्वर ने कहना प्रारम्भ किया—देवि उमे ! इस तत्त्व का उद्घाटन देवाधिदेव 'अघोर'[1] ने हमसे किया था। पञ्चवक्त्र परमेश्वर के प्रथम शक्तिमन्त अघोर ही है। साथ ही अघोराष्टक के प्रथम अधिपति भी यही हैं। मालिनी विजय के अनुसार ये स्वयं परमात्मा रूप में मान्य हैं। उनके अनुसार—१. उपादेय और २. हेय विज्ञान को परमार्थिक रूप से जानना साधक का सर्वोपरि कर्त्तव्य है ॥ १४ ॥

हेय और उपादेय विज्ञान का एक प्रकार से पारमार्थिक वर्गीकरण स्वयं महेश्वर कर रहे हैं। उसके अनुसार उपादेय विज्ञान का प्राधान्य स्वीकार करते हुए उसका प्रथम उल्लेख शास्त्रीय दृष्टि से आवश्यक है—

१. उपादेय तत्त्व—

परमेश्वर कहते हैं कि, देवि उमे !

१. शिव, २. शक्ति, ३-४. सविद्येश (सदाशिवः ईश्वरश्च), ५. मन्त्र, ६. मन्त्रेश्वर ।

ये छः उपादेय तत्त्व हैं। उपादेय तत्त्व परमार्थतः विज्ञेय हैं। इन पर क्रमशः विचार करना परमावश्यक है ॥ १४ ॥

१. शिव—परमार्थ वस्तुतः परम तत्त्व ही होता है। वही परम तत्त्व शिव है। इसे महेश्वर, परमेश्वर या परम शिव भी कहते है। परम शिव प्रकाश रूप होता है किन्तु प्रकाश मात्र नहीं होता। जो प्रकाश प्रकाशमात्र होता है, वह जड़ होता है। जैसे सूरज, चाँद, विद्युत् तारक और खद्योत के प्रकाश। ये स्वयं अपनी प्रकाशता से अपरिचित हैं। प्रकाश रूप शिव वह परम प्रकाश है, जिसमें 'विमर्श' भी होता है। उसमें अकृत्रिम 'अह' का विस्फुरण होता रहा है। इस विस्फुरण को विमर्श, स्फुरता, महासत्ता, स्पन्द और परमेश्वर का हृदय' कहते हैं। कहते हैं कि, प्रकाश निर्विमर्श नहीं हो सकता। इशलिये उस विश्व प्रकाशक, ३६ तत्त्वात्मक शक्तिमान् को ही शिव मानते हैं। यह उपादेय वर्ग का सर्वप्रधान तत्त्व है।

---

१. श्रीत० ३०।२४ ।

२. शक्ति—यह परमेश्वर की हृदय है। यह शिव से भिन्न नहीं है किन्तु यह इदं से रहित 'अहं' रूप में भासमान शिव में अहं के साथ इदं को भी स्पन्दित करती है।

इदन्ता का स्पन्दन सर्जन नहीं, अपितु अस्फुट सृजन का आभिमुख्य मात्र होता है। चित् या परासंवित् दशा में 'अहम्' और 'इदम्' अभिन्न होते हैं। शून्यातिशून्य दशा में शक्ति इदन्ता का निषेध कर अहंता में ही विश्रान्त रहती है। वह परम शिव भी अनाश्रित शिव दशा होती है। जब वही शिव स्वात्म में अभिन्न रूप से अवस्थित विश्व का इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप चित् के उच्छलन से आनन्द की ओर उन्मुख होता है, उस समय उसकी शक्तिमान् की ओर स्वातन्त्र्यमयी उन्मुखता होती है। यही शक्ति है। यह परमेश्वर से नित्य अविच्छिन्न तत्त्व शक्ति संज्ञा से विभूषित होती है।

सविद्येश—(मन्त्र, मन्त्रेश्वर और अणु)।

महामाहेश्वर रामेश्वर झा ने विद्येश्वरों को माया-मलान्वित माना है। साथ ही इन्हें सर्वज्ञ भी लिखा है। श्री झा जी के अनुसार एकमात्र माया मल से अन्वित विद्येश्वर हैं। श्री महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी की कारिका संख्या १० के स्वोपज्ञ भाष्य में यह स्पष्ट लिखा है कि 'एक मलाः विज्ञानाकलाः' किन्तु आगे विद्येश्वरों के सम्बन्ध में भी यह व्यक्त किया है कि, 'मायीयमात्रानुबन्धादेकमलत्वमेव'। इस तरह विद्येश्वर और विज्ञानाकल दो ऐसे प्रमाता हैं, जो मात्र मायीय मल से अन्वित होते हैं। किन्तु इन्हें 'तत्त्वों' की श्रेणी में परिगणित नहीं करते। श्रीमहामाहेश्वर अभिनवगुप्त इन्हें ध्वस्त कञ्चुक मानते हैं।[1]

तत्त्व रूप में शिव और शक्ति के बाद सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या ही मान्य हैं। सदाशिव तत्त्व के प्रमाता को मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर तत्त्व के प्रमाता को मन्त्रेश या विद्येश्वर भी मानते हैं। जिस अवस्था में मलों के क्षीणतार्थ-औन्मुख्य की अवस्था होती है, वही अवस्था मन्त्रप्रमाता की होती है। ये सभी परिमित श्रेणी के ऊपर के प्रमाता अर्थात् अपरिमित तत्त्वों के अन्तर्गत माने जाते हैं।

प्रस्तुत मालिनीविजय में मन्त्रमहेश्वर की गणना नहीं की गयी है। उसका कारण यह है कि, मन्त्रमहेश्वर क्षीयमाण मलत्व की अवस्था है। वहाँ उपादेय भाव का ही अभाव है। इसी तरह उपादेयों में अणुओं की गणना भी यहाँ महेश्वर ने की है। यह एक विचारणीय बात है। अणु सकल पुरुष माने जाते हैं। अणुत्व दशा में ही साधना द्वारा मलत्रय दाह का अन्तर्विमर्श सम्भव होता है। इसलिये

१. श्रीत० १०।१००

मलः कर्म च माया च मायीयमखिलं जगत् ।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं विज्ञेयं वस्तु निश्चितम् ॥ १६ ॥

इनकी उपादेयता है। वस्तुतः संकुचित शिव रूप अणु को भगवान् अघोर ने उपादेय घोषित किया है। इस प्रकार १. शिव, २. शक्ति, ३. विद्येश्वर, ४. मन्त्रेश्वर, ५. मन्त्र और ६. अणु इनका एक समुदाय, जिसे शास्त्रकार ने 'षट्' कहा है। यह उपादेय रूप में परिगणित है ॥ १५ ॥

हेय विज्ञान—

हेय रूप में भगवान् महेश्वर ने जिनकी गणना की है, वे इस प्रकार हैं—

१. मल, २. कर्म और ३. माया तथा ४. मायीय यह प्रपञ्च, जिसे 'जगत्' की संज्ञा से विभूषित किया गया है, ये सभी हेय हैं, यह हेय चतुष्क निश्चित रूप से विज्ञेय हैं। इनकी जानकारी के अभाव में साधना बाधित हो जाती है।

१. **मल**—'मलमज्ञानमिच्छन्ति' यह महामाहेश्वर अभिनवगुप्त पाद का मन्तव्य है। स्वयम् इस शास्त्र के इसी अधिकार का तेईसवाँ श्लोक इस अभिनव मन्तव्य का मूल मन्त्र हैं। महार्थ मञ्जरीकार ने कारिका संख्या १० के स्वोपज्ञ भाष्य में इसी श्लोक को उद्धृत किया है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के सूत्र सात में शिव भट्टारक का वर्णन करते हुए उसे 'त्रिमय' कहा है। शिव का आणव, कार्म और मायीय मलावृतत्व ही मल द्वारा त्रिवृतत्व और त्रिमयत्व है।

२. **कर्म**—कर्म के सम्बन्ध में इसी अधिकार के श्लोक २४ में कहा गया है कि, 'धर्माधर्मात्मकं कर्मं, सुखदुःखादिलक्षणम्, अर्थात् धर्म और अधर्ममय कर्म होते हैं। सुख और दुःख ही इनके लक्षण हैं। व्यक्ति कर्म करता है। धर्म और अधर्म का आचरण करता है। उससे उसे सुख या दुःख की प्राप्ति होती है। भोग की आकांक्षा भी उसमें उत्पन्न होती है। यह सब ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर है।

३. **माया**—भोगेच्छुओं के भोग साधन की संसिद्धि के लिये मन्त्रराट् स्वयं माया में प्रवेश कर 'जगत्' को उत्पन्न करते हैं। यह एक है, व्यापक तत्त्व है। निष्कला, अनाद्यनन्ता, शिवेशानी, व्ययहीना के रूप में शास्त्रों में मान्य है। यही कला तत्त्व को उत्पन्न करती है।

४. मायीय जगत्—

इसी अधिकार के श्लोक २५ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, मन्त्रराट् ने जगत् को माया में प्रवेश कर उत्पन्न किया था। अतः सम्पूर्ण जगत् मायीय माना जाता

एतज्ज्ञात्वा परित्यज्य सर्वसिद्धिफलं लभेत् ।
तत्रेशः सर्वकृच्छान्तः सर्वज्ञः सर्वकृत्प्रभुः ॥ १७ ॥
सकलो निष्कलोऽनन्तः शक्तिरप्यस्य तद्विधा ।
स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ॥ १८ ॥

है। इस तरह १. मल, २. कर्म, ३. माया और ४. मायीय जगत् ये सारे हेय श्रेणी में आते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, प्रत्येक साधक के लिये हेयोपादेय वस्तु अवश्य रूप से विज्ञेय हैं। यही हेयोपादेय विज्ञान है। मालिनीविजयोत्तर तन्त्र का यह मुख्य निर्देश है कि इस शास्त्र के अध्येता को हेयोपादेय विज्ञान का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिये ॥ १६ ॥

इस विज्ञान से अच्छी तरह परिचय हो जाने पर सर्वप्रथम साधक यह निश्चित रूप से निर्णीत कर पाता है कि, क्या परित्याग योग्य है। परित्याज्य का परित्याग कर भोग और मोक्ष रूप समस्त सिद्धियाँ उनके लिये हस्तामलकवत् हो जाती हैं। साधक सबका यथेच्छ फल भी प्राप्त कर पाता है।

साधक शिष्य को विज्ञान की गहराइयों की ओर ले चलते हुए भगवान् तारकान्तक ऋषियों को इस तन्त्र की वैज्ञानिकता का सार तत्त्व निर्दिष्ट कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि, ईशान शिव १. सर्वकृत अर्थात् सर्वकर्त्तृत्व सम्पन्न हैं। २. वे शान्त और ३. अनन्त हैं। ४. वे सर्वज्ञ हैं और ५. प्रभु अर्थात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ हैं। उन्हें कलाओं से समन्वित होने की स्थिति में ६. सकल और कलारहित अवस्था में ७. निष्कल कहते हैं। कहीं किसी प्रकार से अन्त न होने पर उन्हें ८. अनन्त कहते हैं। संक्षेप में शक्ति का परिचय देते हुए परमेश्वर स्पष्ट कर रहे हैं कि, यह परमेश्वर ईश की विधा है। विधा शब्द निर्मिति, रीति, प्रकार और विमर्शमयी स्फुरत्ता अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी के साथ 'तृच्' प्रत्यय लगा देने पर विधाता शब्द निष्पन्न होता है। वस्तुतः विधाता की ही विधा होती है। इसलिये शक्ति को ईश की विमर्शमयी स्फुरत्ता के अर्थ में यह 'विधा' की विशेष संज्ञा प्रदान की गयी है।

सृष्टि की आदि कारण ईश की 'इच्छा' शक्ति ही है। अपनी इच्छा से ही सृष्टि के आदि में कुछ सिसृक्षा के कारण वे सिसृक्षु बनकर यह सोचने लगे कि, क्या किया जाय ? तुरत शक्ति का स्फुरण हुआ कि, कुछ ऐसी वस्तु हो, जो स्फुरणशीलता के शाश्वत धर्म से संयुक्त हो, निरन्तर गतिशील हो, 'निरन्तरं गच्छति' इस अन्वर्थ में 'जगत्' हो। अतः यही अन्तर्विमर्श स्फुरित हुआ।

विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ।
अघोरः परमो घोरो घोररूपस्तदाननः ॥ १९ ॥
भीमश्च भीषणश्चैव वमनः पिवनस्तथा ।
एतानष्टौ स्थितिध्वंसरक्षानुग्रहकारिणः ॥ २० ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरेशत्वे[1] संनियोज्य ततः पुनः ।
मन्त्राणामसृजत्तद्वत्सप्त कोटीः समण्डलाः ॥ २१ ॥
सर्वेऽप्येते महात्मानो मन्त्राः सर्वफलप्रदाः ।
आत्मा चतुर्विधो ज्ञेयस्तत्र विज्ञानकेवलः ॥ २२ ॥

इसके लिये परमात्मा ने विज्ञानकेवल रूप ८ पुद्गल वर्ग को प्रेरित किया। यहाँ 'बोधयामास' क्रिया प्रेरित करने अर्थ में ही प्रयुक्त है। 'पुद्गल' शब्द पशु अणु और अबोध अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ विज्ञानाकल के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। वस्तुतः जिन्हें हम पुद्गल पशु और अणु या जड कहा करते हैं, इनमें जो अजडभागांश रूप 'चित्' तत्त्व है, वह शाश्वत अनावृत रहता है। विज्ञानाकल के उस अंश में जो अनावृत भागांश है, वह विज्ञानमय होता है[2]। केवल एकमल समन्वित होने के कारण ही विज्ञानाकल को पुद्गल कहा गया है।

इन विज्ञानाकलों के नाम इस प्रकार हैं—१. अघोर, २. परमघोर, ३. घोर रूप, ४. घोरमुख, ५. भीम, ६. भीषण, ७. वमन और ८. पिवन।

ये आठों सृष्टि, स्थिति और संहार रूप अनुग्रह करने के अधिकारी माने जाते हैं ॥ १७-२० ॥

इन्हें मन्त्र और मन्त्रेश्वर पदों पर भगवान् ने नियुक्त कर दिया। तत्पश्चात् सात करोड़ मन्त्रों और मण्डलों की रचना की ॥ २१ ॥

मन्त्रों की शक्ति का पूर्ण सञ्चार उन्होंने स्वयं इन मन्त्रों में कर दिया। इन्हें महान् आत्मभाव प्रदान किया। ये मन्त्र सभी प्रकार के फल प्रदान करने में समर्थ हैं। स्वयं परमेश्वर का आत्मभाव चार प्रकार का माना जाता है[3]। इस सन्दर्भ में 'विज्ञानकेवल' की चर्चा पहले की गयी है ॥ २२ ॥

---

१. प० त्री० मन्त्रमहेश्वरेशत्वे इति पाठः ;
२. श्रीत० १।१३७ ; ३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ७

मलैकयुक्तस्तत्कर्मयुक्तः प्रलयकेवलः ।
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ॥ २३ ॥

धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम् ।
ईश्वरेच्छावशादस्य[1] भोगेच्छा संप्रजायते ॥ २४ ॥

भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥ २५ ॥

विज्ञानकेवल मात्र मायीय मल से युक्त होता है। प्रलयकेवल मायीय और कार्म दो मलों से युक्त होते हैं। मल की परिभाषा बतलाते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, 'अज्ञान' को ही मल कहने की प्रथा है। सभी इसो परिभाषा को चाहते हैं अर्थात् इसका समर्थन करते हैं। यह संसाररूपी अङ्कुर का कारण माना जाता है। वास्तव में अङ्कुर बीज से निकलता है और वह वृक्ष बन जाता है। इस तरह स्वात्म विस्मरण रूप अज्ञान ही जिसे शास्त्र 'मल' कहते हैं, यही जगत् का बीज है। इसी से संसरण का अङ्कुर उत्पन्न होता है और यही प्रपञ्च विस्तारयुक्त होकर वृक्ष हो जाता है ॥ २२-२३ ॥

कर्म धर्म और अधर्म रूप होता है। इससे सुख और दुःख का अनुभव प्राप्त होता है। यही धर्म और अधर्म के लक्षण हैं। भोगेच्छु में भोग को इच्छा ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर है। इच्छा ईश्वर की ही शक्ति है। जीव भाव में भी इसका आसूत्रण ईश्वर से रहता है। अतः किसी इच्छा के उत्पन्न होते ही ईश्वर का स्मरण कर उसी पर इच्छा पूर्त्ति का भार दे देना चाहिये। स्वयम् को इसका अधिकारी नहीं मानना चाहिये ॥ २४ ॥

शक्तियों द्वारा माया में प्रवेशकर जगत् की संरचना का एक और भी सदुद्देश्य है। भोग की इच्छा, भोग का सुख और भोग साधनों की संसिद्धि ये सभी जागतिक आनन्दवाद के चमत्कार हैं। भोगी में भोग की प्रबल इच्छा में, भोग के सुख में और उसकी सिद्धि के अन्तराल में ईश्वर की इच्छा ही प्रेरिका शक्ति के रूप में विद्यमान है। इस ईश्वर की इच्छा का अनुसन्धान करना आवश्यक है। जगत् को उत्पन्न करने में भोगपूर्त्ति के आनन्दवाद में उलझना नहीं चाहिये, वरन् मन्त्रराट् के कर्त्तृत्व का उसी के स्तर पर ध्यान करना चाहिये ॥ २५ ॥

[1]. क० पु० वशात्तस्येति पाठः

सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला[1] जगतो निधिः ।
अनाद्यन्ता शिवेशानो व्ययहीना च कथ्यते ॥ २६ ॥

असूत सा कलातत्त्वं यद्योगादभवत्पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो विद्यारागौ ततोऽसृजत् ॥ २७ ॥

विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे ।
रागोऽपि[2] रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ॥ २८ ॥

वह माया जिसमें शक्तियों द्वारा प्रवेश कर अनन्त रूप मन्त्रमहेश्वर जगत् को उत्पन्न करते हैं, वह माया 'एक' ही शक्ति है । सर्वव्यापक तत्त्व हैं। इसके मूल रूप में कला नहीं रहती । अत एव यह निष्कला है । यह संसार की निधि है। न इसका अन्त है और न आदि ही हैं। इसे शिवा और ईशानो शक्ति भी कहते हैं। यह अव्यय तत्त्व है । कभी क्षीण नहीं होती ॥ २६ ॥

[3]माया ने ही कला[4] तत्त्व को उत्पन्न किया । कला के योग से पुरुष सकल हो गया । अर्थात् पुरुष तत्त्व को उत्पत्ति होती है। पुरुष में कर्मरूप जातकर्तृत्व-सामर्थ्य भगवान् के वरदान रूप में प्राप्त हुआ है । जातकर्तृत्व का अर्थ किंचित्कर्तृत्व है। इसके बाद विद्या और राग उत्पन्न हुए। इस प्रकार माया से कला और कला से विद्या और राग को माया ने उत्पन्न होने के लिये प्रेरित किया ॥ २७ ॥

विद्या के कार्य—

पुरुष कार्य करता है । विद्या इसका विवेचन करती है। कर्म क्रिया रूप होता है। क्रिया से कार्य उत्पन्न होता है । कार्य के अवश्यंभावी कारण भी होते हैं।

इस कार्य कारण भाव का विवेचन विद्या पर ही निर्भर है। माया का तीसरा पुत्र 'राग'[5] है। यह अशुचि रूप अशुद्ध भोगों में भी अणु को अनुरंजित करता है। राग का कार्य ही रंजन करना है। पूर्णता में नित्यतृप्त भगवान् को भोग की रंजकता से प्रभावित कर रागशक्ति विशिष्ट आसक्ति का आवरण भी डालता है।

---

१. क० पु० निष्कलस्य स्वभावजेति ; ख० पु० निष्कलस्य शिवात्मन इति पाठः ; "निष्कला" इत्यारभ्य 'कथ्यते' इत्यन्तःपाठ घसंज्ञपुस्तकात्पूरितः ;

२. क० मु० रागोऽनुरञ्जयतीति पाठः ;

३. श्रात० ९।१७१ ; ४. तदेव ९।१७४ ; ५. श्रोत० ९।२०० ;

नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।
कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः ॥ २९ ॥

तत एव [1]कलातत्त्वादव्यक्तमसृजत्ततः ।
गुणानष्टगुणां तेभ्यो धियं [2]धीतोऽप्यहङ्कृतम् ॥ ३० ॥

तत्त्रिधा तैजसात्तस्मात्मनोऽक्षेशमजायत ।
वैकारिकात्ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात् ॥ ३१ ॥

वस्तुओं के ग्रहण, प्रापण, संरक्षण, समुपभोग की आंशिक तृप्ति को हो सब कुछ मानकर रागरक्त हो जाता है ॥ २८ ॥

'नियति' माया की चौथी सन्तति है। माया की पुत्री माया के गुणों का भरपूर प्रयोग करने में समर्थ है। यह विशिष्ट कार्य मण्डलों में योजित करने में पूरी तरह दक्ष है। किंचित्कर्तृत्व और अल्पज्ञान को अपने ऊपर आरोपित कर रागरक्त शिव को भाव, अभाव में अवभासित कार्यों में नियोजित करने का ही यह फल है कि, यह स्वात्म स्वरूप का संस्मरण कभी कर ही न सके।

और काल की तो बात ही मत पूछिये। माया की अन्तिम किन्तु नित्यत्व के संकोच का उत्तरदायित्व ग्रहण करने वाला कञ्चुक अकाल पुरुष को भी काल-कवलित कराने में समर्थ है। कलनात्मक तुटि, लव, निमेषादि त्रैकालिक काल प्रवाह की क्रमिकता के अनुभव से अभिभूत शिव को काल से कीलित कर आनन्द-नर्त्तन करता है ॥ २९ ॥

इस तरह माया ने कला, विद्या, राग, नियति और काल रूप कञ्चुकों के कलुषकलङ्क पङ्क से इस विश्व प्रपञ्च को अंचित कर ही विश्राम नहीं लिया वरन् उसने कलातत्त्व से 'अव्यक्त' को उत्पन्न कर डाला। अव्यक्त से सत्त्व, रज और तम को उत्पत्ति हुई। ये तीनों गुण कहलाते हैं। गुणों से आठ गुनी प्रबल बुद्धि का सृजन किया। पाँच कञ्चुक और त्रिगुण के अष्टकोदित गुण धर्म का विवेचन करने वाली बुद्धि अष्टगुणा है, यह उसकी क्रमिकता से सिद्ध है। बुद्धि से अहङ्कार को उत्पन्न किया ॥ ३० ॥

अहङ्कार तीन प्रकार का होता है। १. तैजस, २, वैकारिक और ३. तामस[3]। तैजस अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ। तैजस अहङ्कार में ज्ञान शक्ति, वैकारिक में

---

१. क० ख० तत्वमव्यक्तमिति पाठः ; २. क० ख० ग० पु० अहंकृतिमिति पाठः ;
३. श्रीमद्भागवतमहापुराण, २।५।२४

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं बुद्धीन्द्रियाणि तु ।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपायूपस्थाङ्घ्रयः क्रमात् ।। ३२ ।।

कलादिक्षितिपर्यन्तमेतत्संसारमण्डलम् ।
समुद्रादि[1] जगत्कृत्स्नं परिवर्तयतीच्छया ।। ३३ ।।

क्रियाशक्ति और तामस में द्रव्यशक्ति का समावेश है। तैजस अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ। यह अक्षेश माना जाता है। अक्ष इन्द्रियों को कहते हैं। यह इन्द्रियों का स्वामी है। इससे युक्त रहने पर ही इन्द्रियाँ अपना काम कर पाती हैं। मातृकाओं का प्रत्याहार भी अक्ष है। सहस्रार तक मातृकायें हैं। वहीं तक मन रहता है। उन्मना में मन विगलित हो जाता है।

वैकारिक अहङ्कार से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। साथ ही तामस अहङ्कार से पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न हुईं। ये पाँचों इस प्रकार हैं—१. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श और ५. शब्द। श्रीमद्भागवत में इसका वर्णन प्रक्रियान्तर पर आधारित है[2] ॥ ३१ ॥

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका रूप—पाँच बुद्धीन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पायु, उपस्थ और चरण—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मानी जाती है ॥ ३२ ॥

इस तरह तत्त्वों के क्रम में पाँच महाभूतों की गणना के साथ कला से लेकर अन्तिम पञ्चमहाभूत क्षिति पर्यन्त[3] संसार मण्डल माना जाता है। संसार का अन्तिम तत्त्व पृथ्वी ही है। पृथ्वी में स्थूल घन तत्त्व पार्थिव और द्रव तत्त्व आप्य दोनों का प्रत्यक्ष समावेश है। समुद्र उसी आप्यतत्त्व का प्रतीक है। समुद्रादि शब्द अप्राकरणिक नहीं है। 'ऋतं च सत्यं च' इस वैदिक मन्त्र में 'ततः समुद्रोर्णवः' प्रकरण में समुद्र से संवत्सर को उत्पत्ति मानी गयी है। इस लिए समुद्रादि[4] यह जो संसार है, यही नश्वर जगत है, इसे अपनी इच्छा शक्ति से भगवान् भूत भावन परिवर्तित करते रहते हैं। वस्तुतः इस संसार का संहार तात्त्विक परिवर्त्तन रूप ही है। विनाशात्मक नहीं और यह सब भगवान् की इच्छा पर ही निर्भर है ॥ ३३ ॥

---

१ ख० ग० पु० समुद्राद्यमिति पाठः ;
अ. श्रीत० ९।२१० ;
२. श्रीमद्भागवत ३।५।२५ ;
३. श्रीत० १०।९७ ; ४. श्रीत० १०।९७, ९।२७

भेदः परः कलादीनां भुवनत्वेन यः स्थितः ।
असृजत्तमसावेव भोगिनां भोगसिद्धये ॥ ३४ ॥

इत्यनेन कलाद्येन धरान्तेन समास्थिताः ।
पुमांसः सकला ज्ञेयास्तदवस्थाजिघांसुभिः ॥ ३५ ॥

अवस्था त्रितयेऽप्यस्मिंस्तिरोभावनशीलया ।
शिवशक्त्योभयाक्रान्ता[1] प्रकुर्वन्ति विचेष्टितम् ॥ ३६ ॥

एवं जगति सर्वत्र रुद्राणां योग्यतावशात्[2] ।
अङ्गुष्ठमात्रपूर्वाणां शतमष्टादशोत्तरम् ॥ ३७ ॥

अनुगृह्य शिवः साक्षान्मन्त्रेशत्वे नियुक्तवान् ।
ते स्वगोचरमासाद्य भुक्तिमुक्तिफलार्थिनाम् ॥ ३८ ॥

कला इत्यादि तत्त्वों के भेदों की चर्चा शास्त्रों में है। भगवान् कहते हैं कि, पार्वति! वे भेद भुवनों के रूप में जाने जाते हैं। इनकी संरचना भी भोगियों की भोगसिद्धि के लिये स्वयम् उसी ने की है ॥ ३४ ॥

भेद का यह विस्तार 'कला' से लेकर 'धरा' पर्यन्त माना जाता है[3]। इसमें अवस्थित पुरुष तत्त्व 'सकल' माने जाते हैं[4]। यह भेदवाद का ही विस्तार है। जो इसके विनाश के अभिलाषी हैं, वे इस तथ्य को पूरी तरह जानते हैं कि, भेदवाद से प्रभावित पुरुष 'सकल' ही कहे जा सकते हैं क्योंकि ये 'कला' से ही समन्वित हैं। इस प्रकार तैजस, वैकारिक और तामस अवस्थाओं की इस तिरोधान पूर्ण प्रक्रिया में सकलों का सारा विचेष्टित अर्थात् व्यापार शिवशक्ति के उभयात्मक प्रभाव का ही परिणाम है ॥ ३५-३६ ॥

इस प्रकार इस जगत् में सर्वत्र रुद्रों की कर्त्तृत्व शक्तिरूप योग्यता के अनुसार ही सारा व्यवहारवाद घटित होता है। इन रुद्रों की संख्या पहले एक सौ अट्ठारह थी। इनकी आकृति अङ्गुष्ठ मात्र की ही थी। इनके ऊपर भगवान् शिव ने महान् अनुग्रह किया और इन्हें मन्त्रेश के पद पर नियुक्त कर दिया। उन्होंने जो कुछ साक्षात्कार किया, उसके अनुसार फलार्थियों को फल प्रदान करना प्रारम्भ किया।

---

१. ख० पु० शक्त्युभयेति पाठः ; २. ख० पु० कर्तृतावशादिति पाठः ;
३. श्रीत० १०।९७-१०१ ; ४. श्रीत० १०।९८-९९

ब्रह्मादीनां प्रयच्छन्ति स्वबलेन समं फलम् ।
ऋषिभ्यस्तेऽपि ते चानु मन्वन्तेभ्यो महाधिपाः ॥ ३९ ॥
हेयोपादेयविज्ञानं कथयन्ति शिवोदितम् ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जातमात्रे जगत्यलम् ॥ ४० ॥
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः ।
अनुगृह्याणुसंघातं याताः पदमनामयम् ॥ ४१ ॥
एवमस्यात्मनः काले कस्मिंश्चिद्योग्यतावशात् ।
शैवी संबध्यते शक्तिः शान्ता मुक्तिफलप्रदा ॥ ४२ ॥

इसी क्रम में ब्रह्मा आदि को भी उन्होंने अपने बल और प्रभाव से फल भोग निर्धारित किया। ब्रह्मा आदि ने ऋषियों को और ऋषियों ने मन्वन्तर प्रतिनिधियों को फल की व्यवस्था की। ये सभी इस दृष्टि से 'महाधिप' श्रेणी में आते हैं ॥ ३७-३९ ॥

इस विश्वात्मक विस्तार की जागतिक उत्पत्ति का यह परम परिवेश ब्रह्मा से 'स्तम्ब' पर्यन्त व्याप्त है। भगवान् शिव द्वारा कहे गये हेयोपादेय विज्ञान का भरपूर सदुपयोग इसी जगत् में किया जा सकता है। 'अलम्' अव्यय यह स्पष्ट करता है कि, पूरी तरह यहीं के लिये यह महाविज्ञान है, जिसे भगवान् ने 'हेयोपादेय विज्ञान' की संज्ञा दी है[१] ॥ ४० ॥

इसमें शिव द्वारा नियोजित साढ़े तीन करोड़ मन्त्र हैं। ये अणुता से प्रभावित पुद्गल पशु वर्ग पर अनुग्रह करते हैं। स्वयम् अनामय पद को प्राप्त करते हैं ॥ ४१ ॥

आत्मा का इस प्रकार आवरण से आविल स्वरूप में और काल की कलनात्मकता के सन्दर्भ में कहीं किसी से उसकी योग्यता के फलस्वरूप शैवी शक्ति का सम्पर्क सध जाता है। यह सौभाग्य का विषय है कि, इस सम्पर्क के कारण सारा प्रपञ्च शान्त हो जाता है। इसीलिये उस शक्ति को शान्ता शक्ति कहते हैं। यह मुक्ति का फल प्रदान करने वाली मानी जाती है ॥ ४२ ॥

---

१. श्रीत० ८।३७४

तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते ।
अज्ञानेन सहैकत्वं कस्यचिद्विनिवर्तते ॥ ४३ ॥

रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥ ४४ ॥

तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शाङ्करीम् ।
तत्क्षणाद्वो[1]पभोगाद्वा देहपाता[2]च्छिवं व्रजेत् ॥ ४५ ॥

इस शान्ता शक्ति के महाप्रभाव से चमत्कार घटित हो जाता है। उसका सम्बन्ध होते ही उसी समय अविलम्ब वह वैराग्यवान् हो जाता है और अपवर्ग उसके लिये हस्तामलकवत् हो जाता है। उसी में कुछ पुरुषों का केवल अज्ञान का एकत्व ही विनिवृत्त हो पाता है। यह उसकी योग्यता का ही परिणाम होता है। अभी तक अज्ञान के अन्धकार में पड़ा हुआ था। अज्ञान के इस सम्पर्क से उसकी निवृत्ति होते ही ज्ञान की रश्मियाँ उसके स्वरूप को उद्घाटित कर देती हैं ॥ ४३ ॥

यह रुद्रशक्ति के समावेश का ही सुपरिणाम है कि, वह समाविष्ट होकर यह सोचने को विवश हो जाता है कि, अपने स्वरूप को पहचानने और अच्छी तरह जानने के लिये हमें गुरु के पास जाना चाहिये। इस भाव को 'यियासा' कहते हैं। गुरु को पाने का प्रबल अभिलाष ही 'यियासा' है। जिसे 'यियासा' होती है, उसे 'यियासु' कहते हैं। यह भी शिव की इच्छा पर ही निर्भर है। इस शिवेच्छा के द्वारा वह मुक्ति भुक्ति की विशिष्ट सिद्धि के लिये सद्गुरु-शरण में पहुँचा दिया जाता है[3] ॥ ४४ ॥

सद्गुरु की शरण में वह पहुँचता है। उनकी आराधना कर उन्हें प्रसन्न कर देता है। वे इसकी सेवा से सन्तुष्ट हो जाते हैं। उस पर शाङ्करी दीक्षा द्वारा शक्तिपात करते हैं। अब वह शाङ्करी दीक्षा से दीक्षित हो जाता है। यदि शक्तिपात तीव्र होता है, तो वह तत्क्षण जीवन्मुक्त हो जाता है। अथवा दीक्षा के प्रभाव से विश्व का उपभोग करता हुआ मरणोपरान्त शिवता को समुपलब्ध हो जाता है ॥ ४५ ॥

---

१. ख० पु० उपयोगाद्वेति पाठान्तरम् ; २. क० पु० पाते शिवमिति पाठः ;
३. श्रीत० २१।२-५

योगदीक्षां समासाद्य ज्ञात्वा योगं समभ्यसेत् ।
योगसिद्धिमवाप्नोति तदन्ते शाश्वतं पदम् ॥ ४६ ॥

अनेन क्रमयोगेन संप्राप्तः परमं पदम् ।
न भूयः पशुतामेति शुद्धे स्वात्मनि तिष्ठति ॥ ४७ ॥

आत्मा चतुर्विधो ह्येष पुनरेष चतुर्विधः ।
आचार्यत्वादिभेदेन शुद्धात्मा परिपठ्यते ॥ ४८ ॥

नित्यादित्रितयं कुर्याद्गुरुः साधक एव च ।
नित्यमेव द्वयं चान्यो यावज्जीवं शिवाज्ञया ॥ ४९ ॥

शाङ्करी दीक्षा के अतिरिक्त कुछ लोग शाङ्कर योग दीक्षा प्राप्त करते हैं। इसे शिवभक्ति सम्पन्न योग कहते हैं। इस योग का अभ्यास कर उसमें परम सिद्धि प्राप्त करते हैं। इस शिवभक्ति योग सिद्धि के परिणामस्वरूप अन्त में शाश्वत शैवधाम की प्राप्ति का सौभाग्य उन्हें अधिगत हो जाता है ॥ ४६ ॥

यह अभ्यास की क्रमिकता का ही सुपरिणाम है—शाङ्करी दीक्षा में सम्पन्नता, पुनः शिवभक्ति योग सम्पन्नता और शाश्वत शैव धाम की उपलब्धि रूप परम पद की प्राप्ति। यह सब जीवन की चरितार्थता ही है। इस प्रकार इस सर्वोच्च धाम में प्रवेश प्राप्त कर लेने वाला पुनः पशुता का परिवेश नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् शिव पद से उसकी अधोगति नहीं होती। वह शुद्ध स्वात्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है ॥ ४७ ॥

यहाँ तक जिन तथ्यों का वर्णन किया गया है और जिस तत्त्ववाद की व्याख्या की गयी है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि, आत्मा चार प्रकार का होता है। यह चतुष्क भी चार प्रकार का विस्तार प्राप्त करता है। इसमें आचार्य आदि भेद परिगणित है। शुद्ध स्वात्म में अधिष्ठित हो जाने पर 'शुद्धात्मा' संज्ञा से विभूषित होता हैं ॥ ४८ ॥

नित्या आदि योगमार्ग का त्रिक अनुशासन गुरु और साधक शिष्य सब को निरन्तर और नियमित रूप से सम्पन्न करना चाहिये। इसी तरह दीक्षा का द्विविध अभ्यास अवश्य करना चाहिये, जिससे ज्ञानयोग और भक्तियोग की अनवरत क्रिया सम्पन्न कर आत्मा का शुद्ध स्तर प्राप्त हो सके। जीवनपर्यन्त अनवरत साधना का आदेश भगवान् शङ्कर का ही है। इस आज्ञा का पालन करना साधक और गुरु का परम कर्त्तव्य है ॥ ४९ ॥

उपादेयं च हेयं च तदेतत्परिकीर्तितम् ।
ज्ञात्वैतज्ज्ञेयसर्वस्वं [1]सर्वसिद्ध्यरहो भवेत् ॥ ५० ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे प्रथमोऽधिकारः ॥ १ ॥

इस प्रकार इस अधिकार में जितनी बातें निर्दिष्ट हैं, वे दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—१. उपादेय भाग और २. हेय भाग। पशुता और पशुता के हेतु सभी हेय तथा शुद्धात्मा में अवस्थान, यही उपादेय भाग की कर्त्तव्य शीलता है। इसका जानना अत्यन्त अनिवार्यतः आवश्यक है। यह ज्ञेय सवस्व माना जाता है। इन विज्ञानों का ज्ञाता समस्त सिद्धियों का अधिकारी बन जाता है। सिद्धि के लिये 'अर्ह' अर्थात् योग्य हो जाता है ॥ ५० ॥

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र के
'हेयोपादेय विज्ञान' नामक प्रथम अधिकार का
डॉ० परम हंस मिश्र कृत नीरक्षीर विवेक नामक हिन्दी भाष्य अभिसम्पन्न।
ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥ १ ॥



---

१. क० ख० सिद्धिफलं लभेत् इति पाठः

अथ द्वितीयोऽधिकारः

अथैषामेव तत्त्वानां धरादीनामनुक्रमात् ।
प्रपञ्चः कथ्यते लेशाद्योगिनां योगसिद्धये ॥ १ ॥
शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते ।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ॥ २ ॥

ह्सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसमन्वितम

द्वितीयोऽधिकारः

[२]

इस अधिकार का प्रारम्भ 'अथ' अव्यय शब्द से कर रहे हैं। अथ प्रारम्भवाची अव्यय है। हेयोपादेय विज्ञान के निर्देश के बाद यहाँ से प्रपञ्च रूप इस विश्व विस्तार की चर्चा कर रहे हैं। कला से क्षिति पर्यन्त तत्त्वों के क्रम में धरा को अन्तिम तत्त्व माना गया है। धरा से प्रारम्भ करने के कारण धरा आदि तत्त्वों के अनुक्रम को अपना कर इन तत्त्वों का विस्तार पूर्वक कथन कर संक्षेप से ही, अर्थात् भेदों का लेश मात्र ही निर्देश करने की बात कर रहे हैं। इसका उद्देश्य भी इसी श्लोक में भगवान् ने व्यक्त कर दिया है। वे कहते है—'योगिनां योग सिद्धये'—अर्थात् योग की प्रक्रिया में अभ्यास पूर्वक प्रवृत्त योग-साधकों के योग की सिद्धि में सहायता हो इस कथन का उद्देश्य है। इसी के लिये त्रिकशास्त्रीय यह उपक्रम है[१] ॥ १ ॥

धरा तत्त्व शक्ति और शक्तिमान् भेद से द्विधा विभिन्न है। स्वरूप सहित यदि इसका आकलन करें, तो यह पन्द्रह भेद भिन्न आकलित होता है। शिव से

---

१. श्रोत० १०।२-३

शिवादिसकलात्मान्ताः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः ।
तच्छक्तयश्च विज्ञेयास्तद्वदेव विचक्षणैः ॥ ३ ॥
एवं जलादिमूलान्तं तत्त्वव्रातमिदं महत् ।
पृथग्भेदैरिमैर्भिन्नं विज्ञेयं तत्फलेप्सुभिः ॥ ४ ॥
अनेनैव विधानेन पुंस्तत्त्वात्तु[1] कलान्तिकम् ।
त्रयोदशविधं ज्ञेयं रुद्रवत्प्रलयाकलाः ॥ ५ ॥
तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवलाः ।
मन्त्राः सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा[2] मन्त्रनायकाः ॥ ६ ॥

सकल पर्यन्त सात शक्तिमन्त तत्त्व माने जाते हैं। इनकी शक्तियों के सहित आकलित करने पर ये चौदह भेद भिन्न हो जाते हैं। इसमें स्वरूप का परिकल्पन करने पर यह पन्द्रह भेदता स्पष्ट हो जाती है। इसे पाञ्चदश्य[3] सिद्धान्त कहते हैं। स्वरूप[4] का अर्थ यहाँ स्वरूपसत् (धरारूपगत) चिन्मय तत्त्व माना जाता है। विचक्षण विज्ञपुरुषों के द्वारा यहां ज्ञेय और वेद्य तात्त्विकता पर विशेष विचार करने योग्य है। वस्तुतः जब सकल शिवान्त शक्तिमन्तों में शक्ति भाव का उद्रेक होता है, तो एक प्रकार की पृथक् वेद्यता की अनुभूति विचक्षणों को होने लगती है। इसी का सांकेतिक निर्देश भगवान् ने किया है कि, यह उन्हीं के द्वारा विज्ञेय है। साधारण मनुष्य को अनुभूति के रहस्यात्मक गाम्भीर्य का ऐसा अनुभव नहीं हो पाता। वेद्यताजनित भेद में चौदह भेद सहित स्वरूपसत् भेद से पन्द्रह भेद मान्य हैं। यही पांचदश्य का तात्पर्य है॥ २-३ ॥

इसी तरह 'जल' से प्रारम्भ करने पर और मूल अर्थात् प्रधान तत्त्व पर्यन्त विचार करने पर भी ये महत् भेद स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते हैं। इनकी साधना के फल की इच्छा रखने वालों को यह विशेष विचार करना चाहिये कि, उससे स्वात्म परिष्कार किस प्रकार सम्भव है[5] ॥ ४ ॥

यह एक दिशा निर्देश है। इस क्रम से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, पुरुष तत्त्व से कला तक मात्र तेरह भेद ही संभव हैं। प्रलयाकल तक रुद्रवत् अर्थात् ११ भेद होते हैं। इसी प्रकार माया का भेद सम्भव है। इसी तरह

---

१. तं० पुंस्तत्त्वात्तत्कलान्तकमिति पाठः ; २. तं० पञ्च मन्त्रविनायका इति पाठः ;
३. श्रीत० आ० १०६-७, १०१-११२, २९४ ;
४. तदेव १०१३ ; ५. तदेव १०१५

त्रिधा मन्त्रेश्वरेशानाः शिवः साक्षान्न भिद्यते ।
भेदः प्रकथितो लेशादनन्तो विस्तरादयम् ॥ ७ ॥

एवं भुवनमालापि भिन्ना भेदैरिमैः स्फुटम् ।
विज्ञेया योगसिद्धयर्थं योगिभिर्योगपूजिता ॥ ८ ॥

एतेषामेव तत्त्वानां भुवनानां च शाङ्करि ।
य एकमपि जानाति सोऽपि योगफलं लभेत् ॥ ९ ॥

यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः ।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ॥ १० ॥

विज्ञानकेवल मात्र ९ भेद भिन्न होते हैं। 'मन्त्र' सात प्रकार के, मन्त्रेश्वर मात्र पाँच प्रकार के ही होते हैं। मन्त्रमहेश्वर तीन प्रकार के होते हैं। इन भेदों पर विचार करते हैं, तो यह निश्चय प्रतीत होने लगता है कि, शिव में साक्षात् कोई भेद नहीं होता। यह अभेद रूप से शाश्वत उल्लसित तत्त्व स्वयं निष्कल और अभिन्न भाव से भासित प्रकाश तत्त्व है।[1]

यह लेशमात्र भेद का कथन है। परमार्थ रूप से विचारणीय है। जहाँ तक भेद के विस्तार का प्रश्न है, यह अनन्त है और शिवेच्छा से ही समुद्भूत होता है ॥ ५-७ ॥

इसी प्रकार भुवन माला अर्थात् अनन्त भुवनों का यह अम्बार इन्हीं और इसी प्रकार के भेदों से भिन्न हैं[2]। योग की सिद्धि के लिये योगियों द्वारा इनकी जानकारी आवश्यक मानी जाती है। ये योगमार्ग में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और निश्चित रूप से जानने योग्य हैं ॥ ८ ॥

भगवान् शिव कहते हैं कि, देवि पार्वति! तुम विश्व की कल्याण-विधायिनी माँ शक्ति हो। तुम्हें मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि, भेदों प्रभेदों के इस आनन्त्य में से यदि कोई साधक भक्त शिष्य एक भेद भी अच्छी तरह जान लेता है, वह भी शिव-योग का फल प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। जो साधक योगी इस अनन्तता को तात्त्विक रूप से जान लेता है, वह तो देवि! सचमुच मेरे

---

१. श्रीत० १०।५-'शिवो न भिद्यते स्वैकप्रकाशघनचिन्मयः';
२. तदेव १०।१५१

स्पृष्टाः [1]संभाषितास्तेन दृष्टाश्च प्रीतचेतसा ।
नराः पापैः प्रमुच्यन्ते सप्तजन्मकृतैरपि ॥ ११ ॥
ये पुनर्दीक्षितास्तेन प्राणिनः शिवचोदिताः ।
ते यथेष्टं फलं प्राप्य पदं [2]गच्छन्त्यनामयम् ॥ १२ ॥
रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्यं प्रतिष्ठितः ।
सति तस्मिंश्च चिह्नानि तस्यैतानि विलक्षयेत् ॥ १३ ॥

समान ही हो जाता है । वह यथार्थ रूप से ज्ञानवान् होता है और ज्ञानवान् ही गुरु कहलाता है ।[3] ऐसे गुरुजनों के द्वारा मन्त्रों के वीर्य का प्रकाशन हो सकता है ॥ ९–१० ॥

ऐसे गुरुदेव के द्वारा छू लिये जाने पर, सम्यक् रूप से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान कर लेने से तथा मात्र प्रीति पूर्वक प्रसन्न मुद्रा से देख लेने से भी सामान्य मनुष्य भी पापों से छुटकारा पा जाते हैं । भले ही वे पाप इस जन्म के न होकर सात जन्मों के ही क्यों न हों । यह ज्ञानवान् गुरु का गौरव है ॥ ११ ॥

ऐसे परम सिद्ध भगवान् शिवस्वरूप गुरुदेव से जो भाग्यशाली दीक्षा प्राप्त कर लेता है, वह धन्य हो जाता है । वस्तुतः शिव की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही गुरु और शिष्य दीक्षा प्रक्रिया से सम्पृक्त होते हैं । जो कुछ भी हो शिव की प्रेरणा से दीक्षा प्राप्त करने वाले पुरुष यथेष्ट रूप से विश्वोपभोग करते हैं और अन्त में अनामय पद को भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥

रुद्र शक्ति का समावेश ऐसे गुरुदेव में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता रहता हैं । रुद्रशक्ति समावेश को 'भवभक्ति' की संज्ञा से विभूषित करते हैं ।[4] गुरु में ये चिह्न विशिष्ट शिष्य भाँप लेते हैं । उन विशिष्ट चिह्नों को ध्यान पूर्वक देखना चाहिये । इसी से उनकी झलक मिलती है और सद्गुरु की पहचान हो जाती है ॥ १३ ॥

---

१. ख० पु० संभाविता इति पाठः ;
२. ख० पु० गच्छन्ति परमं पदमिति पाठः ;
३. श्रीत० १८।१८७,१८९,१९४ ;   ४. श्रीत० ३।१९१

तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला
द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात्सद्यः प्रत्ययकारिका ॥ १४ ॥

सर्वसत्त्ववशित्वं च तृतीयं लक्षणं स्मृतम् ।
प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम् ॥ १५ ॥

कवित्वं पञ्चमं ज्ञेयं सालङ्कारं मनोहरम् ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते ॥ १६ ॥

उनमें पहला लक्षण है—रुद्र में सुनिश्चला[1] भक्ति। यह अनुग्रह के अधिकार का पहला लक्षण माना जाता है। प्राथम्येन उक्त होने के कारण यह प्रधान लक्षण माना जाता है। विना इसके गुरु में यह अधिकार नहीं होता कि, वह शिष्य के ऊपर [2]अनुग्रहरूप शक्तिपात करें और शिष्य का उद्धार कर सकें।

उनमें दूसरा चिह्न यह होता है कि, उसे मन्त्रों की सिद्धि होती है। मन्त्रों के प्रयोग से शिष्य को तत्काल यह विश्वास हो जाता है कि, ये गुरुदेव मन्त्र सिद्ध हैं। इनके प्रयोगों से और इनकी दीक्षा के प्रभाव से हमारा तत्काल उद्धार सम्भव है ॥ १४ ॥

गुरु में तीसरा अलौकिक लक्षण सभी प्राणियों के ऊपर उनका वशित्व-भाव है। जो व्यक्ति ऐसे गुरुदेव के सम्पर्क में आते हैं, वे उनके मानो वश में ही हो जाते हैं। यह उनके महान् व्यक्तित्व का प्रभाव होता है। उनका चौथा लक्षण है—प्रारब्ध कार्य निष्पत्ति। जिस काम को वे हाथ में लेते हैं, वह अवश्य पूरा होता है। यहाँ निष्पत्ति शब्द सिद्धि अर्थ में प्रयुक्त है। कारण और कार्य की पूर्ति गुरु के महाप्रभाव का परिणाम होता है। यह सबके द्वारा नहीं होता। बहुत लोग कार्य प्रारम्भ करते हैं और उनमें ऐसे विघ्न आते हैं, जिनसे कार्य सिद्धि में बाधा पड़ जाती है। यह उत्तम लक्षण नहीं माना जाता ॥ १५ ॥

सिद्ध गुरु का पाचवाँ लक्षण उनमें कवित्व शक्ति का समुल्लास है। कविता के माध्यम से वे वाङ्मय पुरुष का सर्वदा शृङ्गार करते रहते हैं और सरस्वती की आराधना में प्रभावी रूप से तत्पर रहते हैं, उनकी कविता में माधुर्य का मनोहारी समावेश होता है तथा अलङ्कारों से अलङ्कृत भाव-प्रवाह का प्राभाव्य होता है।

---

१. श्रोत० १३।७१,१३।११८ ;
२. श्रीत० ३।२९०,४।५९

रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा परिपठ्यते ।
भूततत्त्वात्ममन्त्रेशशक्तिभेदाद्वरानने ॥ १७ ॥

पञ्चधा भूतसंज्ञस्तु तथा त्रिंशतिधा परः ।
आत्माख्यस्त्रिविधः प्रोक्तो दशधा मन्त्रसंज्ञकः ॥ १८ ॥

द्विविधः शक्तिसंज्ञोऽपि ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पञ्चाशद्भेदभिन्नोऽयं समावेशः प्रकीर्तितः ॥ १९ ॥

उनका छठाँ लक्षण 'सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्व' है। ऐसे महान् 'पदवाक्यपारावार-पारीण' और 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' संज्ञाओं से विभूषित किये जाते हैं। यह गुण बड़े परिश्रम के बाद आया हो, ऐसी कोई बात नहीं, अपितु अकस्मात् शैवानुग्रह सिद्धि के कारण हो जाता है ॥ १६ ॥

जहाँ तक श्लो० १३ में कहे गये रुद्रशक्ति के समावेश का प्रश्न है, इसे पाँच प्रकार से स्वाध्याय का विषय बनाते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. भूत, २. तत्त्व, ३. आत्म, ४. मन्त्र और ५. ईशशक्ति। ये पाँच प्रकार के समावेश सभी साधकों की विभिन्न श्रेणियों में दृष्टिगोचर होते हैं। इनके अनेक प्रकार के भेद होते हैं। जैसे इस तालिका से व्यक्त होता है—

रुद्रशक्तिसमावेश

१	२	३	४	५
↓	↓	↓	↓	↓
भूत	तत्त्व	आत्म	मन्त्र	शक्ति
पञ्चधा	त्रिंशतिधा	त्रिविध	दशविध	द्विविध
५	३०	३	१०	२

इस प्रकार पाँच प्रकार के भूत समावेश, ३० प्रकार के तत्त्व समावेश, तीन प्रकार आत्म समावेश, दश प्रकार के मन्त्र समावेश और दो प्रकार के शाक्त समावेशों को मिलाकर कुल ५० प्रकार के समावेश होते हैं ॥ १७-१९ ॥

आणवोऽयं समाख्यातः शाक्तोऽप्येवंविधः स्मृतः ।
एवं शाम्भवमप्येभिर्भेदैर्भिन्नं विलक्षयेत् ॥ २० ॥

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः[1] ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥ २१ ॥

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ २२ ॥

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
जायते[2] यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः[3] ॥ २३ ॥

यह पाँच और पचास भेद भिन्न समावेश आणव समावेश माना जाता है। शाक्त समावेश भी इसी प्रकार के भेदों में विभक्त किया जा सकता है। जहाँ तक शाम्भव समावेश का प्रश्न है, उसमें भी यह पञ्चाशद् भेद भिन्नता आकलित कर सकते हैं ॥ २० ॥

आणव समावेश पांच प्रकार से व्यक्ति को प्रभावित करता है। १. उच्चार, २. करण, ३. ध्यान, ४. वर्ण और ५. स्थान प्रकल्पन।[4] इन पांचों प्रकार के समावेशों के लक्षण के अनुसार इनको पहचान कर इनके माध्यम से शाम्भव समावेश में प्रवेश का प्रयास साधक अनवरत रूप से करता है। यह आणव समावेश का स्वरूप और इसका महत्त्व है। अणु को समाविष्ट करने के कारण इसे 'आणव' कहते हैं ॥ २१ ॥

जिस अवस्था में साधक उच्चार[5] अर्थात् प्राणापानवाह पर विजय प्राप्त कर लेता है, उस समय वस्तु सत् को चेतस्[6] स्तर पर ही अपने चिन्तन का विषय बना लेता है। उस स्तर पर वह एक विशिष्ट समावेश में अवस्थित होता है। इसमें इच्छा और ज्ञान शक्तियों का प्राधान्य होता है।[7] इसे शाक्त समावेश कहते हैं ॥ २२ ॥

---

१. ग० पु० विकल्पनैरिति पाठः ;
२. वि० भै० उत्पद्यते य आवेश इति पाठः ;
३. ग० पु० उदीरित इति पाठः ;
४. श्रीत० आ० १।१६८-१७० ;
५. श्रीत० ५।१८ ;
६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सू० ५)
७. तदेव (सू० ५,७)

सार्धमेतच्छतं प्रोक्तं भेदानामनुपूर्वशः ।
संक्षेपाद्विस्तरादस्य परिसंख्या न विद्यते ॥ २४ ॥

संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः ।
भेदोऽपरोऽपि संक्षेपात्कथ्यमानोऽवधार्यताम् ॥ २५ ॥

जाग्रत्स्वप्नादिभेदेन सर्वावेशक्रमो बुधैः ।
पञ्चभिस्तु परिज्ञेयः [1]स्वव्यापारात्पृथक् पृथक् ॥ २६ ॥

अब एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ चिन्तन भी समाप्त हो जाता है। उच्चार पर विजय प्राप्त कर चिन्तन के अपरम्पार ऊर्मिल पारावार को भी पार कर साधक प्रतिबोध की गौरवशाली प्रकाशमयता को आत्मसात् (प्राप्त) कर लेता है। उस समय विमर्श भी मानो प्रकाश में समाहित हो जाता है। यह परमेश्वर का प्रकाश धाम होता है। उस समावेश को शाम्भव समावेश कहते हैं। शैवोधाम को पाकर साधक धन्य हो जाता है[2] ॥ २३ ॥

श्लोक १९ में केवल पञ्चाशद् भेद भिन्न समावेश का कथन है किन्तु उच्च स्तर पर विकसित अवस्था में विचार करने पर यह सार्धशत अर्थात् डेढ़ सौ भेद भिन्न परिलक्षित होता है। यह भी संक्षेप दृष्टि से भेद को परिकल्पना पर आधारित है। विस्तार से इसका आकलन करने पर इसकी अनन्त भेद भिन्नता का आकलन होता है। उसको कोई परिसंख्या नहीं होती ॥ २४ ॥

मनोषियों का यह कर्त्तव्य है कि, संवित्ति के सान्दर्भिक सक्रियता के फलों पर ध्यान दें, क्योंकि संवित् स्वातन्त्र्य के प्रभाव से उल्लसित इस विश्ववैचित्र्य को उपाय मानकर उपेय रूप शिव का हो परिकल्पन उचित है। इस तथ्य का 'संवित्प्रकाश' नामक ग्रन्थ में श्रीवामनदत्त नामक आचार्य ने बड़े विस्तार के साथ वर्णन का विषय बनाया है[3]। इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के अनेक भेदों की परिकल्पना शास्त्रों में की गयी है। वहाँ उनका संक्षेप में कथन किया जा रहा है। इनकी अवधारणा भी अनिवार्यतः आवश्यक है ॥ २५ ॥

स्वात्म व्यापार के स्वानुभूत तथ्यों के आधार पर पृथक्-पृथक् जाग्रत् स्वप्न आदि पाँच[4] आवेशों की क्रमिकता पर भी ध्यान देना चाहिये। बुद्धिशाली व्यक्तियों

---

१. ख० पु० भेदैश्चान्यैः पृथगिति पाठः ;

२. श्रीत० ४।१६८ ; ३. श्रीत० ५।१५४ ;

४. श्रीत० १०।२२८-२२९—"जाग्रत् स्वप्नं सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम्"

तत्र स्वरूपं शक्तिश्च सकलश्चेति तत्त्रयम् ।
इति जाग्रदवस्थेयं भेदे पञ्चदशात्मके ॥ २७ ॥

अकलौ द्वौ परिज्ञेयौ सम्यक् स्वप्नसुषुप्तयोः ।
मन्त्रादितत्पतीशानवर्गस्तुर्य इति स्मृतः ॥ २८ ॥

को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि, इन अवस्थाओं में जीव पर जो आवेश रहता है, जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। इसकी जानकारी अवश्य होनी चाहिये। यह भी परिज्ञेय तथ्य है ॥ २६ ॥

भेदपाञ्चदश्य की चर्चा की जा चुकी है। इसमें स्वरूप, शक्ति और सकल रूप त्रितय जिस अवस्था में उल्लसित रहता है; उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। यहाँ सकल एक प्रमाता है। बिना प्रमाता के इसका भान ही असम्भव है। जाग्रत् अवस्था अधिष्ठेय अवस्था होती है। अधिष्ठाता के संवेदन में यह स्फुरित होती है। इस दृष्टि से प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा का सामग्रीवाद जिस अवस्था में स्फुरित होता है, वही जाग्रत् अवस्था मानी जाती है ॥ २७ ॥

स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में दो अकलों का परिगणन प्रमाता के रूप में करते हैं। यह अवस्था जाग्रत् की विपर्यय रूप होती है।[1] इसमें लयाकल प्रमाता ही भोक्ता या प्रमाता माना जाता है। प्रलयाकल अवस्था में आणव और कार्म दो मल काम करते हैं। मायीय मल न होने से शरीर भाव की उपलब्धि इन्हें नहीं होती।

जहाँ तक सौषुप्त का प्रश्न है, इसमें जिस अकल का निर्देश भगवान् इस कारिका में कर रहे हैं, उसे विज्ञानाकल[2] कहते हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (३।२।१३) के अनुसार इसमें ज्ञय शून्यता होती है। ज्ञानाकल पर ज्ञेयशून्यता का साम्राज्य छाया रहता है।

इसी तरह तुर्य अवस्था में मन्त्र, मन्त्रेश्वर व मन्त्रमहेश्वर प्रमाता के रूप में मान्य हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, अवेदन-संवेदन के स्तरीय उत्कर्ष की स्थिति में ही सकल-प्रमाता मन्त्र, प्रलयाकल-प्रमाता मन्त्रेश्वर और विज्ञानाकल-प्रमाता मन्त्रमहेश्वरत्व पद को प्राप्त कर लेते हैं। वे जिस अवस्था में आ जाते हैं, वही तुर्यदशा है ॥ २८ ॥

---

१. श्रीत० १०।२९०; २. ई० प्र० ३।२।७

शक्तिशम्भू परिज्ञेयौ तुर्यातीते वरानने ।
त्रयोदशात्मके भेदे स्वरूपमकलावुभौ ॥ २९ ॥

मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तिशम्भू च कीर्तितौ ।
प्रलयाकलभेदेऽपि स्वं विज्ञानकलावुभौ ॥ ३० ॥

मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तीशावपि पूर्ववत् ।
नवधा कीर्तिते भेदे स्वं मन्त्राः मन्त्रनायकाः ॥ ३१ ॥

तुर्यातीत दशा सर्वोच्च स्तरीयतामयी दशा मानी जाती है । इसमें शिव और शक्ति ही प्रमाता माने जाते हैं। महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीतन्त्रालोक में किया है। उनके अनुसार अद्वैत तत्त्व के आतिशय्य की अनुभूति के स्तर पर जब अशेष भेदवाद विगलित हो जाता है। प्रखर प्रकाश रूप घनतामिस्रमय आडम्बर ध्वस्त हो जाता है, उसे तुर्यातीत अवस्था कहते हैं।[1] इस तरह के आकलन में यह पूरा पाञ्चदश्य सिद्धान्त चरितार्थ हो जाता है। शक्ति और शिव को पृथक् करने पर पाञ्चदश्य का रूप त्रायोदश्य मात्र रह जाता है। इसमें भी स्वरूप के आकलन को महत्त्व दिया जाता है। इसके बाद अर्थात् स्वरूप के साथ सकल, लयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्र-महेश्वर सबकी गणना की जाती है। इसकी कलना इस प्रकार की जानी चाहिये।

प्रथमतः—

१. प्रमातृता के अभाव में १ स्वरूप दशा छः शक्तिमन्तों और उनकी ६ शक्तियाँ कुल मिलाकर (स्वरूप १ शक्तिमन्त ६+शक्ति ६=१३) तेरह भेद होते हैं। यह त्रायोदश्य भेद की अवस्था है ॥ २९ ॥

२. प्रलयाकलदशा में प्रलयाकलता ही जब मेय हो जाती है, उस समय (५ मन्त्र + ५ उनकी शक्तियाँ + १ स्वरूप कुल मिलाकर ग्यारह भेदभिन्नता हो जाती है ॥ ३० ॥

३. इसी तरह विज्ञानाकल अवस्था में इसके मेय की स्वरूप की १ स्थिति, ४ शक्तिमन्त और ४ शक्तियों के योग से नौ भेद ही परिगणित होते हैं। यह तीन शक्तिमन्तों (पुरुषों) के भेद का स्वरूप है ॥ ३१ ॥

---

१. श्रीत० १०।२९७,३०३

तदीशाः शक्तिशम्भू च पञ्चावस्थाः प्रकीर्तिताः।
पूर्ववत्सप्तभेदेऽपि स्वं मन्त्रेशेशशक्तयः ॥ ३२ ॥

शिवश्चेति परिज्ञेयाः पञ्चैव वरवर्णिनि।
स्वं शक्तिः स्वनिजेशाना शक्तिशम्भू च पञ्चके ॥ ३३ ॥

त्रिके स्वं शक्तिशक्तीच्छाशिवभेदं विलक्षयेत्।
सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः ॥ ३४ ॥

इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नमपि[1] पञ्चधा।
इति पञ्चात्मके[2] भेदे विज्ञेयं वस्तु कीर्तितम् ॥ ३५ ॥

---

४. मन्त्रदशा में प्रमातृ भाव रहता है। इसके मेय हो जाने पर मात्र स्वरूपावस्थान में इसे मन्त्रस्वरूप मानते हैं। यह १ भेद होता है। इसके साथ मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और इनकी शक्तियाँ मिलकर ६+१=७ भेद हो जाते हैं। ये सात भेद मन्त्र के हैं।

५. मन्त्रेश्वर में स्वरूप+शक्ति शक्तिमन्त के ४ भेद मिलकर पाँच भेद होते हैं ॥ ३२-३३ ॥

६. मन्त्रमहेश्वर के मेय हो जाने पर स्वप्रकाश परमशिव ही प्रमाता रूप से मान्य हैं। स्वरूप+शिव+शक्ति का त्रैध, बोध की उच्च[3] अवस्था मानी जाती है। यहाँ पर यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि, प्रथम दशा में प्रमाता का प्रमातृत्व सव्यापार अर्थात् सक्रिय होता है और उसमें संप्रभुता का आधिपत्य भी निहित होता है। दूसरी अवस्था में हीन प्रेरकता की स्थिति होती है। क्योंकि इच्छा से ही सक्रियता और प्रेरकता रह सकती है। जब इच्छा की निवृत्ति होती है, उसे तीसरी उच्च दशा मानते हैं। इसके बाद स्वात्म में अवस्थित होने की आत्मस्थ स्थिति बनती है। परिणामतः भेद की समाप्ति हो जाती है। यह अभेद अद्वय स्थिति सर्वोच्च स्थिति मानी जाती है। यह आत्मस्थ से भी उच्चतम दशा है। इस पञ्चात्मकता में प्रवेश करना रहस्य वेत्ता साधक के ही वश की बात है। अब तक जिस वस्तु का कथन किया गया है, यह सब विज्ञेय वस्तु हैं ॥ ३४-३५ ॥

---

१. त० अभिन्न चेति इति पाठः ; २. क० पु० पञ्चात्मभेदेनेति पाठः ;
३. श्रीत० १०।१०५–११३

भूयोऽप्यासामवस्थानां संज्ञाभेदः प्रकाश्यते ।
पिण्डस्थः सर्वतोभद्रो जाग्रन्नाम द्वयं मतम् ॥ ३६ ॥

द्विसंज्ञं स्वप्नमिच्छन्ति पदस्थं व्याप्तिरित्यपि ।
रूपस्थं तु महाव्याप्तिः सुषुप्तस्यापि तद्द्वयम् ॥ ३७ ॥

प्रचयं रूपातीतं च सम्यक् तुर्यमुदाहृतम् ।
महाप्रचयमिच्छन्ति तुर्यातीतं विचक्षणाः ॥ ३८ ॥

पृथक्तत्त्वप्रभेदेन भेदोऽयं समुदाहृतः ।
सर्वाण्येव हि तत्त्वानि पञ्चैतानि यथा शृणु ॥ ३९ ॥

इन अवस्थाओं की भी पृथक्-पृथक् संज्ञायें हैं। इसे संज्ञा भेद सन्दर्भ कह सकते हैं। भगवान् शिव स्वयम् इस मुख्य भेद भूमि का प्रकाशन कर रहे हैं। सर्व प्रथम जाग्रत् के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, इस दशा की दो संज्ञायें हैं— १. पिण्डस्थ[1] और २. सर्वतोभद्र। ये दोनों अन्वर्थ नाम हैं, जिनसे जाग्रत् अवस्था की व्यापकता का बोध हो जाता है ॥ ३६ ॥

स्वप्न की दो संज्ञायें होती हैं—१. पदस्थ और २. व्याप्ति। सुषुप्त को १. रूपस्थ और महाव्याप्ति। तुर्य की १. प्रचय और २. रूपातीत। तन्त्रालोक में लोक, योग और प्रसंख्यान की दृष्टि से इसके तीन नामों का उल्लेख है। जैसे—

अवस्थायें	१—स्वप्न	२—सुषुप्त	३—तुर्य
१. लोकदृष्टि (लौकिकी)	जाग्रत्स्वप्न	जाग्रत्सुषुप्त	जाग्रत् तुर्य
२. योगदृष्टि (यौगिक)	पदस्थ	रूप	रूपातीत
३. प्रसंख्यानदृष्टि (ज्ञान)	व्याप्ति	महाव्याप्ति	प्रचय

तुर्य के प्रचय और रूपातीत दो नामों का उल्लेख मालिनीविजय की इस कारिका में है। विचक्षण पुरुष तुर्यातीत दशा को महाप्रचय कहते हैं। उक्त भेद-प्रभेद पृथक् पृथक् तत्त्वों के ही भेद-प्रभेद के अनुसार माने गये हैं। ये सारे तत्त्व भी पाँच भागों के कारण ही भेद-प्रभेद सम्पन्न होते हैं। भगवान् शिव माँ पार्वती को इन्हें सुनने को प्रेरित करते हुए इस तत्त्ववाद का आगे प्रवर्त्तन कर रहे हैं ॥३७-३९॥

---

१. श्रीत० १०।२४१–२४५; २. श्रीत० १०।२४६

भूततत्त्वाभिधानानां योगोऽधिष्ठेय [1]इष्यते ।
पिण्डस्थमिति तं प्राहुः पदस्थमपरं विदुः ॥ ४० ॥

मन्त्रास्तत्पतयः सेशा रूपस्थमिति कीर्त्यते ।
रूपातीतं परा शक्तिः सव्यापाराप्यनामया ॥ ४१ ॥

निष्प्रपञ्चो निराभासः शुद्धः स्वात्मन्यवस्थितः ।
सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते ॥ ४२ ॥

चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च ।
प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च पदस्थं च चतुर्विधम् ॥ ४३ ॥

गतागतं सुविक्षिप्तं संगतं सुसमाहितम् ।
चतुर्धा [2]रूपसंज्ञं तु ज्ञातव्यं योगचिन्तकैः ॥ ४४ ॥

श्लोक १७ में उक्त भूत और तत्त्वात्मक समावेश की जो संज्ञायें दी हुई हैं, इनका योग अधिष्ठेय योग माना जाता है। इसे पिण्डस्थ कहते हैं। अपर अर्थात् आत्म को पदस्थ कहते हैं[3] ॥ ४० ॥

मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर रूपस्थ कहलाते हैं।[4] जहाँ तक पराशक्ति का प्रश्न है, उसे रूपातीत कहते हैं। यह व्यापारवती होने पर भी अनामय दशा मानी जाती है ॥ ४१ ॥

इसी तरह शिखरतत्त्व, शिव जिसे विचक्षण पुरुष निष्प्रपञ्च, निराभास, शुद्ध और स्वात्मस्थ कहते हैं, उसे सर्वातीत संज्ञा से विभूषित करते हैं। उक्त सभी भेद प्रभेदों के मेयात्मक विज्ञान से ऊपर उठकर जो साधक सर्वातीत विज्ञान का वेत्ता बन जाता है, वह उसे जानते ही मुक्त हो जाता है[5] ॥ ४२ ॥

पिण्डस्थ को चार प्रकार का माना जाता है। क्रमशः इनके नाम इस प्रकार हैं—१. अबुद्ध, २. बुद्ध, ३. प्रबुद्ध और ४. सुबुद्ध। इसी तरह पदस्थ भी चार प्रकार के माने जाते हैं ॥ ४३ ॥

---

१. ग० पु० उच्यते इति पाठः ; २. तं० रूप संस्थमिति पाठः ;
३. श्रीत० १०।२८४ ; ४. तदेव १०।२८५ ;
५. श्रीत० १०।२८६

उदितं विपुलं शान्तं सुप्रसन्नमथापरम् ।
मनोन्मनमनन्तं च सर्वार्थं सततोदितम् ॥ ४५ ॥
प्रचये तत्र संज्ञेयमेकं तन्महति स्थितम् ।
इत्येवं पञ्चधाध्वानं त्रिधेदानीं निगद्यते ॥ ४६ ॥
विज्ञानाकलपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम् ।
ईश्वरान्तं च विद्याह्वं शेषं शिवपदं विदुः ॥ ४७ ॥
एवं भेदैरिमैर्भिन्नस्तत्राध्वा परिकीर्तितः ।
युगपत्सर्वमार्गाणां प्रभेदः प्रोच्यतेऽधुना ॥ ४८ ॥

रूप भी चार प्रकार के होते हैं। उन्हें क्रमशः १. गतागत, २. सुविक्षिप्त, ३. संगत और ४. सुसमाहित[१] संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। यह रहस्ययोग के चिन्तन में रत रहने वाले लोगों को ज्ञात होता है। ज्ञात न होने से गुरु द्वारा इसको अवश्य जान लेना चाहिये ॥ ४४ ॥

१. उदित, २. विपुल, ३. शान्त, ४. सुप्रसन्न, ५. मनोन्मन, ६. अनन्त, ७. सर्वार्थ—ये प्रचय की संज्ञायें हैं।

यहाँ जिस सततोदित[२] संज्ञा का उल्लेख है, वह तन्महसि अर्थात् महाप्रचय की संज्ञा है। श्रीतन्त्रालोक के अनुसार सततोदित शब्द तुर्यातीत को सर्वव्यापकता को व्यक्त करता है। वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं होता। इस प्रकार यहाँ तक समावेश मार्ग के पञ्चधा विस्तार को प्रकट किया गया है ॥ ४५-४६ ॥

इसके बाद त्रिधाविस्तार[३] का वर्णन कर रहे हैं—

विज्ञानाकल पर्यन्त आत्मतत्त्व माना जाता है। ईश्वर पर्यन्त विद्यातत्त्व और शेष शिवतत्त्व। यह त्रितत्त्व का विस्तारात्मक रहस्य है। वस्तुतः एक तत्त्व की दृष्टि से परमशिव ही शिखर तत्त्व माने जाते हैं[४] ॥ ४७ ॥

इस प्रकार यह अध्वा अर्थात् तत्त्वमार्ग का विस्तार वर्णित किया गया है। इसी को एक, तीन और पाँच की भेद-भिन्नता मानते हैं।[५] इस कथन के बाद युगपत् अर्थात् एक साथ ही यहाँ सभी मार्गों के भेदप्रभेद का कथन करने जा रहे हैं ॥ ४८ ॥

---

१. तदेव १०।२५२ ; २ श्रीत० आ० १०।२७७-२८३ ;
३. श्रीत० ११।३४ ; ४. श्रीत० ११।३४-३५; ५. श्रीत० १।२९६

पार्थिवं प्राकृतं चैव मायीयं शाक्तमेव च ।
इति संक्षेपतः प्रोक्तमेतदण्डचतुष्टयम् ॥ ४९ ॥

पृथग्द्वयमसंख्यातमेकमेकं पृथक् पृथक् ।
आद्यं धारिकया व्याप्तं तत्रैकं तत्त्वमिष्यते ॥ ५० ॥

एकमेकं पृथक् क्षार्णं पदार्णमनुषु स्मरेत् ।
कालाग्निभुवनाद्यावद्वीरभद्रपुरोत्तमम् ॥ ५१ ॥

वस्तुतः अण्डचतुष्टय के परिवेश में ही सभी मार्ग पल्लवित पुष्पित होते हैं। अतः सभी मार्गों से सम्बद्ध प्रभेद यहाँ कहे जा रहे हैं। ये अण्ड चार होते हैं— १. पार्थिव, २. प्राकृत, ३. मायीय और ४. शाक्त। पार्थिव अण्ड निवृत्तिकला से सम्पृक्त है। प्रतिष्ठा कला प्रकृति (अव्यक्त) में, विद्या कला माया में और शान्ता शक्तितत्त्व में उल्लसित हैं। इन्हें क्रमशः १. पार्थिव, २. प्राकृत, ३. मायीय और ४. शाक्त अण्ड कहते हैं।[1] संक्षेप में केवल इनका कथन मात्र यहाँ किया गया है ॥ ४९॥

अण्ड एक प्रकार के आवरण होते हैं। इनमें ही भुवन विभाग रूपी कार्य होते हैं। अण्ड कारण रूप माने जाते हैं। इन चारों में आदि के दो अर्थात् पार्थिव और प्राकृत असंख्यात रूप से विस्तार युक्त हैं। इनके पृथक् वर्गीकरण के कारण प्रत्येक पृथक्-पृथक् अपने अस्तित्व में सुरक्षित हैं। जैसे पार्थिव अण्ड पर विचार करने पर यह समझ में आता है कि, निवृत्ति में पृथिवी एक मात्र तत्त्व है। इसकी शक्ति का नाम धारिका शक्ति है। यह दिखलायी नहीं पड़ती किन्तु धरा तत्त्व धारिका से व्याप्त होता है। जैसे धरा में धारिका, शक्ति है, इसी तरह इसमें निवृत्ति कला का भी आधान होता है। इसका अर्थ हुआ कि, तत्त्वों में जो गुण होते हैं, तदनुकूल ही उनके नाम भी होते हैं। इसी तरह कुछ अन्य विशिष्ट गुण भी होते हैं। उसके कारण अन्य तत्त्वों से उसका व्यवच्छेद या व्यावर्त्तन भी होता है ॥ ५० ॥

व्यञ्जनों में एक-एक स्वतन्त्र वर्ण होते हैं। व्यंजनों के प्रत्याहार रूप 'क्ष' वर्ण का अस्तित्व पृथक् घोषित किया जाता है। आदि में 'क' वर्ण और अन्त 'ष' वर्ण मिलकर 'क्ष' वर्ण की रचना करते हैं। सम्पूर्ण व्यंजन वर्णों का यह प्रत्याहार वर्ण है। इसे चक्रेश्वर भी कहते हैं[2]। इसे महामाहेश्वर अभिनव गुप्त ने 'सर्वसंयोग ग्रहणात्मा' की संज्ञा से विभूषित किया है। इसे विभु कहा है।[3] श्री तन्त्रालोक

---

१. श्रोत० ११।८;   २. तदेव—३।१८१;   ३. तदेव ६।२३६

पुरषोडशकं ज्ञेयं षड्विधोऽध्वा प्रकीर्तितः ।
आप्यायिन्या द्वितीयं च तत्र तत्त्वानि लक्षयेत् ॥ ५२ ॥

(११।४९) ४९ में इसकी चर्चा है। यही वर्ण १ पद और १ मन्त्र के साथ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी तीन अर्धमात्रायें शरीर के ८४ अंगुल के विभाग पूरी करने के साथ 'एकाशीतिपदा देवी' के कथन को भी चरितार्थ करतीं हैं। वर्ण तो यह स्वयं है ही, इसके तीन पद भी अर्धमात्राओं के द्वारा स्पष्ट भासित होते हैं। साथ ही इसमें मन्त्र शक्ति का भी आधान है। अनुत्तर शिव-तत्त्व रूप ककार शक्ति रूप विसर्ग ही क्षकार संघट्ट है। इस तरह इसे कूटबीज मन्त्र भी कहते हैं।[1] अतः १ पद, १ वर्ण और १ मन्त्र के मोक्षार्थ के स्मरण का निर्देश भगवान् शङ्कर दे रहे हैं। क्रोधराज, विद्याराज आदि मन्त्रों का यह आदि वर्ण मन्त्र है।[2] 'क' अनुत्तर तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। इसी तरह 'सकार' विसर्ग रूप होने से पद, वर्ण और मन्त्र रूप तीन अध्वा वर्ग के बीज भी इसमें विद्यमान हैं। यह निवृत्तिकला में एक पद, एक मन्त्र और एक मात्र वर्ण है। इसी के अन्तराल में सोलह पुरों का परिकल्पन मनीषी करते हैं।

पार्थिव अण्ड में धारिका शक्ति के वर्णन सन्दर्भ में धरा के घृति-क्षेत्र में पुरषोडशक अर्थात् १६ पुरों की चर्चा कर रहे हैं। भगवान् शिव कहते हैं कि, [3]कालाग्नि भुवन से वीरभद्र[4] भुवन तक १६ भुवन होते हैं। यहाँ तक तीन अध्वा का प्रभाव क्षेत्र माना जाता है।[5] इन भुवनों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— १. कालाग्नि, २. नरकेश, कूष्माण्ड, ३. पातालेश, हाटक, ४. भूतलेश ब्रह्मा, ५. मुनिलोक, ये पाँच रुद्रभुवन कहलाते हैं। ६. अनन्त, ७. कपालीश, ८. अग्नि, ९. यम, १०. नैऋत, ११. बल, १२. शीघ्र, १३. निधीश्वर, १४. विद्येश्वर, १५. शम्भु। इसके साथ ही १६वाँ वीरभद्र भुवन। इसे ही पुरुषोडशक कहते है। इसकी कलना निवृत्ति कला में ही की जाती है।

आप्यायनी प्रतिष्ठा कला को कहते हैं। निवृत्ति के बाद ही इस कला का प्रभाव-क्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है। प्रतिष्ठा कला इसी आप्यायनी शक्ति से विश्व को स्थिति प्रदान करती हैं। वहाँ कौन-कौन से तत्त्व होते हैं, उनको परिलक्षित करना चाहिये ॥ ५१-५२ ॥

---

१. श्रीत० ३।१८० ; २. श्री स्वच्छन्द तन्त्र १।७८।८५ ;
३ श्रीत० ८।१६५; स्व०तन्त्र १०।८६०; १०।११-२९, श्रीत० ६।१७१ ;
४ स्व०तन्त्र १०।१०४२ ; ५. श्रीत० ८।४३७-४६०, ११।११

त्रयोविंशत्यवादीनि तद्वद्वाद्यक्षराणि च ।
पदानि पञ्च मन्त्राश्च षट्पञ्चाशत्पुराणि च ॥ ५३ ॥
तत्त्वानि सप्त बोधिन्या तच्चतुर्धा पुराणि च ।
तृतीये सप्त वर्णाः स्युः पदमन्त्रद्वयं द्वयम् ॥ ५४ ॥
उत्पूयिन्या चतुर्थं तु तत्र तत्त्वत्रयं विदुः ।
वर्णत्रयं मन्त्रमेकं पदमेकं च लक्षयेत् ॥ ५५ ॥
अष्टादश विजानीयाद्भुवनानि समासतः ।
शिवतत्त्वं परं शान्तं कला तत्रावकाशदा ॥ ५६ ॥
स्वरषोडशकं मन्त्रं पदं चैकं विलक्षयेत् ।
इत्येवं षड्विधोऽध्वा समासात्परिकीर्तितः ॥ ५७ ॥

उन्हीं तत्त्वों का कथन भगवान् इस श्लोक में कर रहे हैं। उनके अनुसार प्रतिष्ठा कला में अप्तत्त्व से लेकर अव्यक्त पर्यन्त अग्नि+नयन=२३ तत्त्वों का परिगणन होता है। ह से लेकर ङ् पर्यन्त २३ वर्ण भी इसमें परिगणित हैं। इसमें ५ मन्त्र, ५ पद और ५६ भुवनों का उल्लेख भगवान् शङ्कर ने किया है ॥ ५३ ॥

बोधिनी विद्या कला को कहते हैं। इसमें सात तत्त्व, सात वर्ण, दो मन्त्र और दो ही पद भी होते हैं। इसके भुवनों की संख्या २८ है।[1] इसमें पुर की संख्या वसु ८ और असि २ की वामपरिगणना के अनुसार २८ भुवन निर्धारित हैं ॥ ५४ ॥

उत्पूयिनी तुर्या शान्ता कला की पर्याय है। इसमें तीन तत्त्व, एक पद, एक मन्त्र और तीन वर्ण होते हैं। इसे पवित्री भी कहते हैं। 'पूञ् पवने' धातु से निष्पन्न यह शब्द जाड्य आदि असार आवरणों का निराकरण कर साधक को पावनता की ओर प्रेरित करता है। इसमें भुवनों की संख्या अट्ठारह मानी जाती है। संक्षेप से इस प्रकार उत्पूयिनी का वर्णन यहाँ किया गया है।

शान्ता कला के अनन्तर शान्त्यतीता कला आती है। स्वयं श्री भगवान् शिव 'परं शान्तं' शब्द से परिभाषित करते हैं। शान्त्यतीता को यहाँ अवकाशदा कला से संज्ञापित करते हैं। इसमें सोलह स्वर ही वर्ण रूप से गृहीत हैं। मन्त्र और पद ये दोनों एक ही होते हैं। इसमें किसी भुवन का आकलन नहीं होता। मात्र शैवोधाम का महावकाश ही सर्वत्र व्याप्त रहता है। इस प्रकार वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन विभाग क्रम से छह प्रकार के अध्वा यहाँ तक वर्णन के विषय बनाये गये हैं ॥ ५५-५७ ॥

1. श्रीत० ११।५२

शुद्धाशुद्धं जगत्सर्वं ब्रह्माण्डप्रभवं यतः ।
तस्माच्छुद्धमिमैः शुद्धैर्ब्रह्माण्डैः सर्वमिष्यते ॥ ५८ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्चेति सुव्रते ।
पृथगेतेषु बोद्धव्यं शान्तं पतिचतुष्टयम् ॥ ५९ ॥
यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वं उच्यते ।
एतत्ते कथितं सर्वं किमन्यत्परिपृच्छसि ॥ ६० ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे व्याप्त्यधिकारो द्वितीयः ॥ २ ॥

यह सारा जगत् ब्रह्मरूप शैव अण्ड से ही निष्पन्न (प्रादुर्भूत) होता है। यह सितासित होने से शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का होता है। शुद्ध अध्वा में पाँच मुख्य तत्त्व परिगणित हैं। अशुद्ध अर्थात् सितेतर} सृष्टि में माया अनन्तेश्वर को कर्त्ता बनाकर धरापर्यन्त ३१ तत्त्वों का विस्तार करा देती है। इसमें पतिचतुष्टय की परिकल्पना है। भगवान् कहते हैं कि, १. ब्रह्मा, २. विष्णु, ३. रुद्र, और ४. ईश्वर ही ब्रह्माण्डाधिपति माने जाते हैं। स्ववपुः शुद्धि में अध्वा भी शुद्ध हो जाते हैं। यह सिद्धान्त वाक्य है कि, जो गुणों में उत्कृष्ट होता वही श्रेष्ठ और उससे अपेक्षाकृत ऊर्ध्व ही होता है। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि,

पार्वति ! तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर में इस प्रकार की शास्त्रीय चर्चा सम्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त यदि तुम कुछ पूछना चाहती हो, तो उसका भी उत्तर देने के लिए मैं तैयार हूँ ॥ ५८-६० ॥

षडध्व विज्ञान की तालिका—

क्रम	कला	तत्त्व	भुवन	वर्ण	पद	मन्त्र
१.	निवृत्ति	१	१६	१	१	१
२.	प्रतिष्ठा	२३	५६	२३	५	५
३.	विद्या	७	२८	७	२	२
४.	शान्ता	३	१८	३	१	१
५.	शान्त्यतीता	१+१=२	०	१६	१	१
	योग	३६	११८	५०	१०	१०

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपश्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रका
षडध्वविज्ञान रूप द्वितीय अधिकार का
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा भाष्य परिसम्पन्न
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥



अथ तृतीयोऽधिकारः

एवमुक्ता महादेवी जगदानन्दकारिणा ।
प्रणिपत्य पुनर्वाक्यमिदमाह जगत्पतिम् ॥ १ ॥

एवमेतन्महादेव नान्यथा समुदाहृतम् ।
यथाख्यातं तथा ज्ञातमादितः समनुक्रमात् ॥ २ ॥

शिवादिवस्तुरूपाणां वाचकान्परमेश्वर ।
साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि प्रसादाद्वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

स्हो:

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेक भाषा भाष्य संवलितम्

तृतीयोऽधिकारः

[३]

महेश्वर द्वारा इस प्रकार अभिमन्त्रित करने पर देवी महादेवी पार्वती के हृदय में आनन्द का महासमुद्र उद्वेलित हो उठा। उन्होंने यह अनुभव किया कि, विश्वेश्वर शिव हमें 'जगदानन्द' से ओतप्रोत करना चाहते हैं। उनकी बातें सुनकर श्रद्धा और ग्राहिका शक्ति की प्रतीक पार्वती ने उनको सर्वप्रथम प्रणिपात पूर्वक प्रणाम किया। तदनन्तर जगदीश्वर से उन्होंने इस तरह कहना प्रारम्भ किया—

महादेव ! आपने इस प्रकार अध्व विज्ञान का जो चित्र खींचा है, वह ध्रुव सत्य है। वह अन्यथा नहीं हो सकता है। आप द्वारा व्यक्त इस महत्त्वपूर्ण विज्ञान को आज तक किसी ने व्यक्त नहीं किया था। आदि से लेकर यहाँ तक आपने जो कुछ क्रमिक रूप से कहा है, मैंने उसे उसी क्रम और उसी रूप में मन्त्रवत् धारण कर लिया है। यथार्थ रूप से मैंने उसे ज्ञात भी कर लिया है—यह विश्वास मैं आपको दिला रही हूँ।

इत्युक्तः स महेशान्या जगदार्तिहरो हरः ।
वाचकानवदन्मन्त्रान्पारम्पर्यक्रमागतान् ॥ ४ ॥

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ॥ ६ ॥

भगवन् ! अब मेरी यह इच्छा है कि, शिव से लेकर समस्त वस्तु सत् के वाचक तत्त्वों को आप से ही मैं सुनूँ। परमेश्वर ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं। मैं पूर्णतया ग्राहिका शक्ति से सम्पन्न होकर यह तथ्य आप से सुनने को तत्पर हूँ। कृपा कर इस रहस्य का उद्घाटन कर हमें अनुगृहीत करें ॥ १-३ ॥

महेशानी माता पार्वती के द्वारा इस प्रकार प्रार्थित महेशान भगवान् हर जो समस्त विश्व की व्यथा और वेदना तथा पीड़ा का करुणा पूर्वक हरण करते रहते हैं, वे उनकी अभ्यर्थना से प्रसन्न हो उठे। उन्होंने परम्परा से चले आने वाले प्रचलित वाचक मन्त्रों के विषय में बतलाना प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम उन्होंने जगत् के धारण, निर्माता, प्रणेता, पालक, रचयिता [धा+तृच्] शिव की समवायिनी शक्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट किया कि, वह समवायिनी शक्ति सिसृक्षु अर्थात् सृष्टि के सर्जन की समीहा के आधार भगवान् की इच्छा के रूप में ही प्रतिपन्न होती है। यहाँ 'इच्छात्वं' साङ्केतिक प्रयोग से यह भी अभिव्यक्त कर दिये हैं, कि वह स्वातन्त्र्यमात्रसद्भावा इच्छा शक्ति[1] तुम्हीं हो। यहाँ सिसृक्षु शब्द में सन्नन्त के माध्यम से पूर्व में इच्छा की विद्यमानता का बोध होता है। सिसृक्षु में जो इच्छा है, उस इच्छात्व की पश्चात् प्रतिपत्ति की बात शिव नहीं कर रहे हैं। उनके कहने का तात्पर्य है कि, उनमें समवायिनी रूप में से जो शक्ति विमर्श रूप से पहले से ही है, वही इच्छा भाव में उल्लसित हो जाती है ॥ ५ ॥

यद्यपि वह एक है, फिर भी अनेकत्व का वरण करती है। वह इस आनन्त्य को किस प्रकार प्राप्त करती हैं, वही वास्तविक ज्ञेय वस्तु है। मैं तुमसे यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। ध्यानपूर्वक तुम इसे सुनो। 'एवम् एतत्' 'यह ऐसा ही है' यह जानकारी अनिवार्यतः आवश्यक है। यही जानने योग्य है—ज्ञेय है। जो ऐसा ही है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यह सुनिश्चित सत्य है। यही ज्ञेय है। भगवान्

---

१. श्रोत० १०।१७,

ज्ञापयन्तो जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।
[1]एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ॥ ७ ॥

जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वंत्यत्र क्रियोच्यते ।
[2]एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम्[3] ॥ ८ ॥

लोट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन का प्रयोग कर भगवती के सुनने के एकमात्र अधिकार का अभिव्यञ्जन कर रहे हैं। साथ ही उनको ग्राहिका शक्ति की अप्रस्तुत प्रशंसा भी ॥ ६ ॥

यहाँ तक 'इच्छा शक्ति' का संक्षेप रूप से कथन करने के उपरान्त 'ज्ञान शक्ति' का समुदीरण कर रहे हैं। जब सृष्टि की समीहा में उच्छलन होता है और निर्मिति की स्फुरता प्रादुर्भूत होती है, उस समय यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है कि, यह बनने को उद्यत वस्तु कैसी हो? इसी ऊहापोह को दूर कर वस्तु-स्वरूप को निर्धारित करने वाली शक्ति स्फुरित होती है। वह कहती है—इदं वस्तु एवं भूतं भवतु' अर्थात् यह भवितव्य वस्तु इस प्रकार की रूपरेखा और आकार-प्रकार वाली बने। अत्र अर्थात् इस वैचारिक सन्दर्भ में वह शक्ति उस वस्तु का ज्ञापन करती है। ज्ञापन करने के कारण ही उसे शास्त्र ज्ञानशक्ति कहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा वह जानता है और वैसा ही करता भी है। इच्छा शक्ति ही करण बन जाती है। इसी से जानता और करता है[4] ॥ ७ ॥

इच्छा शक्ति के माध्यय से वस्तु के उन्मिषत् स्वरूप का ज्ञानशक्ति द्वारा निर्धारण होने पर उसे उस रूप में परणित करने के लिये 'तद्वत् कुर्वंती' अर्थात् उसी तरह सम्पन्न करने के लिये वह जो कुछ करने लगती है, उसे करने वाली शक्ति ही क्रिया शक्ति कहलाती है। इस प्रकार इच्छा शक्ति ज्ञापयन्ती अवस्था में ज्ञान शक्ति और कुर्वती अवस्था में क्रिया शक्ति कहलाती है। इन दो रूपों में आकर यह द्विरूपा तो हो जाती है किन्तु इसके अन्य भी भेद प्रभेद होते हैं। इन भेदों के आधार पर यह अनेकता प्राप्त कर लेती है ॥ ८ ॥

---

१ स्प० प्र० एवंभूतमिद सर्वमिति कार्योन्मुखो यदा इति पाठः ;

२. क० पु० एवमेषेति पाठः ;

३. क० पु० भेदैरनन्ततामिति पाठः ;

४. 'तया वेत्ति करोति च' श्रीत० १०।१७ ;

५. स्व० १२।१२०४-१२०६

अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।
तत्र तावत्समापन्ना[1] मातृभावं विभिद्यते ॥ ९ ॥

द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी ।
बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद् द्विधा बीजं स्वरा मताः ॥ १० ॥

कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधा वर्गभेदतः ।
[2]प्रतिवर्णविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला ॥ ११ ॥

सर्व शक्तिमती भगवती जिस अनेकता को प्राप्त करती है, उसका प्रधान कारण अर्थोपाधि है। चिन्तामणि की यह विशेषता होती है कि, वह चित्त के अनुसार अनेक रूपों में साधक बुभुक्षुओं की चिन्ता पूरी करती हैं। उसी तरह यह भी जिस अर्थ का चिन्तन साधक करता है, तदनुकूल यह स्वयं व्यक्त होती रहती है। उस रूप में समापन्ना यह शक्ति विभेद को प्राप्त कर अनेकता को अपना लेती है। इसका एक क्रिया विशेषण इसमें 'मातृभावं' दिया गया है। मातृभाव के दो अर्थ हैं—१. शक्ति भाव और २. प्रमात्री भाव। दोनों दृष्टियों से इसकी अनेकता सिद्ध होती है ॥ ९ ॥

पहले तो यह द्विधा रूप में विभक्त होती है। इसी तरह इसका नवधा निर्धारण होता है। फिर यही ५० रूपों में अपने को ढाल लेती हैं। उस समय वह 'मातृका' और 'मालिनी' संज्ञा से विभूषित होती है। इसका द्विधात्व बीज और योनि रूपों में व्यक्त हो जाता है। जितने भी स्वर वर्ण हैं, सभी बीजाक्षर कहलाते हैं[3] ॥ १० ॥

जहाँ तक योनि वर्णों का प्रश्न है, भगवान् कहते हैं कि, 'कादिभिश्च स्मृता योनिः' अर्थात् 'क' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त जितने व्यञ्जन हैं, उन्हें योनि कहते हैं। यह नव प्रकार की होती है। इस भेद के कारण 'वर्ग' हैं और वर्ग भी नव ही होते हैं। जैसे—१. कवर्ग, २. चवर्ग, ३. टवर्ग, ४. तवर्ग, ५. पवर्ग, ६. यवर्ग, ७. शवर्ग ८. अवर्ग और ९. चक्रेश्वर 'क्ष'-यह योनिवर्ग है। इसकी संख्या नव होती है। 'क' से लेकर 'क्ष' तक ३४ वर्ण योनि वर्ण माने जाते हैं। प्रतिवर्ण विभेद के आधार पर सोलह स्वर वर्णों और ३४ व्यञ्जनों को मिलाकर ५० वर्णों की मातृका शतार्ध किरणों से उज्वला की संज्ञा से विभूषित की जाती है।

---

१. शि० वि० समापन्नमातृभावा इति पाठः; २. शि० वि० पृथग्वर्णविभेदेनेति पाठः;
३. श्रीत० ३।२३३

बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ।
वाचकत्वेन सर्वापि शम्भोः शक्तिश्च शस्यते ॥ १२ ॥

वर्गाष्टकमिह ज्ञेयमघोराद्यमनुक्रमात् ।
तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम् ॥ १३ ॥

वस्तुतः ये सभी वर्ण प्रकाशात्मिका परावाक् से पश्यन्ती की रश्मिमाला में उतर कर मध्यमा में अव्यक्त रूप से उन्मिष्यमाण होते हुए वैखरी भाव में अपनी उज्ज्वलता का प्रसार करने में समर्थ हो जाते हैं। मातृका के ये बीज और योन्यात्मक वर्ण अपनी अर्थ प्रसर की सरणी में भाव का प्रकाशन ही तो करते हैं। इसलिये मातृका 'शतार्धकिरणोज्ज्वला' मानी जाती है—यह कथन सत्य की कसौटी पर खरा उतरता है ॥ ११ ॥

बीज स्वयं साक्षात् शिव ही हैं। इसी तरह योनि शब्द शक्ति अर्थ में ही व्यवहृत होता है। योन्यात्मक शक्तिमत्ता बीजात्मक शिव की वाचिका बनने का सौभाग्य प्राप्त करती है। यह ध्यान देने की बात है कि शक्ति स्वयं शिव की ही शक्ति है। वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ और तात्पर्यार्थ से वाचिका का कार्य निर्वहन करती है ॥ १२ ॥

योनि को शक्ति की संज्ञा से भी विभूषित करते हैं। इसके आठ वर्ग प्रसिद्ध ही हैं। बीज का एक वर्ग पृथक् परिभाषित है, जो सोलह स्वर वर्णों से समन्वित है। उसकी स्वरूप रेखा इस तरह प्रकल्पित की जा सकती है।

क्रम सं०		वर्ग	वर्ण	पुरुष भाव की संज्ञा	शक्ति भाव संज्ञा
१.		अवर्ग	१६	शम्भु बीजभाव	योनि शक्ति
वर्गाष्टक					
२.	१	कवर्ग	५	अघोर	माहेश्वरी
३.	२	चवर्ग	५	परमघोर	ब्राह्मी
४.	३	टवर्ग	५	घोररूप	कौमारी
५.	४	तवर्ग	५	घोरमुख	वैष्णवी
६.	५	पवर्ग	५	भीम	ऐन्द्री
७.	६	यवर्ग	४	भीषण	याम्या
८.	७	शवर्ग	४	वमन	चामुण्डा
९.	८	चक्रेश्वर	१	पिबन	योगीशी

माहेशी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगीशी चेति ता मताः ॥ १४ ॥

शतार्धभेदभिन्नानां तत्संख्यानां वरानने ।
रुद्राणां वाचकत्वेन कल्पिताः परमेष्ठिना ॥ १५ ॥

तद्वदेव च शक्तीनां तत्संख्यानमनुक्रमात् ।
सर्वं च कथयिष्यामि तासां भेदं यथा शृणु ॥ १६ ॥

अमृतोऽमृतपूर्णश्च अमृताभोऽमृतद्रवः ।
अमृतौघोऽमृतोर्मिश्च अमृतस्यन्दनोऽपरः ॥ १७ ॥

अमृताङ्गोऽमृतवपुरमृतोद्गार एव च ।
अमृतास्योऽमृततनुस्तथा चामृतसेचनः ॥ १८ ॥

तन्मूर्तिरमृतेशश्च सर्वामृतधरोऽपरः ।
षोडशैते समाख्याता रुद्रबीजसमुद्भवाः ॥ १९ ॥

श्लोक संख्या ११ के अनुसार बीज और योनि को मिलाकर नव वर्ग और श्लोक १३ के अनुसार योनि के आठ वर्ग होते हैं। यही विवरण ऊपर दिया गया है। अघोर आदि को अघोराष्टक और शक्तियों को माहेश्वर्यादि अष्टक कहते हैं। अघोरादि का उल्लेख प्रथम अधिकार के श्लोक १९-२० में भी किया गया है। शक्तियों के नाम—१. माहेश्वरी, २. ब्राह्मणी, ३. कौमारी, ४. वैष्णवी, ५. ऐन्द्री, ६. साम्या ७. चामुण्डा और ८. योगीशी है ॥ १३-१४ ॥

बीज और योनि वर्णों की संख्या शतार्ध भेद भिन्ना अर्थात् ५० मानी जाती है। परमेष्ठी द्वारा कल्पित इनके बीजाक्षर ही १६ रुद्रों के वाचक वर्ण हैं ॥१५॥

इसी तरह शक्ति वर्णों की संख्या भी इतनी ही है ये शाक्त रुद्रों के वाचक माने जाते हैं। भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, मैं स्वयम् इनके नाम वर्णों की संख्या के अनुसार कहने जा रहा है। तुम इन्हें ध्यान से सुनो ॥ १६ ॥

रुद्र बीज समुद्भूत १६ रुद्रों के नाम वर्णानुसार इस प्रकार हैं—१. अ–अमृत, २ आ–अमृतपूर्ण, ३ इ–अमृताभ, ४. ई–अमृतद्रव, ५. उ–अमृतौघ, ६. ऊ–अमृतोर्मि, ७ ऋ–अमृतस्यन्दन, ८. ॠ–अमृताङ्ग, ९. ऌ–अमृतवपु, १०. ॡ–अमृतोद्गार, ११. ए–अमृतास्य, १२. ऐ–अमृततनु, १३. ओ–अमृतसेचन १४. औ–

जयश्च विजयश्चैव जयन्तश्चापराजितः ।
सुजयो [1]जयरुद्रश्च जयकीर्तिर्जयावहः ॥ २० ॥
जयमूर्तिर्जयोत्साहो जयदो जयवर्धनः ।
बलश्चातिबलश्चैव बलभद्रो बलप्रदः ॥ २१ ॥
बलावहश्च बलवान् बलदाता बलेश्वरः ।
नन्दनः सर्वतोभद्रो भद्रमूर्तिः शिवप्रदः ॥ २२ ॥
सुमनाः स्पृहणो दुर्गो भद्रकालो मनोनुगः ।
कौशिकः कालविश्वेशौ सुशिवः कोप एव च ॥ २३ ॥
एते योनिसमुद्भूताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकीर्तिताः ।
स्त्रीपाठवशमापन्ना एत एवात्र शक्तयः ॥ २४ ॥
बीजयोनिसमुद्भूता रुद्रशक्तिसमाश्रयाः ।
वाचकानामनन्तत्वात्परिसंख्या न विद्यते ॥ २५ ॥

अमृतमूर्त्ति, १५. अं-अमृतेश, १६. अः—सर्वामृतधर। ये १६ स्वर बीज वर्णों के साथ उनसे ही उत्पन्न रुद्रों के नाम हैं। ये भी १६ ही अमृतमय रुद्र हैं ॥ १८-१९ ॥

योनि समुद्भूत ३४ रुद्रों का क्रम इस प्रकार है—१. क—जय, २. ख—विजय, ३, ग—जयन्त, ४. घ—अपराजित, ५. ङ—सुजय, ६. च—जयरुद्र, ७. छ—जयकीर्त्ति, ८. ज—जयावह, ९. झ—जयमूर्त्ति, १०. ञ—जयोत्साह, ११. ट—जयद, १२. ठ—जयवर्धन, १३. ड—बल, १४. ढ—अतिबल, १५. ण—बलभद्र, १६. त—बलप्रद, १७. थ—बलावह, १८. द—बलवान्, १९. ध—बलदाता, २०. न—बलेश्वर, २१. प—नन्दन, २२. फ—सर्वतोभद्र, २३. ब—भद्रमूर्त्ति, २४. भ—शिवप्रद, २५. म—सुमना, २६. य—स्पृहण, २७. व—दुर्ग, २८. र—भद्रकाल २९. ल—मनोनुग, ३०. श—कौशिक, ३१. ष—काल, ३२. स—विश्वेश, ३३. ह—सुशिव, ३४. क्ष—कोप।

ये वर्णों के क्रमानुसार शाक्त रुद्र हैं। योनि वर्णों से उत्पन्न ये स्त्री पाठ वशीभूत माने जाते हैं। इसीलिये इन्हें शक्ति रूप अर्थात् शाक्त कहते हैं ॥ २०-२४ ॥

बीज और योनि से निष्पन्न रुद्रशक्ति का आश्रय ग्रहण करने वाले वाचकों

---

१. क० पु० जयभद्र इति पाठः ।

सर्वशास्त्रार्थगर्भिण्या इत्येवंविधयानया ।
अघोरं बोधयामास स्वेच्छया परमेश्वरः ॥ २६ ॥

स तया संप्रबुद्धः सन्योनिं विक्षोभ्य शक्तिभिः ।
तत्समानश्रुतीन्वर्णांस्तत्संख्यानसृजत्प्रभुः ॥ २७ ॥

की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। ये अनन्त होते हैं। इसी आनन्त्य के कारण इनके परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये भगवान् स्पष्ट घोषित करते हैं कि, इनकी कोई परिसंख्या नहीं होती ॥ २५ ॥

परमेश्वर की कृपा का यह महत्त्वपूर्ण प्रतिफल है, एक तरह का यह वरदान ही है कि, उन्होंने स्वेच्छा से एक ऐसी प्रवचन-विधा अपनायी, जिसमें उनकी इच्छा का पुट था। उसमें सारे शास्त्रों के रहस्यार्थ ओत-प्रोत थे। यह विधि उद्बोधन प्रदान करने की विशिष्ट विधि है, जिसमें सभी रहस्य भरे पड़े रहते हैं। श्लोक के 'अनया' और 'एवं विधया' शब्दों के द्वारा इस पर विशेष बल दिया गया है। 'स्वेच्छा' शब्द में किसी से प्रेरित होकर नहीं, अपितु स्वयं सबकी श्रेयः सिद्धि की आकांक्षा से ही परमेश्वर ने 'अघोर' को उद्बोधित किया था। इस श्लोक का 'अघोर' शब्द विज्ञान केवलों के अघोराष्टक का अघोर[1] तत्त्व है। स्वयं परमेश्वर ने अघोर परमेश्वर से यह ज्ञान प्राप्त किया था, वे 'अघोर'[2] परमेश्वर को भी उद्बोधित करने वाले उच्च श्रेणी के रुद्र हैं ॥ २६ ॥

स्वेच्छा से प्रवर्तित परमेश्वर को प्रेरणा प्रदान करने वाली वाणी से सम्यक् रूप से विशिष्ट अर्थों की रहस्यभरी वाक्यावली से बोध को प्राप्त कर सके। अर्थात् संबुद्ध हो गये। पूरी तरह रहस्यार्थ के अवबोध से कृतार्थ हो गये। अघोर ने अघोर शक्तियों अर्थात् माहेशी आदि के माध्यम से योनि की व्यञ्जना धारा को विक्षुब्ध किया। योनि रूप अमृत में क्षोभ (स्पन्दन) उत्पन्न किया। परिणाम स्वरूप उसी की समानतामयी श्रुति वाले उतनी ही संख्या के वर्णों को उत्पन्न किया। पहले लिखा गया है कि, योनि समुद्भूत ३४ शक्तिमन्त[3] भी उत्पन्न किये गये थे। उन्हीं के समान, उन्हीं के अर्थों से संवलित, उतनी संख्या में ही वर्ण भी उत्पन्न हुए ॥ २७ ॥

---

१. मा० वि० १।१९ ;   २. मा० वि० १।१४ ;
३. मा० वि० ३।२०-२४

ते[1] तैरालिङ्गिताः सन्तः सर्वकामफलप्रदाः ।
भवन्ति साधकेन्द्राणां नान्यथा वीरवन्दिते ।। २८ ।।

तैरिदं सन्ततं विश्वं सदेवासुरमानुषम् ।
तेभ्यः शास्त्राणि वेदाश्च सम्भवन्ति पुनः पुनः ।। २९ ।।

अनन्तस्यापि भेदस्य शिवशक्तेर्महात्मनः ।
कार्यभेदान्महादेवि त्रैविध्यं समुदाहृतम् ।। ३० ।।

विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून्याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ।। ३१ ।।

ये वर्ण जय आदि शक्तिमन्त रुद्रों से आलिङ्गित होते हैं अर्थात् प्रतिवर्ण अपने रुद्र की शक्ति से ओत-प्रोत होता है। परिणामस्वरूप इनमें अर्थात् इन वर्णों में प्रयोक्ता के सभी कामों की पूर्ति की शक्ति होती है। ये वर्ण सारी कामनाओं के कल्पवृक्ष ही हैं। साधक शिरोमणि इन वर्णों की इन शक्तियों को पहचानते हैं। अनुकूल वर्णों के प्रयोग से इच्छित फल की प्राप्ति करने में समर्थ हो जाते हैं। भगवान् शिव माँ पार्वती को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, वीर-वन्दिते! हे सिद्धों द्वारा प्रार्थित देवि! यह मेरा कथन ध्रुव सत्य है। कभी अन्यथा नहीं हो सकता ।। २८ ।।

इन्हीं सर्वरुद्रशक्ति समन्वित वर्णों से इस देव, असुर और मनुष्य रूप प्राणिवर्ग से भरे पूरे विश्व का निर्माण होता है। संसार की संरचना के मुख्य उपादान ये वर्ण ही हैं। इन्हीं से ये सारे शास्त्र, ये वेद अर्थात् समस्त ज्ञान राशि के प्रतीक वाङ्मय मूल ग्रन्थ भी बारम्बार इन्हीं वर्णों से पुनः पुनः उद्भूत होते रहते है ।। २९ ।।

महात्मा शिव और उनकी शक्ति सर्वशक्तिमयी। इच्छा के अनन्त-अनन्त भेदों की विस्तारवादिता को यदि कार्य की दृष्टि से देखा जाय, तो यह सिद्ध होता है कि, इनमें अर्थात् इस आनन्त्य में भी त्रैविध्य ही ओत-प्रोत है ।। ३० ।।

इसी त्रैविध्य का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि, पार्वति! शिव शक्तियाँ तीन प्रकार से इस विश्व में व्याप्त हैं। १. घोरतरा अपरा शक्ति, २. घोरा परापरा शक्तियाँ और ३. अघोरा परा शक्ति। यहीं कह रहे हैं—

१. क० पु० तैस्तैरिति पाठः ।

मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः ॥ ३२ ॥

पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥ ३३ ॥

एताः सर्वाणुसंघातमपि निष्ठा[धिष्ठाय]यथा स्थिताः ।
तथा ते कथिताः शम्भोः शक्तिरेकैव शाङ्करी ॥ ३४ ॥

---

१. अणु, पशु, पुद्गल जड़जीव मलों से आवृत रहने के कारण अनवरत विषयों में संलीन रहते हैं। इनके उद्धार का सौभाग्य बड़ा दुर्लभ है। ऐसे विषय रस में आपादमस्तक डूबे हुए जीवों को और नीचे ही नीचे गिराने में सर्वदा तत्पर रहने वाली कुछ शक्तियाँ होती हैं। यद्यपि ये भी मातृशक्तियाँ[1] ही कही जाती हैं। ये रुद्राणुओं से आलिङ्गनबद्ध रहती हैं। इन्हें घोरतरा अपरा शक्ति कहते हैं ॥ ३१ ॥

कुछ अच्छा और कुछ बुरा फलप्रद मिश्र कर्म होता है। मिश्र कर्म फलासक्ति जीव को भोग की ओर ही प्रवृत्त करती है। इसका परिणाम यह होता है कि, मुक्ति मार्ग में अवरोध उत्पन्न होता है। मुक्ति मार्ग पूरी तरह फलासक्ति रहित होता है। भोगेच्छु की आसक्ति भोग में होती है। भोग में स्वभावतः कुछ अच्छा भी और कुछ बुरा भोग मिलता है। इस प्रकार की भोगासक्ति को उत्पन्न करने वाली शक्तियों को घोराशक्ति कहते हैं। इन्हें परापरा भी कहते हैं ॥ ३२ ॥

३. पहले की तरह प्राणि मात्र के लिये मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने वाली, शिवधाम रूपी फल प्रदान करने वाली शक्तियों को विज्ञ और रहस्यदर्शी योगमुक्त पुरुष अघोरा कहते हैं। इन्हें 'परा' शक्ति भी कहते हैं। इस प्रकार १—घोरतरा अपरा, २—घोरा परापरा और ३—अघोरा पराशक्तियों का त्रैविध्य ही इस विश्व में परिलक्षित होता है ॥ ३३ ॥

ये शक्तियाँ समस्त अणु वर्ग को स्वात्म में अधिष्ठित कर अपने रूप में अवस्थित रहती हैं। हे पार्वती, ये जैसे अपना कार्य सम्पादित करती हैं, और जैसी हैं, उसे यथावत् तुम्हारे समक्ष मैंने कहा है। तुम्हें यह ध्यान रखना चाहिये कि, इस त्रैविध्य के बावजूद शम्भु की एक ही मुख्य शक्ति है। उसी शक्ति की संज्ञा 'शाङ्करी' है। वह शाश्वत रूप से एक ही होती है ॥ ३४ ॥

---

१. श्रीत० १६।२११; २. श्रीत० ८।३८

अस्या वाचकभेदेन भेदोऽन्यः संप्रचक्ष्यते ।
यथेष्टफलसंसिद्धयै मन्त्रातन्त्रानुवर्तिनाम् ॥ ३५ ॥

विशेषविधिहीनेषु न्यासकर्मसु मन्त्रवित् ।
न्यसेच्छाक्तशरीरार्थं भिन्नयोनिं तु मालिनीम् ॥ ३६ ॥

न शिखा ऋॠ लृॡ च शिरोमाला थ मस्तकम् ।
नेत्राणि च ध वै नासा ई समुद्रे णुणू श्रुतौ ॥ ३७ ॥

वाचक की दृष्टि इस शाङ्करी शक्ति के अन्य भेद भी होते हैं। यह भेद विभेद परम्परा से प्राप्त हैं और विज्ञजनों द्वारा उनका आख्यान भी होता रहता है। मन्त्रों और विभिन्न तन्त्रों का अनुवर्त्तन करने वाले साधक शिरोमणि जानते हैं कि, इन वाचक भेदों का प्रयोग विशिष्ट फल की सिद्धि के लिए किया जाता है। इनके प्रयोग से यथेष्ट फल की सिद्धि अवश्य होती है ॥ ३५ ॥

मन्त्रवेत्ता गुरु स्तरीय ज्ञानवान् पुरुष दीक्षा के अवसर पर इसका प्रयोग करते हैं। दीक्ष्य की परीक्षा लेने के उपरान्त गुरु को यह अनुभव होता है कि, शिष्य के वर्त्तमान शरीर को शाक्त शरीर बनाना आवश्यक है। अभी यह विशेष विधियों की विज्ञता से या विधि प्रयुक्त शक्तिमत्ता से रहित है। अतः वह दीक्ष्य के शरीर पर न्यास विधि अपनाता है। शाक्त शरीर के निर्माण के लिए भिन्न योनि मालिनी का न्यास दीक्ष्य के शरीर पर करना अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। इसी लिये भगवान् शिव ने [1]'न्यासेत्' क्रिया का प्रयोगक विधि पर बल दिया है ॥ ३६ ॥

न्यास का मालिनी क्रम—

१	२ मालिनी वर्ण	३ न्यासाङ्ग	४ त्रिशिरोभैरव क्रम	५ शक्तिनाम
१.	न	शिखा	शिखाग्र	नादिनी
२.	ऋ ॠ ऌ ॡ	शिरोमाला	→निवृत्ति, प्रतिष्ठा विद्या शान्ता कलायुक्त	कला ४
३.	थ	मस्तक	शिरोऽग्र	सती उमा
४.	च ध	दक्षनेत्र च वामनेत्र ध	नेत्र	चामुण्डा, प्रियदर्शिनी

---

१. श्रीत० २९/२०१-२१०

बकवर्गइआ वक्त्रदन्तजिह्वासु वाचि च ।
वभयाः कण्ठदक्षादिस्कन्धयोर्भुजयोर्डढौ ॥ ३८ ॥
ठो हस्तयोर्झञौ शाखा ज्रटौ शूलकपालके ।
पहृच्छलौ स्तनौ क्षीरमा स जीवो विसर्गयुक् ॥ ३९ ॥
तत्परः कथितः प्राणः षक्षावुदरनाभिगौ ।
मशांताः कटिगुह्योरुयुग्मगा जानुनी तथा ॥ ४० ॥

५. ई	नासा	नासा-नेत्र मध्य	गुह्यशक्ति
६. ण उ ऊ	श्रुति (दक्ष-वाम)		मोहिनी, नारायणी
७. ब, कवर्ग	वक्त्र, दन्त,	(बदन) दन्तपंक्ति	वज्रिणी, (कङ्कटा) काली, शिवा
इ, आ	जीभ, वाक्	३ जीभ अ वाक	घोरघोषा शिविरा) ५, इ—माया अ—वागीश्वरी
८. व, भ, य	कण्ठ,	दक्ष स्कन्ध (भ) वाम स्कन्ध (य)	तदेव
९. ड ढ	दक्ष वाहु वाम वाहु	दक्षवाम बाहु	लाभविनायकी
१०. ठ	दोनों हस्त	दोनों हाथ	पूर्णिमा
११. झ ञ	झ दक्षाङ्गुलि, ञ वामाङ्गुलि	दक्षवामाङ्गुलि	झङ्कारी कापालिनी
१२. ज र ट	ज-शूल शिखा र-शूलदण्ड ट-शूलकपाल	×	ज--जयन्ती र--दीपनी ट--परमेश्वरी
१३. प	हृदव	तदेव	प—पावनी
१४. स	दक्ष स्तन	तदेव	छागली
१५. ल	वाम स्नन	तदेव	पूतना
१६. आ	स्तन क्षीर	तदेव	मोटरी
१७. स	आत्मा जीव	तदेव	परमात्मा

एऐकारो तथा जङ्घे तत्परौ चरणौ दफौ ।
अतो विद्याश्च मन्त्राश्च समुद्धार्या यथा शृणु ॥ ४१ ॥

सबिन्दुकां दक्षजङ्घां ततो वाचं प्रकल्पयेत् ।
तथैव जङ्घया युक्तं चतुर्थं दशनं ततः ॥ ४२ ॥

दक्षजानुयुतं दण्डं प्राण दण्डस्थमोर्युतम् ।
पृथग् हृद्दण्डकटिगा द्विजदण्डौ च पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

उत्थितं बिन्दुयुक्प्राणं पूर्ववद्दशनं ततः ।
दण्डं केवलमुद्धृत्य वाममुद्रान्वितं पुनः ॥ ४४ ॥

---

१८. ह	प्राण	तदेव	अम्बिका
१९. ष	उदर	तदेव	लम्बिका
२०. क्ष	नाभि	तदेव	संहारिका
२१. म	नितम्ब, कटि		महाकाली
२२. श	गुह्य		कुसुमायुधा
२३ अं	शुक्र, ऊरू		भैरवी
२४. त	उरु, दक्षवाम		तारा
२५. ए ऐ दक्षवाम जानु ए ऐ ओ औ			ज्ञाना ए, क्रिया (ऐ) गायत्री ओ, सावित्री औ
२६. द फ	और (जङ्घा दक्षवाम)		द–दहनी, फ–फेत्कारिणी

ये मालिनी के शब्द राशि रूप भिन्न योनि के वर्ण हैं। इस चित्र तालिका में प्रत्येक वर्ण की शक्ति का नाम भी दे दिया गया है। उनके न्यासाङ्ग भी स्पष्टतया यहाँ अङ्कित हैं। इसके बाद मालिनी वर्णों के वर्णों की विद्या और मन्त्रोद्धार की विधि के सम्बन्ध में भगवान् ने अपने वदनारविन्द से मकरन्द की वर्षा की है ॥ ३७-४१ ॥

सबिन्दुका दक्षजङ्घा=ओं, ततो वाचं=अ, जङ्घा से युक्त चतुर्थ दशन=घो, दक्षजानु युत दण्ड=रे प्राण—ह दण्डस्थ=ह्ल, ई युतम्=ह्लीः, पृथक् हृत्=प, दण्ड=र, कटि=म, पूर्ववत् द्विजदण्ड=घोरे, उत्थित बिन्दुयुक्त प्राण=हुं। इस कूट बीजोद्धार से 'ओं अघोरे ह्लीः परमघोरे हुं' यह मन्त्र प्रत्यक्ष होता है।

दक्षजानुयुतं हृच्च प्राणं जोवात्मना युतम् ।
दशनं पूर्ववन्न्यस्य दण्डं केवलमेव च ॥ ४५ ॥

नितम्बं दक्षमुद्रेतं द्वितीयं जिह्वया द्विजम् ।
सनासं दक्षशिखरं नितम्बं केवलं ततः ॥ ४६ ॥

पुनस्तथैव शिखरं जठरं केवलं ततः ।
दक्षजानुयुतं कर्णं कण्ठं केवलमेव च ॥ ४७ ॥

नितम्बं केवलं न्यस्य हृदयं जिह्वया युतम् ।
वक्त्रं केवलमुद्धृत्य प्राणमाद्येन जानुना ॥ ४८ ॥

शूलदण्डचतुष्कं च तत्राद्यं द्वयसंस्थि[मुस्थि]तम् ।
वामपादं च तस्यान्ते कपालं पतितं न्यसेत् ॥ ४९ ॥

ततः परमघोरान्तं बाद्यकाद्ये च पूर्ववत् ।
परापरा समाख्याता अपरा च प्रकथ्यते ॥ ५० ॥

मन्त्रोद्धार का यही स्वरूप निर्धारित है। इसके बाद पूर्ववत् दशन=घो, ततः दण्ड=र=घोर, वाममुद्रान्वित दक्षजानु हृत्=रूपे प्राण=विसर्ग जोवात्मायुतं= हः पूर्ववत् दशन—घो, केवल दण्ड=र, नितम्ब म, दक्षमुद्रा उ=मु, जिह्वा से युक्त द्विज = खि, सनासा दक्षशिखर (स्कन्ध) भी, नितम्ब = म=भीम । पुनः तथैव शिखर=भी, जठर=ष, दक्षजानु युत कर्ण=णे=भीषणे, कण्ठ=व, नितम्ब=म (=वम), हृदयं=प, जिह्वा=इ (पि) वक्त्रं—ब (पिब) इतने का उद्धार करके, प्राण आद्यजानु के साथ=हे। शूल उ, दण्डचतुष्क=र र (रु रु) र र। इसमें आद्यदण्ड उ से मिले हुए हैं। वामपाद=फ, इसके अन्त में कपाल=ट=फट् का न्यास करना चाहिये॥ ४२-४९॥

इसके बाद परमघोर के अन्त में आने वाला बोज 'हुं' होना चाहिये। इसके बाद पाद्य=ह और काद्य=विसर्ग=हः रहना चाहिये। इसके साथ पूर्ववत् 'फट्' का योजन करना चाहिये। इस पूरे मन्त्र को परापरा मन्त्र कहते हैं। यह पूरा मन्त्र उद्धार के बाद इस तरह साक्षात्कार का विषय बनता है—

अघोरान्तं न्यसेदादौ प्राणं बिन्दुयुतं पुनः ।
वाममुद्रान्वितं न्यस्य पाद्यं [1]काद्येन पूर्ववत् ।। ५१ ।।

अपरेयं समाख्याता रुद्रशक्ति परां शृणु ।
मन्त्राः संमुखतां यान्ति ययोच्चारितमात्रया ।। ५२ ।।

कम्पते गात्रयष्टिश्च द्रुतं चोत्पतनं भवेत् ।
मुद्राबन्धं च गेयं च शिवारुदितमेव च ।। ५३ ।।

अतीतानागतार्थस्य कुर्याद्वा कथनादिकम् ।
वामजङ्घान्वितो जीवः पारम्पर्यक्रमागतः ।। ५४ ।।

ओम् अघोरे ह्रीः परमघोरे हुं, घोर रूपे हः, घोरमुखि भीमे भोषणे वम पिब हे रुरु, रर फट्, हुं हुः फट् । इसमें १९ पद होते हैं । परापरा देवी के इस दिव्य मन्त्र से साधकों का परमकल्याण होता है[2] । भीमे को मन्त्रोच्चार के समय भीम ही बोलना चाहिये ।। ५० ।।

अपरा मन्त्र—अघोरान्त कूट बीज 'ह्रीः' । इसका सर्वप्रथम न्यास करना चाहिये । पुनः प्राण=ह, बिन्दु युत और वाममुद्रा से अन्वित होने पर 'हुं' कूट-बीज का उद्धार होता है । इसके बाद पूर्ववत् पाद्य काद्य=फट् का प्रयोग करते हैं । इस तरह पूरा मन्त्रोद्धार होता है—ह्रीः हुँ फट् । ह्रीः (शक्त्यण्ड) 'हुँ मायाण्ड' और फट् (पृथ्व्यण्ड+प्रकृत्यण्ड) इस प्रकार अपरा में चार अण्ड व्याप्त रहते हैं । यह अपरा मन्त्र है[3] ।। ५१½ ।।

परामन्त्र[4]—इस मन्त्र के उच्चारण करते ही सारे मन्त्र सम्मुखी भाव में आ जाते हैं । इसके जप करने से साधक की गात्रयष्टि में अर्थात् शरीर एक प्रकार का आनन्दप्रद प्रकम्पन भी प्रारम्भ हो जाता है । यह सिद्धि का लक्षण माना जाता है । मन्त्र का आवेश सिद्ध होने पर शरीर उछलने भी लग सकता है । उस समय की विशेष जागरूता अत्यन्त अपेक्षित है । मुद्राबन्ध अपने आप सिद्ध हो जाता है । उस समय कुछ गान सम्बन्धी उच्छलन भी साधक में देखा जाता

---

१. ग० पाद्यकाद्ये चेति पाठः ।
२. श्रीत० १६।२१६-२१७, तदेव ३०।२०-२१ ।
परापरामन्त्र प्रयोग विधि—१७।४२-४४ ।
३. श्रीत० ३०।२६ ; ४. श्रीत० ३०।२७ ।

परेयमनया सिद्धिः सर्वकामफलप्रदा ।
नाशिष्यायं प्रदेयेयं नाभक्ताय कदाचन ॥ ५५ ॥
रुद्रश्च रुद्रशक्तिश्च गुरुश्चेति त्रयं समम् ।
भक्त्या प्रपश्यते यस्तु तस्मै देयं वरानने ॥ ५६ ॥
शिष्येणापि तदा ग्राह्या यदा संतोषितो गुरुः ।
शरीरद्रव्यविज्ञानशुद्धिकर्मगुणादिभिः ॥ ५७ ॥
बोधिता तु यदा तेन गुरुणा हृष्टचेतसा ।
तदा सिद्धिप्रदा ज्ञेया नान्यथा वीरवन्दिते ॥ ५८ ॥

है। शिवा की तरह आवेशित ध्वनि भी हो सकती है। उसी आवेश में अतीत अर्थात् सुदूर भूतकाल की बातें अथवा जो अभी भविष्य में आनेवाली हैं, अनागत हैं, उनका कथन भी वह करने लग जाता है। वामजङ्घन 'औ' और उसके साथ जोव 'स' और पारम्पर्य क्रम से आगत अर्थात् प्रयुक्त प्राणशक्ति और इच्छा शक्ति रूप विसर्ग—कुल मिलाकर यह पराविद्या मानी जाती है। इससे परासिद्धि प्राप्त होती है। वरन् यह सत्य वचन है कि, यह सर्व फलप्रदा विद्या है। इसे उसे प्रदान करना चाहिये, जो योग्य शिष्य हो। अभक्त अर्थात् भक्तिहीन व्यक्ति को इसे नहीं देना चाहिये ॥ ५२-५५ ॥

रुद्र, रुद्रशक्ति और गुरुदेव की समान स्तरीयता—

यह तन्त्र यह उपदेश करता है कि, रुद्र, रुद्रशक्ति और गुरुदेव में कोई अन्तर नहीं होता। ये तीनों समान रूप से आराध्य हैं। जो इन तीनों में समान भक्तियुक्त होता है, वह श्रेष्ठ शिष्य और जिज्ञासु होता है, वही इस मन्त्र का अधिकारी है। उसे ही इस परामन्त्र की दीक्षा देनी चाहिये ॥ ५६ ॥

शिष्य का भी यह परम कर्त्तव्य है कि, जब गुरुदेव पूर्णरूप से सन्तुष्ट हो जाँय, तभी इस मन्त्र को ग्रहण करें। गुरु को सन्तुष्ट करने के लिये शारीरिक सेवा ही पर्याप्त नहीं है। यथाशक्ति दक्षिणा के रूप में द्रव्य का अर्पण भी करना चाहिये। वित्तशाठ्य का प्रयोग नहीं करना चाहिये। विज्ञानशुद्धि भी अत्यन्त अपेक्षित है। गुरुवर्य से जो ज्ञान प्राप्त हो रहा हो, उसमें विकार की सम्भावना नहीं होनी चाहिये। अपने कर्मों से और गुणों से भी गुरुदेव को प्रसन्न रखना चाहिए ॥ ५७ ॥

परापराङ्गसंभूता योगिन्योऽष्टौ महाबलाः ।
पञ्च षट् पञ्च चत्वारि द्वित्रिद्व्यर्णाः क्रमेण तु ॥ ५९ ॥

ज्ञेयाः सप्तैकादशार्णा एकार्धार्णद्वयान्विता ।
जीवो दीर्घस्वरैः षड्भिः पृथग्जातिसमन्वितः[1] ॥ ६० ॥

विद्यात्रयस्य गात्राणि ह्रस्वैर्वक्त्राणि पञ्चभिः ।
ओंकारैः पञ्चभिर्मन्त्रो विद्याङ्गहृदयं भवेत् ॥ ६१ ॥

श्लोक ५५ में परासक्ति के प्रतीक मन्त्र की महत्ता का प्रतिपादन कर यह निर्देश दिया गया है कि, यह सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण मन्त्र अनधिकारी को नहीं देना चाहिये। उसी सम्बन्ध में भगवान् यह भी स्पष्ट कर रहे हैं कि, यह विद्या सातिशय प्रसन्न गुरुदेव अपनी हार्दिक हर्ष दृष्टि शिष्य की योग्यता का परिष्कार करने के उपरान्त प्रसन्नचित्त होकर ही इसका बोध कराते हैं। गुरु द्वारा ही यह शिष्य को बोधित होती है। उसी समय सिद्धिप्रदा हो सकती है। हे वीरों द्वारा वन्दित परमेश्वरी पार्वती विना गुरु के द्वारा बोधित यह यह महाविद्या सिद्धि नहीं देती ॥ ५८ ॥

परापरा देवी के अङ्गों से ही समुत्पन्न आठ मत्त बलशालिनी योगिनियाँ साधकों के अभीष्ट साधन में सहायता करती हैं। इसमें वर्णों का क्रम ५, ६, ५, ४, २, ३, २ हैं। इस क्रम के अन्त में एकार्ध वर्णद्वय भी अन्वित किये जाते हैं। यही आठ योगिनो वर्ण हैं। श्रीतन्त्रालोक के सोलहवें आह्निक के श्लोक २२२-२२३ के सन्दर्भ में और आह्निक तीस के श्लोक २५-२७ के सन्दर्भ में ये श्लोक उद्धृत हैं। वहाँ भी इन मन्त्रों का पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत है ॥ ५९-६० ॥

इसके अतिरिक्त 'जीवः' अर्थात् 'स' वर्ण छह दीर्घ स्वरों के साथ सां सीं सूं सैं सौं सः इस रूप में पृथक् जाति पदों के साथ हो न्यास विधि में समायोजित किया जाता है। मन्त्राभिधान कोश में जीव का अर्थ 'ह' भी किया गया है। उसके अनुसार हां हीं हूँ हैं हौं हः ये रूप भी जातियों के साथ न्यस्त किये जाते हैं। जैसे—सां हृदयाय नमः। हीं शिरसे स्वाहा आदि छः स्थानों पर न्यस्त करना चाहिये। हमारी दृष्टि में यहाँ 'स' वर्ण का ही जीवार्थ में प्रयोग उचित है।

---

१. क० ख० पु० जातिविभेवत इति पाठः

ओं अमृते तेजोमालिनि स्वाहापदानि[देवि]भूपितम् ।
एकादशाक्षरं प्रोक्तमेतद्ब्रह्मशिरः प्रिये ॥ ६२ ॥

वेदवेदिनि हूँफट् च प्रणवादिसमन्विता[1] ।
रुद्राण्यष्टाक्षरा ज्ञेया शिखा विद्यागणस्य तु ॥ ६३ ॥

वज्रिणे वज्रधराय स्वाहान्तं प्रणवादिकम् ।
एकादशाक्षरं वर्म पुरुष्टुतमिति स्मृतम् ॥ ६४ ॥

[2]श्लीपदं पशुशब्दं च हूँफडन्तं भवादिकम् ।
एतत्पाशुपतं प्रोक्तमर्धसप्ताक्षरं परम् ॥ ६५ ॥

तीन विद्यायें परा, परापरा और अपरा ही मानी जाती हैं। इनके पाँच ह्रस्व स्वर ही वक्त्र माने जाते हैं। ॐकार के साथ इन ह्रस्व वर्णों का प्रयोग करने पर 'विद्याङ्गहृदय' मन्त्र बनता है[3]। जैसे—ओं सं हृदयाय नमः, इत्यादि इनका पञ्चवक्त्र रूप में न्यास भी किया जाता है ॥ ६०½-६१ ॥

'ओं अमृते तेजोमालिनि (देवि) स्वाहा' इन पदों से भूषित एकादशाक्षर मन्त्र 'ब्रह्मशिरस्' मन्त्र माना जाता है। श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र का स्पष्ट रूप से नामोल्लेख करते हुए महामाहेश्वर अभिनव गुप्त ने इसकी चर्चा की है[4]। इसमें देवि सम्बोधन का उल्लेख नहीं है ॥ ६२ ॥

आदि में प्रणव रूप ओंकार से समन्वित 'वेदवेदिनि' हूँ फट्' युक्त 'ओं वेदवेदिनि हूँ फट्' यह महत्त्वपूर्ण अष्टाक्षर मन्त्र रुद्राणी को सम्बोधित करते हुए भगवान् शिव कहते हैं कि, यह 'शिखा' संज्ञक मन्त्र माना जाता है। यह विद्या शक्तियों के शक्ति शरीर की शिखा रूप ही है ॥ ६३ ॥

एक ऐसा ही पुरुष्टुत् मन्त्र भी प्रसिद्ध है। आदि में ओङ्कार का प्रयोग कर 'वज्रिणे वज्रधराय स्वाहा' का उच्चारण कर मन्त्रोद्धार करते हैं। इसे 'वर्म' अर्थात् कवच रूप माना जाता है। इसको सिद्ध करने पर साधक शक्तिकवच से सुरक्षित हो जाता है ॥ ६४ ॥

ओङ्कार का आदि में प्रयोग कर 'श्लीं' बीज का प्रयोग करें। पुनः 'पशु' हुं फट् का प्रयोग करना चाहिये। इसे 'पाशुपत' मन्त्र कहते हैं। यह सात अक्षरों

---

१. ग० पु० युता शिखेति पाठः ; २. ग० पु० श्लशब्दमिति पाठः ;
३. श्रीत० ३०।३६-३७; ४. श्रीत० ३०।३८

लरटक्षवयैर्दीर्घैः समायुक्तैः सबिन्दुकैः ।
इन्द्रादीन्कल्पयेद्ध्रस्वैस्तदस्त्राणि विचक्षणः ॥ ६६ ॥

तद्वन्नासापयोभ्यां तु कल्प्यौ विष्णुप्रजापती ।
स्वरावाद्यतृतीयौ तु वाचकौ पद्मचक्रयोः ॥ ६७ ॥

इति [1]मातृगणः प्रोक्तः सर्वकामफलप्रदः ।
योगिनां योगसिद्ध्यर्थं किमन्यत्परिपृच्छसि ॥ ६८ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे मन्त्रोद्धाराधिकारस्तृतीयः ॥ ३ ॥

का मन्त्र है किन्तु सातवाँ अर्धाक्षर होता है। अतः इसे 'अर्धसप्ताक्षर' मन्त्र माना जाता है। यह पर अर्थात् सर्वातिशायी महत्त्व का मन्त्र माना जाता है। इसे महामाहेश्वर अभिनवगुप्त ने 'रसवर्णक' अर्थात् छः अक्षरों वाला ही माना है ॥ ६५ ॥

पहले 'ल', 'र', 'ट', 'क्ष', 'व', 'य', 'स' और 'ह' इन आठ वर्णों पर बिन्दु लगाना चाहिये और दीर्घ स्वरों से युक्त करना चाहिये। ये इन्द्र आदि के वाचक माने जाते हैं। इन्द्र आदि आठ कपाल या दिगधिपति माने जाते हैं। ये आठों सबन्दिुक दीर्घाक्षर उन्हीं के क्रमशः प्रतीक हैं। विचक्षण पुरुष इन्हीं के सबिन्दुक ह्रस्ववर्ण को उनका अस्त्र मानते हैं ॥ ६६ ॥

आठ दिगधिपतियों के साथ दो और देवों की गणना होती है। निर्ऋति के पास अनन्त (विष्णु) और ईशान के साथ ब्रह्मा की प्रतिष्ठा भी चक्र में की जाती है। इसलिये भगवान् शिव कहते हैं कि, नासा (ई) और पय (आ) इन दोनों बीज स्वरों पर बिन्दु लगाकर क्रमशः विष्णु और ब्रह्मा की प्रकल्पना कर लेनी चाहिये[2]। आदि स्वर 'अकार' और तृतीय स्वर 'उकार' ये दो पद्मचक्र के वाचक हैं। पद्मचक्र से ही सारे लोकपाल सम्बद्ध हैं। इस विराट् विश्वरूप पद्मचक्र का समन्वय कर साधक सिद्धि की ओर अग्रसर हो जाता है ॥ ६७ ॥

---

१. ग० पु० मन्त्रगण इति पाठः ;

२. श्रीत० ३०।४२-४३

भगवान् भूतभावन ने भवानी से कहा कि, देवि! मैंने तुम्हारे समक्ष यह रहस्य उद्घाटित किया। मातृचक्र की गुणवत्ता का प्रकल्पन इस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है। इनकी जानकारी से योगियों के योग की सिद्धि होती है। अब इसके बाद आप जो भी पूछना चाहती हैं—पूछिये। मैं उत्तर के लिये प्रस्तुत हूँ ॥ ६८ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र
का
डॉ॰ परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य संवलित
'मन्त्रोद्धार' नामक तीसरा अधिकार सम्पन्न ॥ ३ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥



अथ चतुर्थोऽधिकारः

अथैतदुपसंश्रुत्य मुनयो मुदितेक्षणाः ।
प्रणम्य क्रौञ्चहन्तारं पुनरूचुरिदं वचः ॥ १ ॥

योगमार्गविधिं देव्या पृष्टेन परमेष्ठिना ।
तत्प्रतिज्ञावताप्युक्तं किमर्थं मन्त्रलक्षणम् ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य-समन्वितम्

चतुर्थोऽधिकारः

[४]

परमेश्वर के मुखारविन्द से निष्यन्द मकरन्द रूप इस अमृत-भारती का श्रवण कर मननशील मुनियों की आँखें प्रसन्नता से खुली की खुली रह गयीं। अपलक नयनों को विस्मयमयी मुद्रा में मानों ज्ञान-विज्ञान की तरङ्गें प्रकाशमान हो रही हों । उन्होंने क्रौञ्चवध से प्रसिद्ध सिद्धामतवादसिद्ध कार्त्तिकेय को अपना प्रणाम अर्पित किया और पुनः इस प्रकार अपनी जिज्ञासा को उपस्थापित किया ।

उन्होंने कहा—देव ! परमेष्ठी से देवी ने केवल योगविधि विषयक प्रश्न ही पूछा था । परमेष्ठी शिव ने यह प्रतिज्ञा भी की थी कि, अच्छा है। योगविधि विषयक प्रश्नों का मैं समाधान कर रहा हूँ । ऐसी अवस्था में भी भगवान् भूतभावन ने मन्त्र लक्षण रूप नये विषय की अवतारणा क्यों की [1] ? ॥ १-२ ॥

---

१. श्रीत० १६।२८८-२९० ।

एवमुक्तः स तैः सम्यक्कार्तिकेयो महामतिः ।
इदमाह वचस्तेषां सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥
योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।
यद्वस्तु ज्ञेयमित्युक्तं हेयत्वादिप्रसिद्धये ॥ ४ ॥
द्विरूपमपि तज्ज्ञानं विना ज्ञातुं न शक्यते ।
तत्प्रसिद्ध्यै शिवेनोक्तं ज्ञानं यदुपवर्णितम् ॥ ५ ॥
सबीजयोगसंसिद्ध्यै मन्त्रलक्षणमप्यलम् ।
न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ॥ ६ ॥

इस प्रकार मुनियों के निवेदन के उपरान्त श्रीकार्तिकेय ने अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की । वे इस विद्या के पारङ्गत महामनीषी देवपुरुष थे । उन्होंने मुनियों के सन्देह को इस प्रकार निराकृत किया और कहा कि, मुनिवृन्द ! वस्तुतः योगसिद्धि में मन्त्रों की सर्वातिशायिनी उपयोगिता एवं महत्ता है । योग का यह प्रसिद्ध लक्षण ही है कि, 'एक वस्तु का दूसरी वस्तु से एकत्व ही योग है' । वस्तु ज्ञेय होते हैं । यह सभी शास्त्र कहते हैं । ज्ञेय जानने योग्य होते हैं । जिन वस्तुओं को हम जानते हैं, उनमें कई प्रकार की एकता भी प्रतीत होती है । कुछ विपरीत स्वभाव वाले भी वस्तु होते हैं । इस प्रकार अनुकूल वेद्यता और प्रतिकूल वेद्यता के कारण यह भी ज्ञात होता है कि, अमुक वस्तु हेय है और यह उपादेय है । हेयोपादेय विज्ञान जीवन को उत्कर्ष की ओर अग्रसारित करने के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है । इस तरह यह ज्ञान द्विरूपता को प्राप्त करता है । यह ज्ञाता के ऊपर निर्भर करता है कि, इस द्विरूपता को समझे । विना जाने यह समझ में आने वाली बात भी नहीं है । इसलिये वस्तु विज्ञान की विशेष सिद्धि के लिये भगवान् शिव ने यह प्रक्रिया अपनायी और योगसिद्धि-विधि के सन्दर्भ में मन्त्रों के सम्बन्ध में भी प्रकाश डालने का अनुग्रह किया । प्रसिद्धि का एक अर्थ आगम[1] भी होता है । प्रसिद्धि उपजीव्य होती है । इससे आगम का अभ्युपगम होता है । इस अर्थ में श्लोक में 'प्रसिद्धि' शब्द से आगमिकता के अध्याहार की प्रतीति भी यहाँ हो रही है ॥ ३-५ ॥

सबीज योग की सिद्धि के लिये मन्त्रों के लक्षण की जानकारी भी पर्याप्त सहायक होती है । मन्त्र दीक्षा के अन्तर्गत ही दिये जा सकते हैं । यह भी सुनिश्चित

---

१. श्रीत० १७।१, ३५।१

क्रियाज्ञानविभेदेन सा च द्वेधा निगद्यते ।
द्विविधा सा प्रकर्तव्या तेन चैतदुदाहृतम् ॥ ७ ॥

न च योगाधिकारित्वमेकमेवानया भवेत् ।
अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया ॥ ८ ॥

श्रुत्वा चैतत्पतेर्वाक्यं रोमाञ्चितशरीरिणो ।
इदमाह पुनर्वाक्यमम्बा मुनिवरोत्तमाः ॥ ९ ॥

है कि, शाङ्कर योग में दीक्षा के विना अधिकारिकता नहीं होती। दीक्षा के बाद ही शाङ्कर योग में प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता है[१]। योग की सिद्धि मन्त्र-ज्ञान के माध्यम से सरलता पूर्वक सम्भव है। पहले जो भी ब्रह्मशिर इत्यादि मन्त्र कहे गये हैं, उन सभी का योग की सिद्धि में आत्यन्तिक महत्त्व है ॥ ६ ॥

इस सन्दर्भ में भगवान् यह भी स्पष्ट कर रहे हैं कि, मूलतः यह दीक्षा भी दो प्रकार की ही होती है—१. क्रियायोग दीक्षा और २. ज्ञानयोग दीक्षा। इस भेदोक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि, दीक्षा के विना न क्रियायोग ही आ सकता है और न ही ज्ञानयोग की जानकारी हो सकती है। श्रीकार्त्तिकेय ने कहा—यही मुख्य कारण है कि, भगवान् ने इसी सन्दर्भ में यह मन्त्र लक्षण रूप रहस्य-बोध कराने का अनुग्रह किया है[२] ॥ ७ ॥

यहाँ एक और रहस्योद्घाटन कर रहे हैं। कार्त्तिकेय कहते हैं कि, दीक्षा से मात्र शाङ्करयोग-सिद्धि का ही अधिकार नहीं मिलता अपितु इससे मन्त्र ग्रहण, मन्त्रसिद्धि और मन्त्र प्रयोग का भी अधिकार प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि, शिवयोग की दीक्षा से मुक्तिकामी व्यक्ति मुक्ति को उपलब्ध हो जाता है[३]। यह दीक्षा का ही महत्त्व है। मन्त्राधिकार और मोक्षाधिकार मिलना जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है ॥ ८ ॥

कार्त्तिकेय ने वही बात स्पष्ट की थी, जिसे भगवान् शङ्कर ने शिवा से कहा था। माँ पार्वती भगवान् की इन बातों को सुनकर और इनके महत्त्व का आकलन कर रोमाञ्चित हो उठीं थीं। श्रीकार्त्तिकेय ने मुनियों से कहा कि, मुनियो! तत्काल स्थितप्रज्ञ होकर स्थिरबुद्धि परमाम्बा पार्वती ने भगवान् के समक्ष अपनी जिज्ञासा का इस प्रकार अभिव्यञ्जन किया ॥ ९ ॥

---

२. श्रोत० १६।१९०-२९१; ३. तदेव १६।२९१½; ४. तदेव १६।२९३

अभिन्नमालिनीकाये तत्त्वानि भुवनानि च ।
कलाः पदानि मन्त्राश्च यथावदवधारिताः ॥ १० ॥

भिन्नयोनिस्तु या देव त्वयोक्ता मालिनी मम ।
तस्या अङ्गे तथैतानि संस्थितानि तथा वद ॥ ११ ॥

एवमुक्तो महादेव्या भैरवो भूरिभोगदः ।
स्फुरद्धिमांशुसन्तानप्रकाशितदिगन्तरः ॥ १२ ॥

सुरासुरशिरोमौलिमालालालितशासनः ।
उवाच मधुरां वाचमिमामक्लेशिताशयाम् ॥ १३ ॥

पार्वती ने कहा—भगवन् ! मालिनी के दो स्वरूपों की बात आपने की थी—१. अभिन्न मालिनी और २. भिन्न मालिनी। भिन्न मालिनी को भिन्नयोनि मालिनी भी कहते हैं। आपके कथनानुसार अभिन्न मालिनी की अनाकलनीय काया में सभी तत्त्व, सभी भुवन, सारी कलायें, पद और मन्त्र भी यथावत् अवधारित हैं।

हे देव जिसे भिन्नयोनि मालिनी कहते हैं, उसके अङ्गों में यह षडध्व (कला, तत्त्व और भुवन तथा पद, मन्त्र और वर्ण) आकलित किये जाते हैं, उनका जिस प्रकार इसके अङ्गों में अवस्थान है, उसकी पूरी जानकारी हमें देने की कृपा करें ॥ १०-११ ॥

इस प्रकार माँ पार्वती द्वारा पूछे जाने पर भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो उठे। उस समय वे अपने भैरवीभाव से भव्य दीख रहे थे। उनका भूरि भोगप्रद स्वरूप दया से ओत-प्रोत था। उनके शिरोभाग में शोभायमान चन्द्र की चाँदनी से सारा दिग्दिगन्त चाँदी की राजत रश्मियों से प्रकाशमान था। इन विशेषताओं से विशिष्ट भूतभावन भैरव के चरणों में सारे सुरासुर समुदाय के शिर भय और भक्तिभाव से अर्पित थे। उनका सब पर समान रूप से शासन था। ऐसे देवाधिदेव महादेव ने कहना प्रारम्भ किया। कितनी माधुर्य्य भरी वह माहेश्वर की वाणी थी, इसका अनुभव माँ पार्वती ने किया था। इसीलिये महादेव की यह उक्ति मधुमती भूमिका में विनिःसृत सृष्टिसाम को पुलकित करने वाली मानी जाती है। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि, देवाधिदेव की वह दिव्य व्याहृति शाङ्कर भक्तियोग सम्पन्न साधकों के आशय हृदय या भावजगत् को आनन्द से उद्वेलित कर जागतिक

या मया कथिता देवि भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।
तदङ्गे संप्रवक्ष्यामि सर्वमेतद्यथा स्थितम् ॥ १४ ॥

फे धरातत्त्वमुद्दिष्टं दादिझान्तेऽनुपूर्वशः ।
त्रयोविंशत्यबादीनि प्रधानान्तानि लक्षयेत् ॥ १५ ॥

ठादौ च सप्तके सप्त पुरुषादीनि पूर्ववत् ।
इङघेषु त्रयं विद्याद्विद्यातः सकलावधि ॥ १६ ॥

शिवतत्त्वे गकारादिनान्तान् षोडश लक्षयेत् ।
कलाः पदानि मन्त्राश्च भुवनानि च सुन्दरि ॥ १७ ॥

क्लेशों के विनाश में समर्थ थी। महादेव की दिव्यवाणी निश्चय ही क्लेशिताशय को भी अक्लेशिताशय करने वाली थी क्योंकि वह स्वयम् अक्लेशिताशय ही थी ॥ १२-१३ ॥

उन्होंने कहना प्रारम्भ किया - देवि ! मैंने आप से यह अभी-अभी कहा था कि, मालिनी जो भिन्नयोनि मानी जाती है[1], इसके अङ्गों में तत्त्वों का न्यास कैसे होता है, इसको मैं यथावत् स्पष्ट रूप से व्यक्त कर रहा हूँ ॥ १४ ॥

इसे इस तालिका के माध्यम से सरलता पूर्वक समझा जा सकता है—

क्रम	अक्षर	तत्त्व	
१.	फ	धरा तत्त्व	१ तत्त्व
२.	द से झ पर्यन्त तेइस वर्ण	अप्तत्त्व प्रधान पर्यन्त	२३ तत्त्व
३.	ठ से सात वर्ण ढ, ऊ, व भ, य और अ पर्यन्त	सात पुरुष आदि	सात तत्त्व
४.	अ के बाद इ ङ और घ में	विद्यादि सकलपर्यन्त	तीन तत्त्व
५.	शक्ति सहित शिव तत्त्व में ग से न पर्यन्त १६ वर्ण आते हैं।		दो तत्त्व

इस प्रकार वर्णों के क्रम से तत्त्वों का न्यास होता है। पचास मालिनी वर्णों में तत्त्वों की व्याप्ति का यही क्रम शास्त्र-सिद्ध रूप से मान्य है ॥ १५-१६½ ॥

जहाँ तक कला, पद, मन्त्र और भुवनों का प्रश्न है, पार्वति देवि! पहले की तरह ही इनकी व्याप्ति माननी चाहिये। इनकी संख्या और वर्णों के भेद के आधार

---

१. श्रीत० १५।१३५-१३६ ।

पूर्ववद्वेदितव्यानि तत्संख्यार्णविभेदतः ।
विद्यात्रयविभागेन यथेदानीं तथा शृणु ॥ १८ ॥

निष्कले पदमेकार्णं त्र्यर्णैकार्णमिति[1] द्वयम् ।
सकले तु परिज्ञेयं पञ्चैकार्णद्वयं द्वये ॥ १९ ॥

चतुरेकाक्षरे द्वे च मायादित्रितये मते ।
चतुरक्षरमेकं च कालादिद्वितये मतम् ॥ २० ॥

पर ही इसका आकलन करना चाहिये । इसमें तीन विद्याओं की स्थिति का ध्यान भी आवश्यक है । देवि ! मैं उन्हें क्रम पूर्वक कहने जा रहा हूँ । तुम इस आकलन को ध्यान पूर्वक सुनो ॥ १७-१८ ॥

अपरा और परापरा मन्त्रों के तत्त्वक्रम से पदों के स्वरूप आगम में किस प्रकार निर्धारित किये गये है, इसका विश्लेषण भगवान् शिव कर रहे हैं ।

परापरा मन्त्र—

१. निष्कल तत्त्व में शिव और शक्ति की गणना को जाती है । इसमें केवल 'ओम्'[1] यह एक वर्ण वाला पद ही गृहीत है ।

२. सदाशिव तत्त्व में दो पद गृहीत हैं—१. त्र्यर्ण=[2]अघोरे और २. एकार्ण=ह्रीः[3] ।

३. ईश्वर और शुद्ध विद्या दोनों में पाँच वर्णों वाला पद '[4]परमघोरे' और एकार्ण अर्थात् एक वर्ण वाले पद 'हुं' [5]गृहीत हैं । निष्कल की दृष्टि से सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या सकल तत्त्व हैं ।

४. मायादित्रितय में माया कला और अशुद्ध विद्या का क्रम आता है । इसमें—

क. माया में चतुरक्षर पद अर्थात् 'घोररूपे' [6]प्रयुक्त होता है ।

ख. कला में और अशुद्ध विद्या में भी एकाक्षर मिलाकर दोनों पद प्रयुक्त होते हैं, अर्थात् 'घोररूपे हः[7]' पदों की गणना साथ ही की जाती है ।

५. कालादि द्वितय अर्थात् काल और नियति तत्त्वों के अन्तर्गत एकमात्र चतुरक्षर पद ही गृहीत है । वह पद 'घोरमुखि'[8] है ।

---

१. क० पु० मयेति पाठः ।

रञ्जके द्व्यर्णमुद्दिष्टं प्रधाने त्र्यर्णमिष्यते ।
बुद्धौ देवाष्टकव्याप्त्या पदं द्व्यक्षरमिष्यते ॥ २१ ॥

ततः पञ्चाष्टकव्याप्त्या द्व्येकद्विद्व्यक्षराणि तु ।
विद्यापदानि चत्वारि सार्धवर्णं तु पञ्चमम् ॥ २२ ॥

[1]एकैकसार्धवर्णानि त्रीणि तत्त्वे तु पार्थिवे ।
[2]पुंरागे सर्वमन्यच्च वर्णमन्त्रकलादिकम् ॥ २३ ॥

सार्धेनाण्डद्वयं व्याप्तमेकैकेन पृथग्द्वयम् ।
अपरायाः समाख्याता व्याप्तिरेषा विलोमतः ॥ २४ ॥

---

६. रञ्जक अर्थात् राग और पुरुष तत्त्व में द्व्यर्ण अर्थात् दो वर्णों वाला पद 'भीम'[9] गृहीत करते हैं।

७. प्रधान में त्र्यर्ण अर्थात् तीन अक्षरों वाला 'भीषण'[10] पद गृहीत है। यह शास्त्र कहते हैं।

८. बुद्धि में पञ्चाष्टक अर्थात् पांच पद के आठ वर्ण मिला देने से और देवाष्टक के दो वर्ण मिला देने से 'पिब हे रुरु फट् और वम, पद आते हैं। इस तरह इसमें क्रमशः 'वम[11] पिब[12] हे[13] रुरु[14] रर[15] फट्[16]' इतने पद गृहीत हैं। वम के बाद द्वि, एकद्विद्वि वर्ण का क्रम अपनाया गया है। श्रीतन्त्रालोक ३०।२३ के अनुसार इसमें हुं[17] हः[18] फट्[19] भी जोड़ते हैं। इस तरह १९ पदों में ३८ अक्षर वाला यह परापरा मन्त्र माना जाता है। विद्यापद के रूप में १२, १३, १४, १५ एवं १६वें पद मान्य हैं। हुँ हः फट् ये तीन पार्थिव तत्त्व के अक्षर हैं। पुरुष और रागतत्त्व के सम्बन्ध में 'सर्वमन्यच्च' वर्णमन्त्रकलादि का निर्देश विश्लिष्ट नहीं है ॥ १९-२३ ॥

अपरा मन्त्र—

सार्ध अर्थात् फट् से पार्थिवाण्ड और प्रकृत्यण्ड व्याप्त हैं। एक-एक से अर्थात् हः और हुँ इन एकाक्षर पदों से पृथक् दो अण्ड अर्थात् मायाण्ड और शक्त्यण्ड व्याप्त हैं। यह अपरा विद्या का मन्त्र उक्त चार अण्डों को ही व्याप्त करता है। यह पूरा मन्त्र 'ह्रीः हुँ फट् इस रूप में उद्धृत होता है ॥ २४ ॥

---

१. क० ख० ग० एकद्विसार्धेति पाठः ।
२. ग० पु पराङ्गे इति पाठः ।

सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते ॥ २५ ॥
एतत्सर्वं परिज्ञेयं योगिना हितमिच्छता ।
आत्मनो वा परेषां वा नान्यथा तदवाप्यते ॥ २६ ॥
द्वावेव मोक्षदौ ज्ञेयौ ज्ञानी योगी च शाङ्करि ।
पृथक्तातत्र ··· बोद्धव्यं फलकाङ्क्षिभिः ॥ २७ ॥
ज्ञानं तत्त्रिविधं प्रोक्तं तत्राद्यं श्रुतमिष्यते ।
चिन्तामयमथान्यच्च भावनामयमेव च ॥ २८ ॥

परामन्त्र—

केवल स वर्ण में पार्थिवाण्ड, प्रकृत्यण्ड और मायाण्ड ये तीन अण्ड व्याप्त होते हैं। त्रिशूल अर्थात् 'औ' वर्ण से शक्त्यण्ड व्याप्त होता है और सर्वातीत शिवाण्ड विसर्ग से व्याप्त होता है। यह परामन्त्र को व्याप्ति मानी जाती है। इसका बीज मन्त्र पञ्चपिण्डनाथ कहलाता है। स्वाध्यायशील साधक उसका ऊहन करके जप करें। तन्त्र शास्त्र का यह सर्वोच्च और परम रहस्यात्मक बीजमन्त्र माना जाता है। इसे लिखे हुए को पढ़ने की अपेक्षा स्वयम् ऊहन करें अथवा गुरु मुखारविन्द से सुनकर अपने शिष्यत्व को पुरस्कृत करें ॥ २५ ॥

भगवान् शिव कहते हैं कि, ऊपर जो कुछ हमने कहा है, इसे आत्मकल्याण में निरत योगियों को अवश्य जानना चाहिये। इससे अपना हित तो सिद्ध होता ही है, अन्य व्यक्तियों का भी परमार्थ सिद्ध हो जाता है। इसके जाने विना 'तत्' अर्थात् तत्त्व भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

वस्तुतः इस विश्व में मोक्ष को उपलब्ध कराने में दो ही समर्थ और कारण माने जाते हैं—१. योगी और २. ज्ञानी। हे पार्वति, इन दोनों में मात्र दृष्टि का ही अन्तर है। विधि में सिद्ध दोनों होते हैं। इसके अतिरिक्त फल की आकांक्षा से कार्य और चर्यारत जितने भोगेच्छु साधक हैं, उन्हें भी इस मर्म से परिचित होना ही चाहिये ॥ २७ ॥

इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिये कि, वह ज्ञान तीन प्रकार का होता है। पहले ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं। २. दूसरे ज्ञान को चिन्तामय कहते हैं और तीसरे ज्ञान को भावनामय की संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥ २८ ॥

शास्त्रार्थस्य परिज्ञानं विक्षिप्तस्य श्रुतं मतम् ।
इदमत्रेदमत्रेति इदमत्रोपयुज्यते ॥ २९ ॥
सर्वमालोच्य शास्त्रार्थमानुपूर्व्या व्यवस्थितम् ।
तद्वच्चिन्तामयं ज्ञानं द्विरूपमुपदिश्यते ॥ ३० ॥
मन्दस्वभ्यस्तभेदेन तत्र स्वभ्यस्तमुच्यते ।
सुनिष्पन्ने ततस्तस्मिञ्जायते भावनामयम् ॥ ३१ ॥

श्रुत ज्ञान—शास्त्रीय निर्देशों से अभिप्रेत अर्थ का परिज्ञान होता है। उससे यह निश्चय हो जाता है कि, यह विधि और ये कर्म यहाँ करना श्रेयस्कर है और अमुक कर्म वहाँ करना उचित है। शास्त्रार्थ का यही महत्त्व है कि, व्यक्ति पूरी तरह और विस्तार पूर्वक यह जान सके कि, इस विधि की उपयोगिता यहाँ नहीं वहाँ है। इस विस्तृत अर्थ की जानकारी को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह विक्षिप्त शब्द शास्त्रार्थ के विशेषण रूप में और विस्तार अर्थ में प्रयुक्त है। इस शब्द का प्रयोग श्रीतन्त्रालोक में भी किया गया है[1]। वहाँ यह कर्म अर्थात् यागप्रक्रिया के विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। दीक्षा भी दो प्रकार की मानी जाती है। १. संक्षिप्त दीक्षा और २. विक्षिप्त दीक्षा। विक्षिप्त संक्षिप्त का विलोमवाची प्रयोग है ॥ २९ ॥

शास्त्रार्थ का आनुपूर्वी विवेचन आवश्यक होता है। संमर्शी विद्वान् शिष्य सभी निर्देशों की समीक्षा-परीक्षा करता है। वस्तु तथ्य का पर्यालोचन कर व्यवस्थित रूप से यथास्थिति को समझ लेता है। इस पूरी समालोचना से उसके चिन्तन में चार चाँद लग जाते हैं। इससे जो जानकारी होती है, उसे चिन्तामय ज्ञान कहते हैं। याग प्रक्रिया किसी तरह अपूर्ण या अधूरी न रह जाय, उसकी यह चिन्ता दूर हो जाती है। यह ज्ञान दो तरह का होता है—१. मन्द **चिन्तामय** ज्ञान और २. [2]स्वभ्यस्त ज्ञान। मन्दज्ञान श्रेयस्कर नहीं होता। स्वभ्यस्त ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अभ्यासनिष्ठ और कर्मनिष्ठ गुरु अपने महान् अभ्यास के आधार पर याग प्रक्रिया को क्रमिक रूप से सम्पन्न करने में दक्ष होता है। इस प्रकार विधि पूर्वक कर्म सम्पन्न होने पर भावना के स्तर पर एक विशिष्ट रूप से सम्पूर्णता का बोध होता है। इस बोध को **भावनामय** ज्ञान कहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक १८।१० ; २. तदेव १८।८

यतो योगं समासाद्य योगी योगफलं लभेत् ।
एवं विज्ञानभेदेन ज्ञानी प्रोक्तश्चतुर्विधः ।। ३२ ।।
संप्राप्तो घटमानश्च सिद्धः सिद्धतमोऽन्यथा ।
योगी चतुर्विधो देवि यथावत्प्रतिपद्यते ।। ३३ ।।
समावेशोक्तिवद्योगस्त्रिविधः समुदाहृतः ।
तत्र प्राप्तोपदेशस्तु पारम्पर्यक्रमेण यः ।। ३४ ।।

योग की परिपूर्णता पर और योग विधियों को पूरी तरह समासादित कर लेने पर उसके सुपरिणाम और सुफल की अनुभूति योगी को होने लगती है। योग एक विज्ञान है। इसमें निष्णात योगी स्वयं विज्ञानवान् कहलाने लगता है। इस विज्ञान का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर इसकी स्तरीयता का बोध भी होता है। स्तरीयता के अनुसार विज्ञानवान् योगी चार प्रकार के होते हैं—यह शास्त्र कहता है ।। ३२ ।।

चारों भेदों का निर्देश कर रहे हैं—

१. संप्राप्त, २. घटमान, ३. सिद्ध और ४. सिद्धतम, ये चार भेद विज्ञानवान् योगी के होते हैं। इन चारों संज्ञाओं से इनकी स्तरीयता भी स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः समावेश की अवस्थाओं का ही आधार यहाँ लिया गया है। यद्यपि योगी को विज्ञान भेद से चार प्रकार का कहा गया है किन्तु योग के क्षेत्र को तो छोड़ ही दिया गया है। प्रश्न यह होता है कि, योग कितने प्रकार के होते हैं? इसके उत्तर में भगवान् भूतभावन समावेश की बात प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि, समावेश की उक्ति की भाँति योग तीन प्रकार का ही निर्दिष्ट करते हैं। इसी अधिकार के श्लोक ४-७ से यह ज्ञात होता है कि, क्रियायोग, ज्ञानयोग और मन्त्रयोग रूप तीन ही योग हो सकते हैं। 'समावेशवत् (श्लोक ३४) के अनुसार क्रियात्मक, ज्ञानात्मक और मन्त्रात्मक तादात्म्य ही समावेश है। श्लोक चार के अनुसार तो योग मात्र वस्तु-वस्तुसत्ता का ऐकात्म्य ही माना जा सकता है।

इसी सन्दर्भ में सम्प्राप्त घटमान सिद्ध और सुसिद्ध शब्दों को परिभाषित कर रहे हैं—

१. सम्प्राप्त (विज्ञानवान् योगी)—

परम्परा के अनुसार ठीक उसी सम्प्रदाय क्रम से जिन शिष्यों को उपदेश दिया जाता है, वे शिष्य संप्राप्त संज्ञक माने जाते हैं। ये क्रिया, ज्ञान और मन्त्र

प्राप्तयोगः स विज्ञेयस्त्रिविधोऽपि मनीषिभिः ।
चेतसो घटनं तत्त्वाच्चलितस्य पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
यः करोति तमिच्छन्ति घटमानं मनीषिणः ।
तदेव चेतसा नान्यद्द्वितीयमवलम्बते ॥ ३६ ॥
सिद्धयोगस्तदा ज्ञेयो योगो योगफलार्थिभिः ।
यः पुनर्यत्र तत्रैव संस्थितोऽपि यथा तथा ॥ ३७ ॥
भुञ्जानस्तत्फलं तेन हीयते न कथञ्चन ।
सुसिद्धः स तु बोद्धव्यः सदाशिवसमः प्रिये ॥ ३८ ॥
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यमेतेषां समुदाहृतम् ।
ज्ञानिनां योगिनां चैव सिद्धो योगविदुत्तमः ॥ ३९ ॥

के त्रैविध्य वाले संप्राप्त योगी हैं। क्रियोपदेश में सम्प्राप्त, ज्ञान में सम्प्राप्त और मन्त्रोपदेश के क्रम से सम्प्राप्त। यही इनकी त्रिविधता है।

२. घटमान—

घटमान योगी वह माना जाता है, जो बारम्बार चित्त की चञ्चलता से पहले उद्विग्न था, पर अब वह स्थितप्रज्ञ हो गया है। उसका चित्त शान्ति में घटित हो गया है। इस प्रकार चितचाञ्चल्य का विजेता स्थिरमान योगी घटमान होता है।

३. सिद्ध—

वही स्थिर मानस साधक चित्त की एकाग्रता के प्रभाव से तनिक भी विचलित नहीं होता, किसी अन्य का अवलम्बन नहीं करता, अनन्य चिन्तनरत हो जाता है। यह एक तरह के शाक्त समावेश की दशा होती है। योग के सुपरिणामों में सार्थक ढंग से अपना लक्ष्य बना लेने वाले लोग उन्हें 'सिद्ध' कहते हैं।

४. सुसिद्ध या सिद्धतम -

जो योगी पुरुष जहाँ कहीं भी जिस किसी भी अवस्था में संस्थित रहता हुआ भी, उन-उन परिस्थितियों के परिणाम भोगता हुआ भी स्वात्मसंवित् साक्षात्कार रूप में शैवतादात्म्य रूप महाभाव से च्युत नहीं होता, किसी अवस्था में

यतोऽस्य ज्ञानमप्यस्ति पूर्वो योगफलोज्झितः ।
यतश्च मोक्षदः प्रोक्तः स्वभ्यस्तज्ञानवान्बुधैः ॥ ४० ॥

इत्येतत्कथितं सर्वं विज्ञेयं योगिपूजिते ।
तन्त्रार्थमुपसंहृत्य समासाद्योगिनां हितम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे चतुर्थोऽधिकारः ॥ ४ ॥

भी उसे अर्थात् तादात्म्य भाव से होन नहीं होता, उसे सुसिद्ध या सिद्धतम कहते हैं। ऐसा योगी, प्रिये पार्वति! सदाशिव के समान होता है। इनका उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य स्वतः और शास्त्रों द्वारा भी प्रमाणित है। सभी यही कहते हैं। चाहे वह ज्ञानी हो, योगी हो, दोनों दृष्टियों से इनमें सुसिद्ध ही सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ ३३-३९ ॥

यह अनुभव की बात है और आप्त पुरुष भी यही कहते हैं कि, सबसे महान् योगी और ज्ञानी भी वही है, जो [1]स्वभ्यस्त ज्ञानवान् योगी होता है। वही वास्तविक रूप से मोक्ष को उपलब्ध कराने में समर्थ होता है। उनके पास ज्ञान होता है। अब वह योग मार्ग की उपलब्धियों पर इतराता नहीं बरन् उन्हें छोड़कर शान्ति का प्रतीक बन गया होता है ॥ ४० ॥

योगियों के द्वारा पूजित प्रिये पार्वति! मैंने इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा है, ये सारी बातें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनका ज्ञान सबको होना चाहिये। ये विज्ञेय हैं। इन बातों को मैंने समस्त तन्त्रों के निष्कर्षार्थ रूप से व्यक्त किया है। एक तरह से यह तन्त्रार्थ का उपसंहार ही है। संक्षेप में ये योगियों के लिये अत्यन्त हितकारक हैं ॥ ४१ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रका
डॉ० परमहंसमिश्र कृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
योगमार्गविधिनिरूपण नामक चतुर्थ अधिकार परिपूर्ण
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥



---

१. श्रीतन्त्रालोक १६।२०६

अथ पञ्चमोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि भुवनाध्वानमीश्वरि ।
आदौ कालाग्निभुवनं शोधितव्यं प्रयत्नतः ॥ १ ॥

अवीचिः कुम्भीपाकश्च रौरवश्च तृतीयकः ।
कूष्माण्डभुवने शुद्धे सर्वे शुद्धा न संशयः ॥ २ ॥

ह्सौः

परमेशमुखोद्भूतं ज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्र 'हंस' कृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्य संवलितम्

पञ्चमोऽधिकारः

[५]

योगमार्ग विधि का उपदेश करने के बाद परमेश्वर शिव ने ईश्वरी से यह कहा कि, देवि ! अब मैं सर्वाधार रूप भुवनाध्वा का उपदेश करूँगा। साधक को सर्वप्रथम कालाग्नि भुवन का ज्ञान आवश्यक होता है। जिसमें विश्व का अवस्थान है, जिसमें स्वयम् अपना भी अवस्थान है। अतः साधना, ज्ञान और योगमार्ग से परिचित व्यक्ति का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह इस कालाग्नि भुवन का शोधन कर ले और प्रयत्नपूर्वक अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में सतत संलग्न हो जाय ॥ १ ॥

अवीचि, कुम्भीपाक और तीसरा रौरव ये तीनों शुद्ध कूष्माण्ड भुवन में अवस्थित हैं। ये सभी शुद्ध भुवन में रहने के कारण स्वयं शुद्ध हैं। पुराणों में इन्हें नितान्त अशुद्ध और घोर नरक माना गया है। यहाँ इन्हीं संज्ञा वाले इन्हें घोर नरक न मानकर शुद्ध कहा गया है। साथ ही यह निर्देश भी दे दिया गया है कि, इनके विषय में सन्देह और संशय नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥

पातालानि ततः सप्त तेषामादौ महातलम् ।
रसातलं ततश्चान्यत्तलातलमतः परम् ।। ३ ।।

सुतलं नितलं चेति वितलं तलमेव च ।
हाटकेन विशुद्धेन सर्वेषां शुद्धिरिष्यते ।। ४ ।।

तदूर्ध्वं पृथिवी ज्ञेया सप्तद्वीपार्णवान्विता ।
देवानामाश्रयो मेरुस्तन्मध्ये संव्यवस्थितः ।। ५ ।।

भुवोलोकस्तदूर्ध्वं च स्वर्लोकस्तस्य चोपरि ।
महो जनस्तपः सत्यमित्येतल्लोकसप्तकम् ।। ६ ।।

चतुर्दशविधो यत्र भूतग्रामः प्रवर्तते ।
स्थावरः सर्पजातिश्च पक्षिजातिस्तथापरा ।। ७ ।।

मृगसंज्ञश्च पश्वाख्यः पञ्चमोऽन्यश्च मानुषः ।
पैशाचो राक्षसो याक्षो गान्धर्वश्चैन्द्र एव च ।। ८ ।।

इसके बाद पातालों की स्थिति निर्दिष्ट कर रहे हैं—इनके अवस्थान का क्रम अवीचि आदि के अनन्तर आता है। ये सात हैं। इनमें से सबसे पहले जो पाताल आता है, उसे महातल कहते हैं। उसके बाद रसातल का क्रम है। रसातल के बाद तलातल तीसरा पाताल है। चौथा सुतल, पाँचवाँ नितल, छठाँ वितल और सातवें पाताल को तल कहते हैं। ये सातों हाटक भुवन के अन्तर्गत हैं। ये हाटक सदृश शुद्ध भुवन में रहने के कारण सभी शुद्ध हैं।। ३-४ ।।

इनके ऊपर पृथ्वीलोक का अवस्थान है। इसमें महासागरों समेत सात द्वीप आते हैं। देवताओं का आश्रय मेरु नामक पर्वत पृथ्वी के मध्य भाग में ही अवस्थित है। पृथ्वी के ऊपर भुवर्लोक, उसके ऊपर स्वर्लोक आता है। इसके ऊपर क्रमिक रूप से मह, जन, तप और सत्यलोक आते हैं। यही सात लोक हैं।। ५-६ ।।

पृथ्वी पर १४ प्रकार के प्राणियों का समुदाय अपना कर्म भोगने में संलग्न है। इनमें १. स्थावर, २. सर्प, ३. पक्षीवर्ग, ४. पशु, ५. मृग, ६. मनुष्य, ७. पिशाच,

सौम्यश्च प्राजापत्यश्च ब्राह्मश्चात्र चतुर्दश ।
सर्वस्यैवास्य संशुद्धिर्ब्राह्मे संशोधिते सति ॥ ९ ॥

भुवनं वैष्णवं तस्मान्मदीयं तदनन्तरम् ।
तत्र शुद्धे भवेच्छुद्धं सर्वमेतन्न संशयः ॥ १० ॥

कालाग्निपूर्वकैरेभिर्भुवनैः पञ्चभिः प्रिये ।
शुद्धैः सर्वमिदं शुद्धं ब्रह्माण्डान्तर्व्यवस्थितम् ॥ ११ ॥

तद्बहिः शतरुद्राणां भुवनानि पृथक् पृथक् ।
दश संशोधयेत्पश्चादेकं तन्नायकावृतम् ॥ १२ ॥

---

८. राक्षस, ९. यक्ष, १०. गन्धर्व, ११. ऐन्द्र, १२. सौम्य, १३. प्राजापत्य और १४. ब्राह्म ये चौदह प्रकार के प्राणी माने जाते हैं। ब्राह्म का शोधन कर लेने पर शेष सभी शुद्ध हो जाते हैं। इसके शोधन की क्या विधि है, इसका निर्देश यहाँ नहीं है ॥ ७-९ ॥

भुवन की गणना का क्रम निर्दिष्ट कर रहे हैं—

१. वैष्णव, २. शैव। भगवान् कह रहे हैं कि, शैव भुवन की शुद्धि कर लेने पर अन्य सभी शुद्ध हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं है ॥ १० ॥

इस प्रकार १. कालाग्नि (श्लोक १) २. हाटक (श्लोक ४) ३. भूमण्डल (सप्तलोक, चतुर्दश भूत ग्राम श्लोक ५-९) ४. वैष्णव और ५. शैव—ये पाँचों भुवन भी शोधितव्य माने जाते हैं। यह पूरा ब्रह्माण्ड इन्हीं पाँच भुवनों से सुशोभित है। इन पाँचों के शोधन के उपरान्त सर्वशुद्धता सम्पन्न हो जाती है ॥ ११ ॥

इसके बाहर अर्थात् ब्रह्माण्ड परिवेश के ऊपर अलग-अलग शतरुद्रों के भुवन विद्यमान हैं। ये ग्यारह हैं। इनमें दश शतरुद्र भुवन और ग्यारहवाँ शतरुद्रों के अधिपति वीरभद्र भुवन की ही गणना की जाती है। पहले दश भुवनों का शोधन कर लेने के उपरान्त वीरभद्र नामक शतरुद्र भुवन की शुद्धि होती है। इनके ११ भुवनों के नाम इस प्रकार हैं[1]—

१, श्रोत० १६।१८०;

अनन्तः प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथापरः ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥ १३ ॥

शीघ्रो निधीश्वरश्चैव सर्वविद्याधिपोऽपरः ।
शम्भुश्च वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभः ॥ १४ ॥

एभिर्दशैकसंख्यातैः शुद्धैः शुद्धं शतं मतम् ।
उपरिष्टात्पुरस्तेषामष्टकाः पञ्च संस्थिताः ॥ १५ ॥

लकुली भारभूतिश्च दिण्ढ्याषाढी सपुष्करौ ।
नैमिषं च प्रभासं च अमरेशमथाष्टकम् ॥ १६ ॥

एतत्पत्यष्टकं प्रोक्तमतो गुह्यातिगुह्यकम् ।
तत्र भैरवकेदारमहाकालाः समध्यमाः ॥ १७ ॥

आम्रातिकेशजल्पेशश्रीशैलाः सहरीन्दवः ।
भीमेश्वरमहेन्द्राट्टहासाः सविमलेश्वराः ॥ १८ ॥

---

१. अनन्त, २. कपालीश, ३. अग्नि, ४. रुद्र, ५. यम, ६. नैऋत, ७. बल, ८. शीघ्र, ९. निधीश्वर, १०. शम्भु ११. वीरभद्र । शम्भु सभी विद्याओं के अधिपति माने जाते हैं। इन ग्यारहों की शुद्धि से शतरुद्रों की सिद्धि अवश्य हो जाती है ॥ १२-१४½ ॥

इनके ऊपर अष्टकों के अवस्थान हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. पत्यष्टक, २. गुह्याष्टक, ३. पवित्राष्टक, ४. स्थाण्वष्टक और ५. देवयोन्यष्टक । इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है—

१. **पत्यष्टक**[१]—१. लकुलीश, २. भारभूति, ३. दिण्ढि, ४. आषाढ़ी, ५. पुष्कर, ६. नैमिष, ७. प्रभास और ८. अमरेश (ऐन्द्र) ॥ १४½-१६½ ॥

२ (अ) **गुह्यातिगुह्याष्टक**[२]—१. भैरव, २. केदार, ३. महाकाल, ४. मध्यमेश्वर, ५. आम्रातकेश्वर, ६. जल्पेश, ७ श्रीशैल, ८. हरीन्दु ।

---

१. श्रीत० ८।२०४;   २. स्व० १०।८५४

कनखलं नाखलं च कुरुक्षेत्रं गया तथा ।
गुह्यमेतत्तृतीयं तु पवित्रमधुनोच्यते ।। १९ ।।
स्थाणुस्वर्णाक्षकावाद्यौ भद्रगोकर्णकौ परौ ।
महाकालाविमुक्तेशरुद्रकोटयम्बरापदाः ।। २० ।।
स्थूलः स्थूलेश्वरः शङ्कुकर्णकालञ्जरावपि ।
मण्डलेश्वरमाकोटद्विरण्डछगलाण्डकाः ।। २१ ।।
स्थाण्वष्टकमिति प्रोक्तमहङ्कारावधि स्थितम् ।
देवयोन्यष्टकं बुद्धौ कथ्यमानं मया शृणु ।। २२ ।।
पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं चैन्द्रमेव च ।
तथा सौम्यं सप्राजेशं ब्राह्ममष्टममिष्यते ।। २३ ।।

---

२. (आ) **गुह्याष्टक**—१. भोम, २. महेन्द्र, ३. अट्टहास, ४. विमल, ५. कनखल, ६. नाखल, ७. कुरुक्षेत्र और ८. गया[1] ।। १६३/४-१९ ।।

३. **पवित्राष्टक**—१. स्थाणु, २. स्वर्णाक्ष, ३. भद्र, ४. गोकर्ण, ५. महाकाल, ६. विमुक्तेश्वर, ७. रुद्र, ८. कोटयम्बर, ये सभी अहंकार मण्डल के तत्त्व हैं।

४. **स्थाण्वष्टक**[2]—१. स्थूल, २. स्थूलेश्वर, ३. शङ्कुकर्ण ४. कालञ्जर, ५. मण्डलेश्वर, ६. माकोट, ७. दुरण्ड, ८. छगलाण्ड । यह भी अहंकार के ही अन्तर्गत हैं ।। २०-२१½ ।।

५. **देवयोन्यष्टक**[3]—यह बुद्धिमण्डल का अष्टक माना जाता है। भगवान् पार्वती को इस प्रकार तत्त्वों के भी आन्तर तत्त्वावस्थान को समझा रहे हैं। वे हैं—१. पैशाच, २. राक्षस, ३. याक्ष, ४. गान्धर्व, ५. ऐन्द्र, ६. सौम्य, ७. प्राजापत्य, ८. ब्राह्म[4] ।। २२-२३ ।।

इसके बाद भगवान् प्रधान तत्त्व के अन्तर्गत आने वाले मण्डल की चर्चा कर रहे है—

---

१. स्व० १०।८८४; २. स्व० १०।८८१; ३. श्रीत० ८।२२५-२२६ ;
३. श्रीत० ८।२२६; ४. स्वच्छन्द तन्त्र १०।३५१

योगाष्टकं प्रधाने तु तत्रादावकृतं भवेत् ।
कृतं च वैभवं ब्राह्मं वैष्णवं तदनन्तरम् ॥ २४ ॥

कौमारभौमं श्रीकण्ठमिति योगाष्टकं तथा ।
पुरुषे वामभीमोग्रभवेशानैकवीरकाः ॥ २५ ॥

प्रचण्डोमाधवाऽजश्च अनन्तैकशिवावथ ।
क्रोधेशचण्डौ विद्यायां संवर्तो ज्योतिरेव च ॥ २६ ॥

कलातत्त्वे परिज्ञेयौ सुरपञ्चान्तकौ परे ।
एकवीरशिखण्डीशश्रीकण्ठाः कालमाश्रिताः ॥ २७ ॥

महातेजःप्रभृतयो मण्डलेशानसंज्ञकः ।
मायातत्त्वे स्थितास्तत्र वामदेवभवोद्भवौ ॥ २८ ॥

एकपिङ्गेक्षणेशानभुवनेशपुरःसराः ।
अङ्गुष्ठमात्रसहिताः कालानलसमत्विषः ॥ २९ ॥

---

१. योगाष्टक[1]—१. अकृत, २. कृत, ३. वैभव, ४. ब्राह्म, ५. वैष्णव, ६. कौमार, ७. भौम और ८. श्रीकण्ठ ।

२. पुरुष तत्त्व के अष्टक इस प्रकार होते हैं—१. वाम, २. भीम, ३. उग्र, ४. भव, ५ ईश, ६. ईशान, ७. एक और ८ वीर ॥ २४-२५ ॥

३. विद्याष्टक—१. प्रचण्ड, २. माधव, ३. अज, ४. अनन्त, ५. एक ६. शिव, ७. क्रोधेश, ८. चण्डेश ।

४. कलातत्त्व के अष्टक—१. संवर्त्त, २. ज्योति, ३. कृतान्त, ४. जननाशक ५. मृत्युहर्त्ता ६. महाक्रोध, ७. दुर्जय[2], ८. अनन्त ।

५. कालतत्त्व—१. महातेज, २. एक, ३. वीर, ४. शिखण्डी, ५. ईश, ६. श्रीकण्ठ, ७. मण्डल, ८ ईशान ।

६. मायातत्त्व—वामदेव, भव, उद्भव, शर्व, एकवीर, पिङ्गेक्षण, ईशान और भुवनेश्वर।

ये सभी अङ्गुष्ठ मात्र शक्तियों से युक्त रहते हैं। इनकी शोभा कालानल की आभा के समान होती है ॥ २६-२९ ॥

---

१. स्व० १०।९८१; श्रीत० ८।२३८; २. स्व० १०।९७६

विद्यातत्त्वेऽपि पञ्चाहुर्भुवनानि मनीषिणः ।
तत्र हालाहलः पूर्वो रुद्रः क्रोधस्तथापरः ॥ ३० ॥

अम्बिका च अघोरा च वामदेवी च कीर्त्यते ।
ईश्वरे [1]पिवनाद्याः स्युरघोरान्ता महेश्वराः ॥ ३१ ॥

रौद्री ज्येष्ठा च वामा च तथा शक्तिसदाशिवौ ।
एतानि सकले पञ्च भुवनानि विदुर्बुधाः ॥ ३२ ॥

एवं तु सर्वतत्त्वेषु शतमष्टादशोत्तरम् ।
भुवनानां परिज्ञेयं संक्षेपान्न तु विस्तरात् ॥ ३३ ॥

शुद्धेनानेन शुद्धयन्ति सर्वाण्यपि न संशयः ।
सर्वमार्गविशुद्धौ तु कर्तव्यायां महामतिः ॥ ३४ ॥

---

७. अशुद्ध विद्यातत्त्व के भुवन—इसमें पाँच ही भुवनों की गणना की गयी है। इनमें १. हालाहल रुद्र भुवन, २. क्रोध नामक रुद्र का भुवन, ३. अम्बिका भुवन, ४. अघोरा भुवन और ५. वामदेवी भुवन हैं ॥ ३०-३१ ॥

८. ईश्वर तत्त्व में पिवन से लेकर अघोर पर्यन्त महेश्वर भुवन हैं। परापरा मन्त्र में इन सबके नाम परिगणित हैं।

९. सकल में पाँच भुवन परिगणित हैं—१. रौद्री भुवन, २. ज्येष्ठा भुवन, ३. वामा भुवन, ४. शक्ति भुवन, और ५. सादाशिव भुवन।

ये पाँचों सकल तत्त्व में हैं—यह तथ्य सभी विवेकी पुरुषों को ज्ञात है ॥ ३१-३२ ॥

इस प्रकार सभी तत्त्वों के अन्तर्गत कुल मिलाकर ११८ भुवन प्रकल्पित हैं। यहाँ इसका वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप से मैंने किया है। एक तरह से यह उल्लेख गिनाने के लिये ही किया गया है ॥ ३३ ॥

स्वयं शुद्ध साधक 'हुँ फट्' बीज मन्त्र से सभी तत्त्वों और भुवनों का शोधन करता हुआ परमात्म भाव में प्रवेश कर जाता है। क्रमशः जब सारे मार्ग शुद्ध हो जाते हैं। महान् विवेकी मनीषी पुरुष इसमें निष्णात हो जाता है। वह दूसरे साधकों के पथ भी प्रशस्त करता रहता है।

---

१. क० ख० भुवनानि स्युरिति पाठः

सकलावधि संशोध्य शिवे योगं प्रकल्पयेत् ।
बुभुक्षोः सकलं ध्यात्वा योगं कुर्वीत योगवित् ॥ ३५ ॥
इत्येष कीर्तितो मार्गो भुवनाख्यस्य मे मतः ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे भुवनाध्वाधिकारः पञ्चमः ॥ ५ ॥

सारा शोधन सकल पर्यन्त ही है। इसमें सिद्धि प्राप्त कर शिवयोग सम्पन्न हो जाना ही जोवन का चरम परम लक्ष्य है ॥ ३४ ॥

बुभुक्षु (भोगपूर्वक साधना में प्रवृत्त साधक) के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर गुरुदेव उसे योग की शिक्षा दें। गुरु योगमार्ग का वेत्ता होता है। सकल पर्यन्त उसकी स्व स्तरीयता का ध्यान कर उसके कल्याण का मार्ग अपनाये और उसे शिवयोग सम्पन्न करें। भगवान शिव कहते हैं कि, देवि पार्वति! मैंने भुवनाध्वा का संक्षिप्त वर्णन किया है। यह सारा कथन मेरी मान्यता के ही अनुरूप है ॥ ३५ ॥

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रका
डॉ० परहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
भुवनाध्वा नामक पाँचवाँ अधिकार परिपूर्ण
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ षष्ठोऽधिकारः

अथास्य वस्तुजातस्य यथा देहे व्यवस्थितिः ।
क्रियते ज्ञानदीक्षासु तथेदानीं निगद्यते ॥ १ ॥

पादाधः पञ्चभूतानि व्याप्त्या द्व्यङ्गुलया न्यसेत् ।
धरातत्त्वं च गुल्फान्तमबादीनि ततः क्रमात् ॥ २ ॥

स्हौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेक भाषा भाष्य संवलितम्

षष्ठोऽधिकारः

[६]

परमेश्वर परमशिव कह रहे हैं कि, पार्वति ! ज्ञान दीक्षा के सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि, शिष्य के देह में तत्त्ववर्ग की अवस्थिति का स्वरूप क्या है ? किन-किन अङ्गों में कौन कौन तत्त्व प्रकृति द्वारा निहित कर दिये गये हैं ? इसका पूरा ज्ञान शिष्य साधक के लिये अनिवार्यतः आवश्यक होता है। गुरु दीक्षा के सन्दर्भ में इसकी शिक्षा देते हैं। मेरे द्वारा आज उसी का वर्णन किया जा रहा है। इसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥ १ ॥

पैरों के निचले भाग में पञ्चमहाभूत का अवस्थान है। इनका न्यास वहाँ आवश्यक रूप से करना चाहिये। विधि क्रिया के द्वारा भगवान् इसका निर्देश कर रहे हैं। इसको व्याप्ति का क्षेत्र मात्र दो अङ्गुल है। इसके ऊपर का अङ्ग गुल्फ कहलाता है। गुल्फ को भाषा में घुट्ठी कहते हैं। यह गाँठ सी निकली रहती है और हड्डी की गोल आकृति में दोनों पैरों में होती है। यह जहाँ समाप्त होती

तद्वत्तदुपरिष्टात्तु पर्वषट्कावसानकम् ।
पुंस्तत्त्वात्कलातत्त्वान्तं तत्त्वषट्कं विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥
ततो मायादितत्त्वानि चत्वारि सुसमाहितः ।
चतुरङ्गुलया व्याप्त्या सकलान्तानि भावयेत् ॥ ४ ॥
शिवतत्त्वं ततः पश्चात्तेजोरूपमनाकुलम् ।
सर्वेषां व्यापकत्वेन सबाह्याभ्यन्तरं स्मरेत् ॥ ५ ॥
षट्त्रिंशत्तत्त्वभेदेन न्यासोऽयं समुदाहृतः ।
अधुना पञ्च तत्त्वानि यथा देहे तथोच्यते ॥ ६ ॥

है, वहाँ एक धरातत्त्व का न्यास करना चाहिये । गुल्फ से ऊपर अप् आदि तत्त्वों का न्यास क्रमिक रूप से करना चाहिये ॥ २ ॥

गुल्फ से ऊपर अप् आदि तत्त्व न्यास किये जाते हैं । ये तत्त्व अप्, तेज (अग्नि),
१+१+
वायु, व्योम, तन्मात्र, इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्रकृति अर्थात् २३ तत्त्व के अनुसार
१+१+५ +१०+३ +१
नाभि तक के छह् पर्व आते हैं । नभि से ऊपर पुरुष, माया, नियति, राग विद्या और
१+१ +१+ १+१
कला ये छः तत्त्व न्यस्त किये जाते हैं । कण्ठकूप तक ये ६ तत्त्व न्यस्त किया जाते
१
हैं । इसके बाद माया सहित चार तत्त्व अर्थात् माया, शुद्धविद्या, ईश्वर और सदा-
१+ १ १+ १
शिव न्यस्त किये जाते हैं । कण्ठकूप तक शरीर का ६८ अङ्गुल पूरा होता है । इसके ऊपर १६ अङ्कुल में चारों तत्त्वों का न्यास कर देने पर ८४ अङ्गुल के शरीर में सभी तत्त्व न्यस्त हो जाते हैं । इसके ऊपर शिवतत्त्व आता है । यह ऊर्ध्वाधः पूरे शरीर को व्याप्त करता है । शिवतत्त्व ही परम प्रकाशमय तत्त्व और अनामय तत्त्व है । इसे परम शान्त अर्थ में अनाकुल और सर्वव्यापक तत्त्व मानते हैं ॥ ३-५ ॥

इस तरह यह छत्तीस तत्त्वात्मक न्यास पूरा होता है ।

नाभेरूर्ध्वं तु यावत्स्यात् [1]पर्वषट्कमनुक्रमात् ।
धरातत्त्वेन गुल्फान्तं व्याप्तं शेषमिहाम्बुना ॥ ७ ॥
द्वाविंशतिश्च पर्वाणि [2]तदूर्ध्वं तेजसावृतम् ।
तस्माद्द्वादश पर्वाणि वायुव्याप्तिरुदाहृता ॥ ८ ॥
आकाशान्तं परं शान्तं सर्वेषां व्यापकं स्मरेत् ।
शक्त्यादिपञ्चखण्डाध्वविधिष्वप्येवमिष्यते ॥ ९ ॥
त्रिखण्डे कण्ठपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम् ।
विद्यातत्त्वमतोर्ध्वं तु शिवतत्त्वं तु पूर्ववत् ॥ १० ॥
एवं तत्त्वविधिः प्रोक्तो भुवनाध्वा तथोच्यते ।
कालाग्नेर्वीरभद्रान्तं पुरषोडशकं ततः ॥ ११ ॥

इसके आगे भगवान् शिव यह बताना चाहते हैं कि, शरीर में पाँचों तत्त्व कैसे न्यस्त किये जा सकते हैं। गुल्फान्त धरातत्त्व, नाभि तक अम्बुतत्त्व, नाभि से ऊर्ध्व अग्नितत्त्व, कण्ठकूप तक २२ अङ्गुल मानकर न्यास करने का यहाँ निर्देश है।

उससे ऊपर १२ अङ्गुल वायु की व्याप्ति मानी जाती है। आकाश तत्त्व शक्ति तत्त्व पर्यन्त व्याप्त है। ऊपर की विधि योग में व्यवस्था के अनुसार ही ये पाँचों तत्त्व भी शरीर में गुरु के निर्देश के अनुसार न्यस्त किये जाते हैं॥ ६-९ ॥

शरीर को तीन खण्डों में परिकल्पित कर त्रितत्त्व विधि अपनायी जाती है। कण्ठ पर्यन्त आत्मतत्त्व का न्यास करना चाहिये। कण्ठ से ऊपर विद्यातत्त्व न्यस्त किया जाता है। शिव तत्त्व तो अनामय तत्त्व और सर्वव्यापक है। इसे ऊर्ध्व द्वादशान्त तक व्याप्त मानते हैं॥ १० ॥

इस प्रकार तत्त्व विधि का वर्णन करने के उपरान्त भुवनाध्वा का वर्णन कर रहे हैं—

कालाग्नि से वीरभद्र पर्यन्त १६ पुर माने जाते हैं। इन्हें ऊपर की तरह गुल्फ पर्यन्त तक ध्यानपूर्वक प्रकल्पित कर न्यस्त करना चाहिये। इसके बाद

१. तन्त्रालोके पूर्वषट्कमिति पाठः ; २. तन्त्रालोके ततोर्द्धमिति पाठः

गुल्फान्तं विन्यसेद् ध्यात्वा यथावदनुपूर्वशः ।
तस्मादेकाङ्गुलव्याप्त्या लकुलीशादितः क्रमात् ॥ १२ ॥

विन्यसेत्तु द्विरण्डान्तं त्र्यङ्गुलं छगलाण्डकम् ।
ततः पादाङ्गुलव्याप्त्या देवयोगाष्टकं पृथक् ॥ १३ ॥

ततोऽप्यर्धाङ्गुलव्याप्त्या पुरषट्कमनुक्रमात् ।
चतुष्कं तु द्वयेऽन्यस्मिन्नेकमेकत्र चिन्तयन् ॥ १४ ॥

उत्तरादिक्रमाद्द्व्येकभेदो विद्यादिके त्रये ।
काले प्रत्येकमुद्दिष्टमेकैकं तु यथाक्रमम् ॥ १५ ॥

मण्डलाधिपतीनां तु व्याप्तिरर्धाङ्गुला मता ।
त्रिभागन्यूनपर्वाख्या त्रितयस्य तथोपरि ॥ १६ ॥

एकाङ्गुल व्याप्ति क्रम से लकुलीश से द्विरण्ड पर्यन्त न्यास करना चाहिये। छगलाण्ड की व्याप्ति तीन अङ्गुल की मानी जाती है। इसके बाद सवा अङ्गुल की व्याप्ति में देवयोगाष्टक का न्यास होता है। इसके बाद आधी अङ्गुल की व्याप्ति में छह पुर न्यस्त होते हैं। पुनः दो में चार पुर न्यस्त होगा। आगे के क्रम में एक पुर का चिन्तन कर सबकी गणना कर लेनी चाहिये॥ ११-१४ ॥

विद्यादिक जिन तीन तत्त्वों का न्यास होता है, उन्हें उत्तर के क्रम से न्यस्त करना चाहिये। जहाँ तक काल का प्रश्न है—इन्हें प्रत्येक एक-एक अङ्गुल की ही व्याप्ति माननी चाहिये। इसमें क्रम का ध्यान रखना चाहिये। व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। जो मण्डलों के अधिपति हैं, उनके न्यास के समय यह ध्यान रखना चाहिये कि, उनकी व्याप्ति आधे-आधे अङ्गुल में ही रहती है। वस्तुतः मण्डल-पूजा में मण्डलाधिपति की चर्चा की जाती है। इनकी पूजा ईशान से अग्निकोण पर्यन्त होती है[1]। इनमें तीन की अर्थात् त्रिभाग न्यून का तात्पर्य पूरी वस्तु के चार भाग कर तीन भाग न्यून करने से है। इसमें मात्र चौथा पर्व ही शेष रह जाता है। चतुर्थ भाग में तीन मण्डलाधिपति पूज्य हैं॥ १५-१६ ॥

---

१. श्रीत० १६।९

द्वितीयस्य तु सम्पूर्णा पञ्चकं समुदाहृतम् ।
अष्टकं पञ्चकं चान्यदेवमेव विलक्षयेत् ॥ १७ ॥
भुवनाध्वविधावत्र पूर्ववच्चिन्तयेच्छिवम् ।
पदानि द्विविधान्यत्र वर्गविद्याविभेदतः ॥ १८ ॥
तेषां तन्मन्त्रवद्व्याप्तिर्यथेदानीं यथा शृणु ।
चतुरङ्गुलमाद्यं तु द्वे चान्यऽष्टाङ्गुले पृथक् ॥ १९ ॥
दशाङ्गुलानि त्रीण्यस्मादेकं[1] पञ्चदशाङ्गुलम् ।
चतुर्भिरधिकैरन्यन्नवमं व्यापकं महत् ॥ २० ॥

दूसरा मण्डलाधिपति कुबेर है यह उत्तर दिग्विभाग का स्वामी है। इसकी सम्पूर्ण व्याप्ति अपने मण्डल में है। इसी तरह पाचवाँ मण्डल भी पूज्य है। इसके अधिपति विकृति हैं। आठवाँ मण्डल इन्द्र का ही है। आठवें और पाँचवें की तरह शेष अर्थात् छठें और सातवें मण्डल और मण्डल-अधिपति की पूजा होती है ॥ १७ ॥

भुवनाध्वा विधि में भी शिव की उसी तरह पूजा और उनकी न्यास प्रक्रिया पूरो की जाती है। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि, वर्ग और विद्या भेद से पद भी दो प्रकार के माने गये हैं ॥ १८ ॥

उनकी व्याप्ति को प्रकल्पना का आधार यही महातन्त्र ग्रन्थ है। इसी आधार पर श्रीतन्त्रालोक में भी पद विभाजन की चर्चा की गयी है।[2] उसके अनुसार नवपदी क्रम इस प्रकार जानना चाहिये।

क्रम पद	अङ्गुल व्याप्ति	योग
१. आद्यपद	चार अङ्गुल	४ अङ्गुल
२. द्वितीय पद	आठ अङ्गुल	८ अङ्गुल
३. अन्यत् अर्थात् तृतीय पद	आठ अङ्गुल	८ अङ्गुल
४. चतुर्थ पद	दश अङ्गुल	१० अङ्गुल
५. पञ्चम पद	दश अङ्गुल	१० अङ्गुल
६. षष्ठ पद	दश अङ्गुल	१० अङ्गुल
७. सप्तम पद	१५ अङ्गुल	१५ अङ्गुल
८. अष्टम पद	पन्द्रह से चार अधिक अर्थात् १९ अङ्गुल	१९ अङ्गुल
९. नवम पद	व्यापक	=कुल ८४ अङ्गुल

---

१. क० पु० एवं पञ्चवचेति पाठः; २. श्रीत० १६।२३३-२३४

ऊनविंशतिके भेदे पदानां व्याप्तिरुच्यते ।
एकैकं द्व्यङ्गुलं ज्ञेयं ततः पूर्वं पदत्रयम् ।। २१ ।।

सप्ताङ्गुलानि[1] चत्वारि दशाङ्गुलमतः परम् ।
द्व्यङ्गुलं द्वे पदे चान्ये षडङ्गुलमतः परम् ।। २२ ।।

द्वादशाङ्गुलमन्यच्च द्वेऽन्ये पञ्चाङ्गुले पृथक् ।
पदद्वयं चतुष्पर्व द्वे पूर्वे द्वे पृथक्कतः ।। २३ ।।

व्यापकं पदमन्यच्च ...... तत्परिकीर्तितम् ।
अपरोऽयं विधिः प्रोक्तः परापरमतः शृणु ।। २४ ।।

पूर्ववत्पृथिवीतत्त्वं विज्ञेयं चतुरङ्गुलम् ।
सार्धद्व्यङ्गुलमानानि धिषणान्तानि लक्षयेत् ।। २५ ।।

इस प्रकार नवपदी व्याप्ति न्यास चौरासी अङ्गुल के शरीर में इसी क्रम से करना चाहिये ।। १९-२० ।।

ऊनविंश पदों की व्याप्ति पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये । उसका क्रम इस प्रकार है । एक-एक करके तीन पद २,२,२ अङ्गुलों का होता है । चार सात-सात ७,७,७,७ अङ्गुल क्रम से न्यास करने का विधान है । इसके बाद दश अङ्गुल १० अङ्गुल (३+७) की व्याप्ति मानी जाती है । दो पद एक-एक १,१ अङ्गुल, इसके बाद छह अङ्गुल की व्याप्ति शास्त्र सम्मत है । इसके आगे के दो पद अर्थात् चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ पद ५, ५ अङ्गुल के होते हैं । इसके आगे के सोलहवें और सत्रहवें पद की व्याप्ति २, २ अङ्गुल की, १८वीं व्याप्ति १ अङ्गुल की और उन्नीसवाँ पद सर्वव्यापक माना जाता है । अपर विधि का यह क्रम यहाँ तक पूरा होता है । इसके बाद परापर विधि का निर्देश कर रहे हैं ।। २१-२४ ।।

पूर्ववत् पृथ्वी तत्त्व चार अङ्गुल की व्याप्ति में ही न्यस्तव्य है । यह जानकारी सभी को होनी चाहिये । इसके बाद बुद्धि तत्त्व पर्यन्त ढाई-ढाई अङ्गुल की व्याप्ति में सारे तत्त्व न्यस्त करना चाहिये । प्रधान की व्याप्ति तीन अङ्गुल परिवेश की मानी जाती है । शेष का न्यास पूर्ववत् अर्थात् ढाई अङ्गुल का ही रहना चाहिये ।। २४-२५ ।।

---

१. तन्त्रालोके अष्टाङ्गुलानीति पाठः

प्रधानं त्र्यङ्गुलं ज्ञेयं शेषं पूर्ववदादिशेत् ।
परेऽपि पूर्ववत्पृथ्वी त्र्यङ्गुलान्यपराणि च ॥ २६ ॥

चतुष्पर्वं[1] प्रधानं च शेषं पूर्ववदाश्रयेत् ।
द्विविधोऽपि[2] हि वर्णानां षड्विधो भेद उच्यते[3] ॥ २७ ॥

तत्त्वमार्गविधानेन ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पदमन्त्रकलादीनां पूर्वसूत्रानुसारतः ॥ २८ ॥

त्रितयत्वं प्रकुर्वीत तत्त्ववर्णोक्तवर्त्मना ।

पर न्यास में भी इसी तरह की व्यवस्था गुरु को करनी चाहिये। शिष्य को अपने आदेश से गुरु निरन्तर अनुगृहीत करता रहे, यह आवश्यक है। पृथ्वी को अङ्गुलों के माप से चार अङ्गुल की व्याप्ति माननी चाहिये। अन्य तत्त्वों की व्याप्ति तीन अङ्गुल ही रहनी चाहिये ॥ २६ ॥

जहाँ तक प्रधान का प्रश्न है, यह चार अङ्गुल के क्षेत्र में न्यस्तव्य है। इसके ऊपर पूर्ववत् न्यास ही अपेक्षित है। यों तो वर्ण दो ही होते हैं—१. ध्वन्यात्मक और २. वर्णात्मक। इन्हीं से छः प्रकार के भेद हो जाते हैं। वर्णात्मक शब्द से वर्ण, पद और मन्त्र बनते हैं और ध्वन्यात्मक से कला, तत्त्व और भुवन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन ये छह भेद हो जाते हैं ॥ २७ ॥

किन्तु वस्तु या तथ्य का ज्ञान मात्र ऊपरी नहीं होना चाहिये वरन् पारमार्थिक रूप से उसकी रहस्यात्मक गहराइयों में बैठकर करना चाहिये। उसका मार्ग यही तत्त्व सम्बन्धी चिन्तन ही है। पद, मन्त्र और कला आदि छह अध्वा का मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है। इसकी चर्चा पूर्व क्षेत्र में सांकेतिक रूप से कर दी गयी है ॥ २८ ॥

त्रितयत्व प्रकर्त्तव्य का तात्पर्य छः अध्वाओं को तीन-तीन के दो भागों में बाँटने से ही है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि, ध्वन्यात्मक शब्द के तीन भेद और वर्णात्मक ध्वनि के भी तीन भेद होते हैं। यही त्रितयत्व है। इसका वर्त्म अर्थात् मार्ग भी तात्त्विक वर्णोक्ति ही है। इस त्रितयत्व का एक दूसरा तात्पर्य

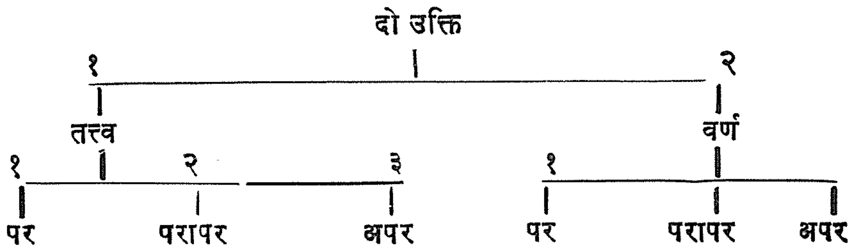
---

१. क० पु० चतुष्पर्येति पाठः; २. क० पु० द्विविधेऽपीति पाठः।
३. क० पु० इष्यत इति पाठः।

इत्थं भूतशरीरस्य गुरुणा शिवमूर्तिना ॥ २९ ॥
प्रकर्तव्या विधानेन दीक्षा सर्वफलप्रदा ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे देहमार्गाधिकारः षष्ठः ॥ ६ ॥

पर, परापर और अपर से भी लगाते हैं। इसका मार्ग शरीर में अङ्गुल व्याप्ति का मायीय सिद्धान्त है, जिसके अनुसार तत्त्वों और वर्णों का न्यास करते हैं। इसको इस तरह समझ सकते हैं।



यही तत्त्व वर्णोक्ति का वर्त्म है, जिसके अनुसार त्रितयत्व प्रदर्शित हैं। भगवान् शिव कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! यही मार्ग है, जिससे विधि पूर्वक दीक्षा देनी चाहिये। दीक्षा सभी फलों अर्थात् भोगेच्छु का भोग और मरणोपरान्त मुक्ति देती है तथा मुमुक्षु को जीवन्मुक्ति प्रदान करती हैं।

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रका
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
देहमार्गाधिकार नामक छठाँ अधिकार परिपूर्ण
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ सप्तमोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः ।
याभिः[1] संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १ ॥

त्रिशूलं च तथा पद्मं शक्तिश्चक्रं सवज्रकम् ।
दण्डदंष्ट्रे महाप्रेता महामुद्रा खगेश्वरी ॥ २ ॥

महोदया कराला च खट्वाङ्गं सकपालकम् ।
हलं पाशाङ्कुशं घण्टा मुद्गरस्त्रिशिखोऽपरः ॥ ३ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य-समन्वितम्

सप्तमोऽधिकारः

[७]

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि देवि ! पार्वति ! अब मैं तुम्हें उन शिवशक्तियों के विषय में कहने जा रहा हूँ, जिन्हें 'मुद्रा' कहते हैं। ये मुद्रायें मात्र कायिक कलायें नहीं अपितु इनके द्वारा मन्त्र का साधक सुरक्षित रहता है और निर्विघ्न मन्त्र जप कर अपने उद्देश्य की उपलब्धि में सफल हो जाता है ॥ १ ॥

जिन मुद्राओं के सम्बन्ध में मैं तुम्हें यहाँ बतलाने जा रहा हूँ, उनके नाम इस प्रकार हैं। इन्हें ध्यान पूर्वक अपने हृदय में निहित कर इनकी विशेषताओं का आकलन करना—

१. त्रिशूल, २. पद्म, ३. शक्ति, ४. चक्र, ५. वज्र, ६. दण्ड, ७. दंष्ट्रा, ८. महाप्रेता, ९. खगेश्वरी, १०. महोदया, ११. कराला, १२. खट्वाङ्ग, १३. कपाल, १४. हल, १५. पाश, १६. अङ्कुश, १७. घण्टा, १८. मुद्गर, त्रिशिखेश्वर,

१. स्वच्छ. याभिस्तु रक्षित इति पाठः ।

आवाहस्थापनीरोधा द्रव्यदा नतिरेव च ।
अमृता योगमुद्रेति विज्ञेया वीरवन्दिते ॥ ४ ॥

तर्जनीमध्यमानामा दक्षिणस्य प्रसारिताः ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकाक्रान्तास्त्रिशूलं परिकीर्तितम् ॥ ५ ॥

पद्माकारौ करौ कृत्वा पद्ममुद्रां प्रदर्शयेत् ।
संमुखौ प्रसृतौ कृत्वा करावन्तरिताङ्गुली ॥ ६ ॥

प्रसृते मध्यमे लग्ने कौमार्याः शक्तिरिष्यते ।
उत्तानवाममुष्टेस्तु दक्ष ... ... ॥ ७ ॥

... ... क्षयेन्मुष्टिं चक्रं नाराचं ... ... ।
उत्तानवामकस्योर्ध्वं न्यसेद्दक्षमधोमुखम् ॥ ८ ॥

---

१९. आवाहनी, २०. स्थापनी, २१. रोधा, २३. द्रव्यदा, २४. नति, २५. अमिता (अमृता) २६. योगमुद्रा ।

हे वीर श्रेणी के महासाधकों द्वारा वन्दिते पार्वति ! ये प्रमुख मुद्रायें हैं । इनका प्रयोग मन्त्र जप के पहले अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है ॥ २-४ ॥

इनकी क्रमिक निर्माण विधि का उल्लेख आगे श्लोकों में किया गया है, जो इस प्रकार है—

१. त्रिशूल—तर्जनी, मध्यमा और अनामा ये तीन दक्ष बाहु की अङ्गुलियाँ प्रसारित की जाय । शेष कनिष्ठिका को अङ्गुष्ठ से दबाकर हथेली ऊपर उठाने पर यह त्रिशूल मुद्रा बनती है ॥ ५ ॥

२. पद्म—हाथों की दशों अङ्गुलियों को खिले हुए कमल का रूप देने पर पद्ममुद्रा का प्रदर्शन किया जाता है ॥ ५½ ॥

३. शक्तिमुद्रा—दोनों हाथों को सामने फैलाकर अङ्गुलियों को मोड़ते हुए केवल मध्यमा में कनिष्ठिका लगी रहने की अवस्था को शक्ति मुद्रा कहते हैं ॥ ६-७ ॥

४. चक्र—वाम मुष्टि को उत्तान करके दक्ष बाहु को आगे प्रसृत कर उसी पर वाममुष्टि परिलक्षित करें तो चक्र मुद्रा होती है। इस अवस्था में दक्ष मुष्टि नीचे की ओर मुख कर रखनी चाहिये ॥ ७ ॥

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ श्लिष्टौ शेषाः स्युर्मणिबन्धगाः ।
वज्रमुद्रेति विख्याता चैन्द्री संतोषकारिका ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वप्रसारितो मुष्टिर्दक्षिणोऽङ्गुष्ठगर्भगः ।
दण्डमुद्रेति विख्याता वैवस्वतकुलप्रिया ॥ १० ॥

वामतो वक्त्रगां कुर्याद्वाममुष्टेः कनिष्ठिकाम् ।
दंष्ट्रेयं कीर्तिता देवि चामुण्डाकुलनन्दिनी ॥ ११ ॥

वामजानुगतं पादं हस्तौ पृष्ठप्रलम्बिनौ ।
विकृते लोचने ग्रीवा भग्ना जिह्वा प्रसारिता ॥ १२ ॥

सर्वयोगिगणस्येष्टा प्रीता योगीश्वरी मता ।
हस्तावधोमुखौ पद्भ्यां हृदयान्तं नयेद्बुधः ॥ १३ ॥
तिर्यग्मुखान्तमुपरि संमुखावूर्ध्वगौ नयेत् ।
महामुद्रेति विख्याता देहशोधनकर्मणि ॥ १४ ॥

---

५. **वज्रमुद्रा**—उत्तान वाम को अधोमुख, दक्ष कर के ऊपर न्यस्त करना चाहिये। कनिष्ठा और अङ्गुष्ठ श्लिष्ट रहे। शेष मणिबन्ध की ओर रखी गयी हों तो इस अङ्गुलियों की अवस्था को वज्रमुद्रा कहते हैं ॥ ८-९ ॥

६. **दण्ड मुद्रा**—अङ्गुलियों को मुष्टि की मुद्रा में बाँधकर जिसमें अंगूठा मुष्टि गर्भ में रहते हैं। यह वैवस्वत कुलप्रिया मुद्रा है ॥ १० ॥

७. **दंष्ट्रा**—बायीं मुट्ठी की कनिष्ठिका को वक्त्र की दिशा में ऊपर उठाने पर द्रंष्ट्रा मुद्रा बनती है। इसे चामुण्डाकुलनन्दिनी कहते हैं ॥ ११ ॥

८. **महाप्रेता**—१. बाँयें घुटने पर पैर रखना चाहिये। २. हाथों को पीठ की ओर लटका देना चाहिये। ३. आँखें पूर्ण रूप से खोल देना चाहिये। ४. गरदन को मोड़कर नीची कर लेनी चाहिये। ५. जीभ को काली की तरह बाहर निकालना चाहिये। ६. इन पाँचों मुद्राओं के बन्ध में तन्मय होकर एकाकार हो जाय। यह सभी योगियों को प्रिय मुद्रा है। इसे प्रीता कहिये, प्रेता कहिये एक ही बात है। यह योगीश्वरी मुद्रा मानी जाती है ॥ १२-१२½ ॥

९. **महामुद्रा**—१. हाथों को अधोमुख रखें। २. पैरों को हृदय के छोर तक ले जांय। ३. फिर वहां से तिर्यग्रूप से मुखाग्र की ओर ऊर्ध्वग रखते हुए स्थिर

सर्वकर्मकरी चैषा योगिनां योगसिद्धये ।
बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्[1] ॥ १४ ॥
दण्डाकारं तु तं [2]भावं नयेद्यावत्कखत्रयम् ।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ १६ ॥
एतां बद्ध्वा महावीरः खेगतिं प्रतिपद्यते ।
अधोमुखस्य दक्षस्य वाममुत्तानमूर्ध्वतः ॥ १७ ॥
अनामामध्यमे तस्य वामाङ्गुष्ठेन पीडयेत् ।
तर्जन्या तत्कनिष्ठां च तर्जनीं च कनिष्ठया ॥ १८ ॥
मध्यमानामिकाभ्यां च तदङ्गुष्ठं निपीडयेत् ।
मुद्रा महोदयाख्येयं महोदयकरी नृणाम् ॥ १९ ॥

करें। इससे पूरे शरीर का शोधन हो जाता है। इसीलिये इसे महामुद्रा कहते हैं। यह योगसिद्धि हेतु बड़ी प्रसिद्ध मुद्रा है ॥ १३-१४ ॥

१०. खगेश्वरी मुद्रा—पद्मासन सिद्ध व्यक्ति ही इसे कर सकता है। सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर आसन असीन हो जाये। नाभि में अक्षेश्वर का स्मरण प्रारम्भ करें। उसका न्यास भी वहाँ करें। वहाँ से उसे दण्डाकार भावित कर कखत्रय भूमि तक इसे ले जाय। खत्रय व्यापिनी, समना और उन्मना भाव को मानते हैं। वस्तुतः क-ख भाव आज्ञा के बिन्दु भाव से प्रारम्भ होकर शक्तिपर्यन्त होते हुए ऊपर पहुँचता है। उसे अर्थात् प्राणरूपी अक्षेश्वर को इन त्रिकों से प्रेरित करें। इस अवस्था में योगी खेचरी भाव प्राप्त कर लेता है ॥ १५-१६½ ॥

११. महोदया—दक्ष हथेली अधोमुख, उसके ऊपर वाम हथेलो को उत्तान रखकर ही अनामा और मध्यमा को सम अङ्गुष्ठ से दबाये या ऊपर की ओर पीड़ित करें। पुनः दाहिने की तर्जनी से बाँयीं कनिष्ठिका को दबायें। और बाँयी तर्जनी से दाहिनी कनिष्ठा को और दायीं तर्जनी बायीं कनिष्ठा को पीड़ित करें। बायीं मध्यमा और अनामिका को दाहिने अङ्गुष्ठ से दबायें। इस प्रकार की मुद्रा दाहिनी हथेली पर वाम उत्तान हथेली को रखने पर ही बन सकती है। इस मुद्रा को महोदया मुद्रा कहते हैं ॥ १७-१९ ॥

---

१. तं० क्षिपेदिति पाठः;　　२. ख० पु० तं० च, तं तावदिति पाठः

अनामिकाकनिष्ठाभ्यां सृक्कण्यो प्रविदारयेत् ।
जिह्वां च [1]चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।। २० ।।

क्रुद्धदृष्टिः करालेयं मुद्रा दुष्टभयङ्करो ।
वामस्कन्धगतो वाममुष्टिरुच्छ्रितर्जनो ।। २१ ।।

खट्वाङ्गाख्या स्मृता मुद्रा कपालमधुना शृणु ।
निम्नं पाणितलं [2]दक्षमोषत्संकुचिताङ्गुलि ।। २२ ।।

कपालमिति विज्ञेयमधुना हलमुच्यते ।
मुष्टिबद्धस्य दक्षस्य तर्जनो वाममुष्टिना ।। २३ ।।

वक्रतर्जनिना ग्रस्ता हलमुद्रेति कोर्तिता ।
मुष्टया [पृष्ठ]गयोर्दक्षवामयोस्तर्जनोद्वयम् ।। २४ ।।

---

१२. **करालाः**—दोनों अनामिका ओर कनिष्ठिकाओं से दोनों ओर के ओष्ठ कोणों के भोतर डालकर दोनों ओर खोंचे। उसो अवस्था में जोभ को चलायें। साथ में हा हा को ध्वनि भो कण्ठ से निकालता रहे। दृष्टि में क्रोध की मुद्रा का तनाव व्यक्त हो रहा हो। इस स्थिति में अङ्गुलियाँ, होंठ और आँखों के साथ शरीर में भो कुछ तनाव प्रतोत होता है। यह दुष्टजनों के मन में भो भय उत्पन्न कर देतो हैं। इसोलिये इसे दुष्ट भयङ्करो कहते हैं ।। २०-२०½ ।।

१३. **खट्वाङ्ग मुद्रा**—बाँयें कन्धे पर बाँयों मुट्ठो को इस प्रकार रखें, ताकि उस मुट्ठी को तर्जनो ऊपर उठा हुई हो। इस मुद्रा को खट्वाङ्ग मुद्रा कहते हैं ।। २१ ।।

१४. **कपाल मुद्रा**—दाहिनी हथेलो का तल अधोमुख हो, इसको अङ्गुलियाँ कुछ-कुछ सङ्कुचित दशा में मुड़ी-मुड़ी सी हों तो, इस दशा में बनने वालो मुद्रा को कपाल मुद्रा कहते हैं ।। २२ ।।

१५. **हल**—दक्ष हस्त को बँधो मुठ्ठो को तर्जनी को बाम बँधी मुठ्ठो को टेढ़ो तर्जनी से ग्रस्त करें। यह मुद्रा हलमुद्रा कहलातो है ।। २३ ।।

---

१. क० पु० जिह्वां च लालयेदिति पाठः ।
२. ख० दक्ष मोषत्तत्कुञ्चिताङ्गुलिम् इति पाठः ।

वामाङ्गुष्ठाग्रसंलग्नं पाशः प्रसृतकुञ्चितः ।
हले मुष्टिर्यथा वामो दक्षहीनस्तथाङ्कुशः ॥ २५ ॥

अधोमुखस्थिते वामे दक्षिणां तर्जनीं बुधः ।
चालयेन्मध्यदेशस्थां घण्टामुद्रा प्रिया मता ॥ २६ ॥

करावूर्ध्वमुखौ कार्यावन्योन्यान्तरिताङ्गुली ।
अनामे मध्यपृष्ठस्थे तर्जन्यौ [1]मूलपर्वगे ॥ २७ ॥

मध्यमे[2] द्वे युते कार्ये कनिष्ठे परुषावधि ।
तर्जन्यौ मध्यपार्श्वस्थे विरले परिकल्पिते ॥ २८ ॥

---

१६. पाश —यह मुद्रा गायत्री मन्त्र की भी मुद्रा हैं। इसमें दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बँधी हुई सी हों और बायीं मुट्ठी की तर्जनी को दायें हाथ की मुट्ठी की तर्जनी से बाँयें अङ्गुष्ठ के ऊपर ही एक दूसरे की ओर खींचा जाय, तो पाशमुद्रा बनती है यह स्वयं बद्ध पाश है ॥ २४ ॥

१७. अङ्कुश मुद्रा—हल मुद्रा में दाहिने हाथ की मुट्ठी और बाँयें हाथ की मुट्ठियों का जैसा प्रयोग करते हैं, वैसा इसमें नहीं है। इसमें दक्षहीन केवल वाम मुट्ठी की तर्जनी को वक्र उठाते हैं। उसी समय यह मुद्रा बन जाती है ॥ २५ ॥

१८, घण्टा—वाम हथेली अधोमुख करें। उसी अवस्था में नीचे दाहिने हाथ की संकुचित अङ्गुलियों वाली हथेली की तर्जनी को नीचे की तरफ करके पेण्डुलम की तरह चलावे। यही घण्टा नाम की मुद्रा है। यह बड़ी प्रिय मुद्रा मानी जाती है ॥ २६ ॥

१९. मुद्गर—यह मुद्रा भी गायत्री मन्त्र की प्रथम प्रयुज्यमान मुद्राओं में से एक है किन्तु उसकी बनावट में और इस तन्त्र में वर्णित प्रकार में बहुत अन्तर है। इसके अनुसार दोनों हाथों को ऊर्ध्व मुख कर एक दूसरे की अङ्गुलियों का मेलन रूप ग्रथन करें। दोनों अनामिकाओं को हथेलियों की पीठ पर सटा दें। दोनों तर्जनियों से अङ्गुष्ठमूल को गोल आवृत कर लें। दोनों मध्यमाओं को मिलाकर खड़ा कर लें। कनिष्ठा को सन्धि पर्यन्त स्थिति में ले आवें। इस प्रकार की बनने वाली मुद्रा को मुद्गर मुद्रा कहते हैं। यह त्रिशिख होती है और क्षण भर में एक आनन्दप्रद आवेश से भर देती है ॥ २७-२८½ ॥

---

१. स्व० मलपर्वत इति पाठः ; २. स्व० मध्ये द्व तु युत इति, परुषावपि इति पाठः

मुद्गरस्त्रिशिखो[1] ह्येष क्षणादावेशकारकः ।
कराभ्यामञ्जलिं कृत्वा अनामामूलपर्वगौ ॥ २९ ॥

अङ्गुष्ठौ कल्पयेद्विद्वान्मन्त्रावाहनकर्मणि ।
मुष्टी द्वावुन्नताङ्गुष्ठौ स्थापनी परिकीर्तिता ॥ ३० ॥

द्वावेव गर्भगाङ्गुष्ठौ विज्ञेया संनिरोधिनी ।
द्रव्यदा तु समाख्याता ... त्र संमुखी ॥ ३१ ॥

हृदये संमुखौ हस्तौ संलग्नौ प्रसृताङ्गुली ।
नमस्कृतिरियं मुद्रा मन्त्रवन्दनकर्मणि ॥ ३२ ॥

---

२०. आवाहनी मुद्रा—दोनों हाथों की अंजली बनाइये। दोनों अनामिकाओं के मूल पर्व में अंगूठों को सटा दीजिये। यह मुद्रा मन्त्रों के आवाहन में प्रयुक्त होती है ॥ २९ ॥

२१. स्थापनी —दोनों हाथों की ऐसी मुट्ठियों की मुद्रा बनाइये, जिसमें दोनों मुट्ठियाँ आमने-सामने सटी हों और दोनों के अंगूठे उठे हुए हों। इस मुद्रा को स्थापनी कहते हैं ॥ ३० ॥

२२. सन्निरोधिनी [रोधा]—यदि स्थापनी के बदले अंगूठों को मुष्टिगर्भ में डाल दीजियेगा, तो यह संनिरोधिनी हो जाती है।

२३. द्रव्यदा मुद्रा—जब निरोधिनी मुद्रा संमुखीना प्रकल्पित करते या बनाते हैं, तो इसे द्रव्यदा कहते हैं। श्लोक में खण्डित स्थान पर 'निरोधिन्यत्र' पाठ होना चाहिये ॥ ३१ ॥

२४. नति मुद्रा—हृदय पर दोनों प्रसृताङ्गुलि हाथों को स्पर्श मुद्रा में रखने से यह मुद्रा आकार ग्रहण करती है। इसमें नमस्कृति की भावना होनी चाहिये। इसका प्रयोग मन्त्र या देववन्दन के सन्दर्भ में करना चाहिये ॥ ३२ ॥

---

१. क० पु० स्त्रिशिर इति पाठः ।

अन्योन्यान्तरिताः सर्वाः करयोरङ्गुलीः स्थिताः ।
कनिष्ठां दक्षिणां वामेऽनामिकाग्रे नियोजयेत् ।। ३३ ।।

दक्षिणे च तथा वामां तर्जनीमध्यमे तथा ।
अङ्गुष्ठौ मध्यमूलस्थौ मुद्रेयममृतप्रभा ।। ३४ ।।

दक्षिणं नाभिमूले तु वामस्योपरि संस्थितम् ।
तर्जन्यङ्गुष्ठकौ लग्नौ उच्छ्रितौ योगकर्मणि ।। ३५ ।।

---

२५. अमृतप्रभा, अमृता या अमिता—दोनों हाथों की सारी अङ्गुलियाँ एक के बाद एक अन्तर पर अन्तरित स्थिति में पहले ले आना चाहिये। दाहिनी कनिष्ठिका वाम अनामिकाग्र में नियोजित करें। दक्ष अनामिकाग्र में वामा कनिष्ठिका को नियोजित करें। इसी तरह तर्जनी और मध्यमा को भी नियोजित करें। दोनों अंगूठे मध्य मूल में नियोजित किये जाँय। इस तरह बनने वाली मुद्रा को अमृत प्रभा कहते हैं ।। ३४ ।।

२६. योगमुद्रा—योग मुद्रा के केन्द्र में योगकर्म की सिद्धि का ही उद्देश्य है। योगियों को योग सिद्धि में सहायक महामुद्रा का उल्लेख बिन्दु संख्या ९ में किया गया है। योगमुद्रा नाम से इसकी सिद्धि का प्रकार भी यहां नये रूप में प्रदर्शित है—

बाँयें हाथ को नाभिमूल से सटाकर साथ ही उसकी अंगुलियों को सटाये हुए ही फैला लीजिये। उसके बीचोबीच दाहिने हाथ की कुहनी रखकर हाथ मुख के ऊपर ललाट तक ले जाइये। आज्ञा चक्र के केन्द्र बिन्दु के पास अङ्गुष्ठ-तर्जनी के अग्रभाग सटाकर वज्रासन पर ध्यान मग्न हो जाइये। योगसिद्धि का वरदान आपको सुलभ होने लगेगा ।। ३५ ।।

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, पार्वति ! मन्त्र या योग साधक इन मुद्राओं को गाँठ बाँध लें। इन मुद्राओं के प्रारम्भ के पहले एक मन्त्र प्रति मुद्रा के प्रारम्भ में कम से कम ग्यारह बार जप लेना चाहिये। वह मन्त्र है—

एवं मुद्रागणं मन्त्री बध्नीयाद्धृदये बुधः ।
सर्वासां वाचकश्चासां ओं ह्रीं नाम ततो नमः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे मुद्राधिकारः सप्तमः ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं (मुद्रा का नाम चतुर्थी विभक्ति के साथ) जैसे योगमुद्रायै नमः । पूरा मन्त्र "ॐ ह्रीं योग मुद्रायें नमः" बनता है । इस बीज म के प्रयोग से मुद्राओं में ऊर्जा भर जाती है । अतः इस मन्त्र का बड़ा महत्त्व है ॥ ३६ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रका
डॉ॰ परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य संवलित
'मुद्राधिकार' नामक सातवाँ अधिकार सम्पन्न ॥ ७ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ अष्टमोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि यजनं सर्वकामदम् ।
यस्य दर्शनमात्रेण योगिनीसंमतो भवेत् ॥ १ ॥

तत्रादौ यागसदनं शुभक्षेत्रे मनोरमम् ।
कारयेदग्निकुण्डेन वर्तुलेन समन्वितम् ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य-समन्वितम्

अष्टमोऽधिकारः

[८]

भगवान् भूत भावन शङ्कर कहते हैं, प्रिये पार्वति ! इसके आगे मैं तुम्हारी जिज्ञासा के अनुसार सभी कर्मों के फल प्रदान करने के उद्देश्य से प्रवर्त्तित यजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपदेश करूँगा । यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसको करना तो दूर, मात्र देखना भी महत्त्वपूर्ण है । यजन प्रक्रिया का दर्शन भी योगिनी संमत हो जाता है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तन्मात्राओं की शारीरिक संरचना की रक्षा योगिनियाँ ही करती हैं[1] । योग मार्ग की प्रवर्त्तिकायें योगिनियाँ ही होती हैं । वे प्रायः इस मार्ग पर आने वालों की परीक्षा के लिये कुछ विकार[2] उपस्थित करती हैं किन्तु इस प्रक्रिया का दर्शक भी उनका प्रिय पात्र बन जाता है ॥ १ ॥

सन्दर्भ यजन का है । इसमें सर्वप्रथम याग सदन पर विचार किया जा सकता है । अतः आदि में अर्थात् प्रस्तुत अधिकार के प्रारम्भ में याग सदन पर

---

१. श्रीदुर्गासप्तशती कवच मन्त्र (रसे रूपे च गन्धे च शब्दे स्पर्शे च योगिनी) ।

२. विकुर्वन्ति परीक्षयः ।

पञ्चविंशतिपर्वेण समन्तादर्धनाभिना ।
तुर्यांशमेखलेनापि पर्वौच्छेन सुशोभिना ॥ ३ ॥
ततः स्नात्वा जितद्वन्द्वो भावस्नानेन मन्त्रवित् ।
तच्च षड्विधमुद्दिष्टं भस्मस्नानाद्यनुक्रमात् ॥ ४ ॥
भस्मस्नानं महास्त्रेण भस्म सप्ताभिमन्त्रितम् ।
मलस्नानाय संहारक्रमेणोद्धूलयेत्तनुम् ॥ ५ ॥

विचार कर रहे हैं। याग सदन जहाँ भी निर्मित हो, वह क्षेत्र अत्यन्त मनोरम और रमणीय होना चाहिये। साथ ही शुभ हो अर्थात् कल्याणकारी क्षेत्र होना चाहिये। उसमें जो अग्नि कुण्ड बने, वह कुण्ड भी गोल होना चाहिये या बनवाना चाहिये ॥ २ ॥

कुण्ड निर्माण प्रक्रिया के सम्बन्ध में ही भगवान् आगे कह रहे हैं कि, कुण्ड में पञ्चविशति पर्व अर्थात् २५ अङ्गुल की सीमा भी आवश्यक है। यह कम से कम है। २५ अङ्गुल में सवा हाथ होते हैं। 'अर्धनाभि' यह पारिभाषिक शब्द है और कुण्ड निर्माताओं की विधि के सन्दर्भ को व्यक्त करता है। चतुर्थांश की मेखला का भी विधान अपनाना चाहिये। निर्मिति की प्रक्रिया को और भी सुशोभित करने के लिए कुण्ड के चतुर्दिक् एक अङ्गुल चौड़ा भाग चारों ओर बनाना चाहिये ॥ ३ ॥

याग सदन में प्रवेश के पहले स्नान की विधि पूरी करनी चाहिये। यज्ञकर्त्ता यजमान उस समय सारी सांसारिक सुख-दुःखादि चिन्ताओं पर विजय प्राप्त कर अर्थात् निश्चिन्त और एकनिष्ठ होकर याग सदन में प्रवेश की तैयारी में जुट जाय। स्नान की विधियाँ अनेक होती हैं। किसी प्रकार का स्नान हो, शुचिता ही उसका उद्देश्य है। यदि वह मन्त्रवित् है, तो मन्त्र द्वारा वह भावात्मक स्नान से पवित्र हो सकता है।

ये स्नान मुख्यतया छहः प्रकार के माने जाते हैं। भस्म स्नान आदि ये सभी स्नान महत्त्व पूर्ण हैं। इन्हें क्रमिक रूप से जान लेना आवश्यक है। आवश्यकता के अनुसार इनका प्रयोग करना चाहिये ॥ ४ ॥

इनमें पहला स्नान भस्मस्नान है। भस्म को महास्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित करना आवश्यक है। अभिमन्त्रित करने पर ही उसमें पवित्र करने की क्षमता

विद्याङ्गैः पञ्चभिः पश्चाच्छिरःप्रभृति गुण्ठयेत् ।
अभिषेकं तु कुर्वीत [1]मूलेनैव षडङ्गिना ॥ ६ ॥

ततोऽवासाः सुवासा वा हस्तौ पादौ च धावयेत् ।
आचम्य मार्जनं कुर्याद्विद्यया भूरिवर्णया ॥ ७ ॥

न्यासं कृत्वा तु सामान्यमघमर्षं द्वितीयया ।
उपस्थानं च मालिन्या जपेच्चैकाक्षरां पराम् ॥ ८ ॥

उत्पन्न होती है । यह अभिमन्त्रण सात बार करना होता है । मल के प्रक्षालन के लिये संहार क्रम का प्रयोग करते हैं । यह अब सम्प्रदायसिद्ध प्रयोग मान लिया गया है । उस सम्प्रदाय के साधु प्रतिदिन उसी क्रम से स्नान करते हैं । प्रायः अखाड़ों के नागा साधु यही विधि अपनाते हैं । गृहस्थ इसे नहीं करते ॥ ५ ॥

या तो पैरों से प्रारम्भ कर सारे शरीर को उद्धूलित करते हुए अथवा गीला होने के बाद रगड़ कर उसे सुखाते हुए पाँचों विद्याङ्गों से अभिमन्त्रित करते हुए शिर से लेकर पैर तक भस्म से अवगुण्ठित करना चाहिये । मुख्य रूप से १. शिर, २. मुख, ३. हृदय, ४. गुह्याङ्ग और ५. पैर—ये वे स्थान है । इन्हें पञ्चाङ्ग कहते हैं । इस पर भस्म स्नान का क्रमिक प्रयोग करते हैं । इसमें संहार क्रम ही अपेक्षित है । इसे तैजस स्नान भी कहते हैं । मूलमन्त्र से स्नानात्मक अभिषेक भी करते हैं । षडङ्ग हृदयादि मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित कर उससे हाथ पैर धोकर आचमन तर्पण आदि भी करना चाहिये । 'मूलेनैव' पाठ के अनुसार मूलमन्त्र का प्रयोग अपेक्षित होता है ॥ ६ ॥

इसके बाद चाहे तो नग्न दिगम्बर अथवा वस्त्रों से सज्जित होकर हाथ पैर धोकर आचमन करके 'भूरिवर्णा' विद्या अर्थात् मालिनी विद्या से मार्जन करना चाहिये ॥ ७ ॥

सामान्य न्यास करने के बाद अघमर्षण की प्रक्रिया भी अपनानी चाहिये । मालिनी से उपस्थान करने के बाद एकाक्षरा परा विद्या का जप करना आवश्यक माना जाता है ॥ ८ ॥

१. क० पु० जलेनैवेति पाठः ।

जलस्नानेऽपि चास्त्रेण मृदं सप्ताभिमन्त्रिताम् ।
पूर्ववत्तनुमालभ्य मलस्नानं समाचरेत् ॥ ९ ॥
विधिस्नानादिकं चात्र पूर्ववत् किंतु वारिणा ।
साधारणविधिस्नातो विद्यात्रितयमन्त्रितम् ॥ १० ॥
तोयं विनिक्षिपेन्मूर्ध्नि मन्त्रस्नानाय मन्त्रवित् ।
रजसा [1]गोधुतेनैव वायव्यं स्नानमाचरेत् ॥ ११ ॥
महास्त्रमुच्चरन् गच्छेद्ध्यानयुक् पदसप्तकम् ।
तदेव पुनरागच्छेदनुस्मृत्य परापराम् ॥ १२ ॥

जहाँ तक जल स्नान का प्रश्न है, अस्त्र मन्त्रों से सात बार मृदा को अभिमन्त्रित कर भस्मस्नानवत् पूरा शरीर पूरी तरह हाथों से मलना चाहिये। इससे मल का निराकरण होता है। अतः मलस्नान कहते हैं ॥ ९ ॥

वारि द्वारा किया हुआ स्नान जल स्नान कहलाता हैं। इसकी भी विधि है। संकल्प आदि पूरा करने के बाद परा, परापरा और अपरा विद्याओं से अभिमन्त्रित जल से स्नान करना विधि स्नान होता है। वही विधि स्नान कहलाता है ॥ १० ॥

मन्त्र स्नान के लिये उद्यत स्नानार्थी जो स्वयं भी मन्त्र जानता है, सर्वप्रथम जल को मूर्द्धा भाग पर ही उड़ेलना चाहिये। यदि वायव्य स्नान ही अपेक्षित हो, तो गोधूलि वेला में गायों की खुर से उड़ने वाली धूल से ही नहाना श्रेयस्कर होता है[2] ॥ ११ ॥

गोरज स्नान के लिये ध्यानमग्न होकर सात पद आगे चले और सात पद पुनः पीछे की ओर पश्चात् पद गतिशील हो। इस प्रक्रिया में महास्त्र का उच्चारण भी करते रहना चाहिये। पश्चात् पद गतिशीलता में परापरा विद्या का अनुस्मरण भी करना चाहिये। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मानी जाती है ॥ १२ ॥

---

१. श्रीतं० कृतेति पाठः   २. श्रीतन्त्रालोक १५।५६ ।

वर्षातपसमायोगाद्दिव्योऽप्येवंविधो मतः ।
किंतु तत्र परां मन्त्री स्रवन्तीममृतं स्मरेत् ॥ १३ ॥

अस्त्रेणाङ्गुष्ठमूलात्तु वह्निमुत्थाप्य निर्दहेत् ।
स्वतनुं प्लावयेत्पश्चात्परयैवामृतेन तु ॥ १४ ॥

सूर्यादौ मन्त्रमादाय गच्छेदस्त्रमनुस्मरन् ।
यागवेश्मास्त्रसंशुद्धं विशेच्छुचिरनाकुलः ॥ १५ ॥

दिव्य स्नान का एक अन्य प्रकार भी उस समय प्रचलित था। इसमें वर्षा काल की बरसती फुहारों में और इसी तरह आतपकालीन बरसती ऊष्मा में आनन्द लेने की प्रक्रिया अपनायी जाती थी। अब भी क्वचित् यह प्रयोग चलता है। कामुक लोग भी समुद्र के किनारे धूप का आनन्द निर्वस्त्र रूप से लेते हुए देखा जाया करते हैं। योगीवर्ग जब वर्षा का स्नान करता है, तो पराविद्या का जप करते हुए यह भी सोचता है कि परा शक्ति ही मेरे ऊपर यह अमृत बरसा रही है ॥ १३ ॥

एक महत्त्वपूर्ण दिव्य स्नान का निर्देश भी भगवान् कर रहे हैं। वे कहते हैं कि, अस्त्र मन्त्र से पैर के अंगूठे को शक्तिमन्त बनाकर यह सोचे कि, इससे एक आग की ज्वाला जलती हुई निकल रही है। उससे पूरे शरीर को आग की लपटों ने घेर लिया है। शरीर अग्नि स्नान कर रहा है। इसके बाद ध्यान मग्न होकर पराविद्या से प्रेरित पराशक्ति मेरे ऊपर अमृत की वर्षा कर रही है। अब आग की लपटें शान्त हो गयी हैं और मैं अमृत से सराबोर हो रहा हूँ। यह प्रयोग भी वर्षातप प्रयोग का प्रकार ही है। तापन भी हुआ और अमृताभिषेक भी हुआ। इससे पराशक्ति का अनुभव होता है ॥ १४ ॥

'सूर्यादौ' की जगह 'सूर्यादि:' पाठ भी गृहीत है। दोनों के अनुसार पहले 'आदौ' अर्थात् आरम्भ में सूर्य मन्त्र का स्मरण अथवा सूर्य आदि आठ शिवतनु मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये। ऐसा करके अस्त्र मन्त्र का अनुस्मरण करते हुए और अस्त्र प्रयोग से संशुद्ध होकर यागवेश्म में प्रवेश करना चाहिये। उस अवस्था में आत्यन्तिक शुचिता से सम्पन्न होकर उद्वेगरहित भावमय अवस्था में व्यक्ति स्वात्म को तप्त दिव्य काञ्चनवत् बना लेता है और उसी दिव्यता से ओत-प्रोत होकर प्रवेश करता है ॥ १५ ॥

तत्र द्वारपतीन् पूज्य महास्त्रेणाभिमन्त्रितम् ।
पुष्पं विनिक्षिपेद्ध्यात्वा ज्वलद्विघ्नप्रशान्तये ॥ १६ ॥
दशस्वपि ततोऽस्त्रेण दिक्षु संकल्प्य रक्षणम् ।
प्रविशेद्यागसदनं वह्निवद्वह्निसंयुतम् ॥ १७ ॥
पूर्वास्यः सौम्यवक्त्रो वा विशेषन्यासमारभेत् ।
तत्रादावस्त्रमन्त्रेण कालानलसमत्विषा[1] ॥ १८ ॥
अङ्गुष्ठाग्रात्तनुं दग्धां सबाह्याभ्यन्तरां स्मरेत् ।
विकीर्यमाणं तद्भस्म ध्यात्वा कवचवायुना ॥ १९ ॥

वहाँ सर्वप्रथम द्वारपति देवताओं की पूजा करनी चाहिये। महास्त्र से अभिमन्त्रित पुष्पों का प्रक्षेप कर उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये। इससे सभी विघ्नों की शान्ति हो जाती हैं। विघ्न तो जलती आग की तरह होते हैं। उनका शमन यागकर्त्ता के व्यक्तित्व के अमृत से भी होती है, यह तथ्य इससे सिद्ध हो जाती है ॥ १६ ॥

इसके तुरन्त बाद दशों दिशाओं के रक्षक दश दिक्पालों से क्षेत्र रक्षण की प्रार्थना अस्त्रमन्त्रों के माध्यम से करनी चाहिये। इसका संकल्प पूरा कर याग सदन में प्रवेश करना चाहिये। जिस समय यज्ञकर्त्ता याग सदन में प्रवेश करे उस समय उसमें मान्त्रिक और प्रातिभ वर्चस्व की तेजस्विता लोगों को प्रभावित करती रहे, इस भाव में तैजस प्रतीक वह्नि रूप में वह प्रवेश करे। साथ ही वह्नि से समन्वित भी रहे। वह्नि से समन्वित रहने का तात्पर्य अग्निबीज के जागरण के साथ-साथ यज्ञाग्नि की व्यवस्था से भी है ॥ १७ ॥

यागसदन में यज्ञकर्त्ता को पूर्वाभिमुख बैठने की व्यवस्था करनी चाहिये। मुख पर सौम्य भाव का प्रभाव परिलक्षित होते रहना चाहिये। सौम्य वक्त्र से उत्तराभिमुख अर्थ भी लिया जा सकता है। इसके तुरत बाद विशेष न्यास की व्यवस्था आचार्य करें। न्यास करने के पहले स्वयं यज्ञकर्त्ता दीक्ष्य यह अनुचिन्तन पुनः करें कि हमारे अङ्गुष्ठाग्र से निष्पन्न कालानल प्रभा भास्वर अग्निदेव ने हमारे अशुद्ध शरीर को भस्म कर दिया है। इसमें अस्त्र मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद कवच मन्त्र से निष्पन्न वायु ने उस भस्म को विकीरण कर उनका सफाया कर दिया है ॥ १८-१९ ॥

---

१ क० पु० समन्विता इति पाठः।

शिवबिन्दुसमाकारमात्मानमनुचिन्तयेत् ।
ततोऽस्य योजयेच्छक्तिं सोऽहमित्यपराजितः ॥ २० ॥
विद्यामूर्ति ततो दध्यान्मन्त्रेणानेन शाङ्करि ।
दण्डाक्रान्तं महाप्राणं दण्डारूढं सनाभिकम् ॥ २१ ॥
नितम्बं तदधस्ताच्च वामस्तनमधः पुनः ।
कण्ठं च वामशिखरं वाममुद्राविभूषितम् ॥ २२ ॥
बिन्द्वर्धचन्द्ररखं नादशक्तिबिन्दुविभूषितम् ।
एष पिण्डवरो देवि नवात्मक इति श्रुतः ॥ २३ ॥

अब दीक्ष्य का शरीर तप्त दिव्य काञ्चन बन गया है। अब वह परमेश्वर शिव के द्वारा स्वेच्छया स्वीकृत बिन्दु शरीर की तरह ही शुद्ध शिवबिन्दु बन गया है। इसका अनुचिन्तन करना चाहिये। इसके बाद 'सोऽहं' रूप विमर्श शक्ति से उसे योजित करना चाहिये। इस प्रकार वह शिवशक्ति के सामरस्य से विभूषित हो जाता है। एक प्रकार से उसका यह अपराजेय व्यक्तित्व इसकी योग्यता को उत्कर्ष युक्त कर देता है॥ २०॥

इसी मन्त्र शक्ति के द्वारा उसमें विद्या-मूर्तिरूपता उतर आयी है, वह विद्या-मूर्ति बन गया है, यह धारणा करनी चाहिये। भगवान् कहते हैं कि देवि! पार्वति! इसके बाद वह चक्रसाधना के माध्यम से अपने प्राण को दण्डाकार कर नाभिकेन्द्र से उसी पर आरूढ़ होकर प्राणापानवाह प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। कूट भाषा में दण्ड 'र' को कहते हैं। महाप्राण 'ह' होता है। दण्ड से आक्रान्त प्राण 'ह्र' बनता है। इससे सम्बन्धित बीजमन्त्र (क्ष्रौम्) की ध्वनि इससे आ रही है। इसी तरह सनाभिक (क्ष्रू) और दण्डारूढ़ नितम्ब (स्रु) से मूल बीजमन्त्र की ओर संकेत किया गया है। इसी तरह उसके बाद वामस्तन (ल) और उसके बाद कण्ठ (व) और वाम शिखर (म्लौं) ये सभी 'औ' रूप वाम मुद्रा से विभूषित होकर एक महत्त्व-पूर्ण बीज मन्त्र की सूचना दे रहे हैं। इनका ज्ञान गुरु से होना चाहिये। इसमें जिन बीजाक्षरों का प्रयोग है, वे सभी एक नवात्मक पिण्ड मन्त्र हैं।

इसी तरह आज्ञा चक्र के बिन्दु से लेकर अर्धचन्द्र, निरोधा, नाद (नादान्त), शक्ति और बिन्दु (व्यापिनी समनोन्मना) से समन्वित एक 'स्वः' सीमा में अवस्थित पिण्ड बनता है। यह भी नवात्मक पिण्ड है। बीजात्मक पिण्ड और इस शरीर के स्वर्भाग में विराजमान तत्त्वात्मक पिण्ड का इस तरह समन्वय होता है॥ २१-२३॥

सर्वसिद्धिकरश्चायं सरहस्यमुदाहृतः ।
एष त्र्यर्णोज्झितोऽधस्ताद्दीर्घैः षड्भिः स्वरैर्युतः ॥ २४ ॥

षडङ्गानि हृदादीनि जातिभेदेन कल्पयेत् ।
क्षयरवलबीजैश्च दीप्तैर्बिन्दुविभूषितैः ॥ २५ ॥

वक्त्राणि कल्पयेत्पूर्वमूर्ध्ववक्त्रादितः क्रमात् ।
प्रत्यङ्गविधिसिद्ध्यर्थं ललाटादिष्वथो न्यसेत् ॥ २६ ॥

अ ललाटे द्वितीयं च वक्त्रे संपरिकल्पयेत् ।
इ ई नेत्रद्वये दत्त्वा उ ऊ कर्णद्वये न्यसेत् ॥ २७ ॥

ऋ ॠ नासापुटे तद्वत् लृ लॄ गण्डद्वये तथा ।
ए ऐ अधोर्ध्वदन्तेषु ओऔकारौ तथोष्ठयोः ॥ २८ ॥

ऊपर वर्णित बीजमन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला मन्त्र है। यह रहस्य गर्भ अर्थ सत्ता से विभूषित है। यह त्र्यर्ण बीजमन्त्र 'ह्रों' से पृथक् किन्तु उसी से प्रारम्भ होकर समस्त छहः दीर्घ स्वरों से युक्त है। हृदय, शिर, शिखा, तीनों नेत्र, कवच और अस्त्र अङ्गों के साथ जाति प्रत्ययों का प्रयोग दीक्ष्य को अपने शरीर पर करना चाहिये। बिन्दु से विभूषित 'क्ष', 'य', 'र', 'व' और 'ल' बीजाक्षरों से वक्त्र का प्रकल्पन करना चाहिये। यह प्रकल्पन ऊर्ध्ववक्त्र से ही होता है ॥ २४-२५½ ॥

प्रत्यङ्ग विधि की सिद्धि के लिये अब एक विलक्षण न्यास विधि की योजना प्रस्तुत कर रहे हैं। यह प्रक्रिया ललाट से प्रारम्भ करनी चाहिये। इनको पूरी प्रक्रिया इस प्रकार है—

'अ' का ललाट में, दूसरे दीर्घ स्वर 'आ' का 'वक्त्र' में न्यास करें। 'इ ई' को दोनों नेत्रों में, 'उ ऊ' को दोनों कानों में, 'ऋ ॠ ऌ ॡ' दोनों गालों पर, 'ए ऐ' को नीचे और ऊपर दन्तपङ्क्ति में 'ओ औ' को नीचे और ऊपर के ओठों पर न्यास करने का विधान है ॥ २६-२८ ॥

अं शिखायां विसर्गेण जिह्वां संपरिकल्पयेत् ।
दक्षिणस्कन्धदोर्दण्डकराङ्गुलिनखेषु च ॥ २९ ॥
कवर्गं विन्यसेद्वामे तद्वच्चाद्यमनुक्रमात् ।
टताद्यौ पूर्ववद्वर्गौ नितम्बोर्वादिषु न्यसेत् ॥ ३० ॥
पाद्यं पार्श्वद्वये पृष्ठे जठरे हृद्यनुक्रमात् ।
त्वग्रक्तमांसमूत्रेषु यवर्गं परिकल्पयेत् ॥ ३१ ॥
शाद्यमस्थिवसाशुक्रप्राणकूपेषु पञ्चकम् ।
मूर्त्यङ्गानि ततो दत्त्वा शिवमावाहयेद्बुधः ॥ ३२ ॥

इसी तरह 'अं' को शिखा पर न्यस्त करना चाहिये। विसर्ग को जीभ पर न्यस्त करने का विधान है। दाहिने स्कन्ध, दक्षबाहु, दक्षहस्त, दक्ष अंगुलियाँ और दाहिनी अंगुलियों के नखों पर कवर्ग के पाँच अक्षरों का विन्यास होना चाहिये। इसी तरह वाम स्कन्ध, वाम बाहु, वाम हस्त, वाम अंगुलियों और वाम नखों पर चवर्ग के अक्षरों का न्यास होना चाहिये। इसी तरह टवर्ग और तवर्ग इन दो वर्गों के वर्णों के न्यास नितम्ब, ऊरु, जंघा, जानु और प्रपद पर क्रमिक रूप से दक्ष और वाम भाग में न्यास करना चाहिये ॥ २९-३० ॥

'प' वर्ण है आदि में जिस वर्ग के, वह पाद्य वर्ग कहलाता है। इसे दूसरे शब्दों में 'पवर्ग' कहते हैं। इनके वर्ण क्रम से क्रमशः पार्श्वद्वय (अगल-बगल) पृष्ठ, जठर और हृदय में न्यास करते हैं। यवर्ग में य, र, ल, व ये चार वर्ण आते हैं। इनका शास्त्रीय क्रम य व र और ल माना जाता है। इनका न्यास क्रमशः १. त्वक्, २. रक्त, ३. मांस और ४. सूत्र अर्थात् नाड़ियों में होता है ॥ ३१ ॥

शाद्य वर्ग शवर्ग को कहते हैं। इन्हें श ष स ह के रूप में जानते हैं। ये क्रमशः १. अस्थि, २. वसा, ३. शुक्र और ४. प्राणकूप अर्थात् रोम कूपों में होते हैं। इन उक्त वर्गों से इस प्रकार मूर्त्यङ्ग पूरी तरह न्यस्त हो जाता है। दीक्ष्य का शरीर भी इस प्रकार न्यास से देवमूर्त्ति रूप हो जाता है। इसके बाद परमेश्वर शिव का आवाहन होता है। प्रत्येक विवेको पुरुष इस रहस्य को जानते हैं और इसी प्रकार आचरण करते हैं[1] ॥ ३२ ॥

१. श्रीतन्त्रालोक १५।११७–१२०

प्राणोपरि न्यसेन्नाभिं तदूर्ध्वं दक्षिणाङ्गुलिम् ।
वामकर्णप्रमेयोतः सर्वसिद्धिप्रदः शिवः ॥ ३३ ॥

सद्भावः परमो ह्येष भैरवस्य महात्मनः ।
अङ्गान्यनेन कार्याणि पूर्ववत्स्वरभेदतः ॥ ३४ ॥

मूर्तिः सृष्टिस्त्रितत्त्वं च अष्टौ मूर्त्यङ्गसंयुताः ।
शिवः साङ्गश्च षोढैव न्यासः संपरिकीर्तितः ॥ ३५ ॥

अस्योपरि ततः शाक्तं कुर्यान्न्यासं यथा शृणु ।
मूर्तौ परापरां न्यस्य तद्वक्त्राणि च मालिनीम् ॥ ३६ ।

प्राण के ऊपर नाभि अर्थात् 'क्ष' वर्ण का न्यास करना चाहिये। उसके ऊपर अर्थात् नाद और नादान्त की जिस स्थिति में अवस्थिति मानी जाती है, वहाँ दक्ष अङ्गुलि अर्थात् 'ञ' का न्यास करना चाहिये। वामकर्ण 'ञ्' को कहते हैं। सबसे ऊपर इसका न्यास उचित है। इन न्यासों से भगवान् शङ्कर अत्यन्त प्रसन्न होते है। यह न्यास सर्वसिद्धिप्रद होता है। भगवान् शिव इससे प्रसन्न होकर समस्त सिद्धियों को प्रदान करते हैं ॥ ३३ ॥

इस प्रकार के सर्वाङ्गपूर्ण न्यास को भैरवसद्भाव न्यास कहते हैं। इसे परम भैरवसद्भाव भी कहते हैं। इस न्यास के माध्यम से अङ्गों की परिकल्पना भी स्वभावतः हो जाती है। इसमें स्वरभेद सहायक होते हैं। स्वर भेद के अनुसार १६ प्रकार के अङ्गन्यास का विधान भी पूरा करना चाहिये ॥ ३४ ॥

वस्तुतः न्यास छः प्रकार के ही होते हैं—१. मूर्ति न्यास, २. सृष्टि न्यास, ३. त्रितत्त्व न्यास, ४. अष्टमूर्त्यङ्गन्यास, ५. भैरवसद्भाव न्यास और ६. अङ्ग न्यास। ये सभी न्यास महत्त्वपूर्ण होते हैं। 'षोढैव' शब्द में 'एव' शब्द अवधारणार्थक नहीं है। यह 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है ॥ ३५ ॥

उक्त सभी न्यास भैरवसद्भाव भावित न्यास हैं। इसके अतिरिक्त शाक्त न्यास भी विधेय होते हैं। भगवान् कहते हैं—देवि! इसके ऊपर या इसके अतिरिक्त जिस प्रकार शाक्त न्यास किये जाते हैं, वहीं मैं यहा कहने जा रहा हूँ। इसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो। मूर्ति में परापरा शक्ति का न्यास करना चाहिये। पुनः तद्वक्त्र अर्थात् वक्त्र न्यास, मालिनी न्यास यह सब करने के पश्चात् शिखा में परा देवि,

परादित्रितयं पश्चाच्छिखाहृत्पादगं न्यसेत् ।
कवक्त्रकण्ठहृन्नाभिगुह्योरूपादगं क्रमात् ॥ ३७ ॥
अघोर्याद्यष्टकं न्यस्य विद्याङ्गानि तु पूर्ववत् ।
ततस्त्वावाहयेच्छक्तिं सर्वयोगिनमस्कृताम् ॥ ३८ ॥
जीवः प्राणपुटान्तस्थः कालानलसमद्युतिः ।
अतिदीप्तस्तु वामाङ्घ्रिभूषितो मूर्घ्नि बिन्दुना ॥ ३९ ॥
दक्षजानुयुतश्चायं सर्वमातृगणान्वितः[1] ।
अनेन प्रीणिताः सर्वा ददते वाञ्छितं फलम् ॥ ४० ॥
सद्भावः परमो ह्येष मातृणां परिपठ्यते ।
तस्मादेनां जपेन्मन्त्री य इच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥ ४१ ॥

हृदय में परापरा देवी और पैरों में अपरा देवि का न्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् अघोर्याद्यष्टक न्यास क (शिर), वक्त्र (मुख), कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्य, ऊरू और आठवाँ पैर पर न्यास करने से दीक्ष्य का देह दिव्य बन जाता है। इसके बाद विद्याङ्ग न्यास पूर्ववत् करना चाहिये। तदनन्तर शक्ति का आवाहन करना चाहिये। शक्ति देवी है। सर्वशक्तिमती है। अतः समस्त योनिवर्ग उसका नमन करता है। वह सर्वयोगिनमस्कृत है ॥ ३६-३८ ॥

जीव[2] 'स' को कहते है। जीव प्राण पुटों के अनन्तर में अवस्थित है। प्राण 'ह' को कहते हैं। ह और ह (प्राण) के बीच में जीव को यदि संपुटित किया जाय तो वह कालानल के समान अत्यन्त दीप्तिमन्त हो जाता है। प्राण पुट के साथ वामाङ्घ्रि 'फ' का प्रयोग करते हैं। यह प्राण और शरीरस्थ जीव सत्ता का बीजात्म चित्र है। इसका बीज 'हसहफ्रें' है। इसमें दक्ष जानु 'ए' युक्त होने पर यह समस्त मातृगण से समन्वित मन्त्र हो जाता है। सभी मातृ शक्तियाँ इसके प्रयोग से प्रसन्न होकर वाञ्छित फल प्रदान करती हैं। इसमें वामाङ्घ्रि 'फ' भी विद्यमान है। इसमें मूर्धा पर बिन्दु भी विभूषित है ॥ ३९-४० ॥

जिस तरह ऊपर श्लोक (१८-३४) तक भैरवसद्भाव की बात कही गयी है, उसी तरह श्लोक (३६-४०) तक मातृसद्भाव न्यास का परिकल्पन शास्त्र द्वारा

१. तं० लो० अर्चित इति पाठः ।
२. मूर्तिः सप्तविधा स्मृता । श्रीतं० ६।४७, ई० प्र० ३।१३, ४।२६५;

रुद्रशक्तिसमावेशो नित्यमत्र प्रतिष्ठितः ।
यस्मादेषा पराशक्तिर्भेदेनानेन[2] कीर्तिता ।। ४२ ।।

यावत्यः सिद्धयस्तन्त्रे [3]सर्वाः स्युरनया कृताः ।
अङ्गानि कल्पयेदस्याः पूर्ववत्स्वरभेदतः ।। ४३ ।।

मूर्तिः सवक्त्रा शक्तिश्च विद्यात्रितय एव च ।
अघोर्याद्यष्टकं चेति तथा विद्याङ्गपञ्चकम् ।। ४४ ।।

प्रस्तुत किया गया है। जो मन्त्र जापक मातृसद्भाव भावित है और शाक्त उल्लास के रहस्यों का अवगम करता है, उसे अवश्य ही इसका जप करना चाहिये और जप के पूर्व शाक्त न्यास करना चाहिये ।। ४१ ।।

इस तरह भैरवसद्भाव भावित और मातृसद्भाव भावित पुरुष अवश्य ही तात्त्विकता के उस स्तर पर पहुँच जाता है, जहाँ नित्य रुद्र समावेश प्रतिष्ठित हो जाता है। इसका प्रमुख कारण है—परा शक्ति का महाप्रभाव। इससे भैरवसद्भाव और मातृसद्भाव भावित दीक्ष्य रुद्रशक्ति का प्रतीक बन जाता है। दीक्ष्य में 'रुद्र एव शक्तिः' अथवा रुद्र की शक्ति अर्थात् रुद्र सम्बन्धी शाक्त भाव उल्लसित हो जाता है। यही रुद्रशक्ति समावेश है। उस सम्बन्ध में भेद पूर्वक पराशक्ति का ऊपर वर्णन आ गया है ।। ४२ ।।

तन्त्र में अनन्त सिद्धियों का उल्लेख है। वास्तव में सिद्धियाँ भोगेच्छु साधकों से सम्बन्धित होती हैं। तन्त्रशास्त्र भोगेच्छु और मुमुक्षु दोनों के पथ को प्रशस्त करने की विधियों का निर्देश करता है। इसलिये सिद्धियों के वर्णन के सन्दर्भ में भोगेच्छा से प्रेरित साधनायें ही आती हैं। तन्त्रशास्त्रीय सिद्धि शब्द से यही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये। भगवान् कह रहे हैं कि, वे सारी सिद्धियाँ माँ जगदम्बा की मातृसद्भाव भावित भक्ति से प्राप्त हो सकती हैं। इस शक्ति के अङ्गों का प्रकल्पन भी स्वर भेद के आधार पर करते हैं ।। ४३ ।।

स्वर भेद के आधार पर शक्ति के अङ्गों का प्रकल्पन करते समय सर्वप्रथम १. मूर्त्ति, २. वक्त्र युक्त, ३. शक्ति, ४. विद्यात्रितय, ५. अघोर्याद्यष्टक और ६. विद्याङ्गपञ्चक—इस तरह अङ्ग प्रकल्पन करना चाहिये।

---

२. तं० लो० अन्येनेति पाठः ।

३. ख० पु० ताः सर्वाः कुरुते त्वियमिति पाठः ।

साङ्गा चैव परा शक्तिर्न्यासः प्रोक्तोऽथ षड्विधः ।
यामलोऽयमतो न्यासः सर्वसिद्धिप्रसिद्धये ॥ ४५ ॥
वामो वायं विधिः कार्यो मुक्तिमार्गावलम्बिभिः ।
वर्णमन्त्रविभेदेन पृथग्वा तत्फलार्थिभिः ॥ ४६ ॥
यावन्तः कीर्तिता भेदैः शम्भुशक्त्यणुवाचकाः ।
तावत्स्वप्येवमेवायं न्यासः पञ्चविधो मतः ॥ ४७ ॥
किं तु बाह्यस्तु यो यत्र स तत्राङ्गसमन्वितः ।
षष्ठः स्यादिति सर्वत्र षोढैवायमुदाहृतः ॥ ४८ ॥
स्वानुष्ठानाविरोधेन भावाभावविकल्पनैः ।
यागद्रव्याणि सर्वाणि कार्याणि विधिवद्बुधैः ॥ ४९ ॥

इसके साथ ही साधक को परा शक्ति की उपासना में संलग्न हो जाना चाहिये। इन्हीं छह स्थानों में षड्विध न्यास करना चाहिये। सभी सिद्धियों की प्राप्ति के लिये परा शक्ति का यामल उल्लास अत्यन्त आवश्यक है ॥ ४४-४५ ॥

मुक्ति मार्ग का अवलम्बन करने वाले मुमुक्षु शिष्यों को यह चाहिये कि वे इस विधि का उपयोग वाम विधि से करें। अथवा वर्णों और मन्त्रों के अनुसार पृथक्-पृथक् न्यास करना हो उचित हैं। यह वार्णिक मान्त्रिक विधि का पृथक् न्यास भोगेच्छुजनों के लिये आवश्यक है ॥ ४६ ॥

तन्त्र शास्त्र में त्रितत्त्व को दृष्टि से शम्भु, शक्ति और नर वाचक जितने भेदों का प्रकल्पन किया गया है, उन सभो स्थितियों में या उन सभी में इसी प्रकार न्यास का प्रकल्पन करना चाहिये। यह न्यास पाँच प्रकार का माना जाता है ॥ ४७ ॥

जहाँ तक षोढा न्यास का प्रश्न है, यह बाह्य अङ्गों को परिकल्पना से ही से ही समन्वित है। इसलिये पञ्चविध न्यास के बाद छठाँ न्यास सार्वत्रिक न्यास होता है। इसे सम्पन्न करना चाहिये। यहाँ श्लोक ४५ में षड्विध न्यास का, श्लोक ४७ में पञ्चविध न्यास का और पुनः श्लोक ४८ में षष्ठ की चर्चा की गयो है। इस तरह पञ्चविध और षड्विध का स्पष्टोकरण कर लेना चाहिये ॥ ४८ ॥

व्यवहारवाद यही कहता है कि, अपने अनुष्ठान से सब तरह से अविरोधी प्रक्रिया को अपनाया जाना चाहिये। याग में प्रयोजनीय वस्तुओं से सम्बन्धित भाव

ततोऽर्घपात्रमादाय भावाभावाविकल्पितम् ।
ततश्चास्त्राग्निसंदग्धं शक्त्यम्बुप्लावितं शुचि ॥ ५० ॥

कर्तव्या यस्य संशुद्धिरन्यस्याप्यत्र वस्तुनः ।
तस्यानेनैव मार्गेण प्रकर्तव्या विजानता ॥ ५१ ॥

न चासंशोधितं वस्तु किञ्चिदप्यत्र[1] कल्पयेत् ।
तेन[2] शुद्धं तु सर्वं यदशुद्धमपि तच्छुचि ॥ ५२ ॥

और अभाव को बात देख लेनी चाहिये। कौन है, कौन नहीं है, इसे आवश्यक रूप से जाँच लेना चाहिये। न होने पर उसकी व्यवस्था कर लेना भो आवश्यक है। याग प्रारम्भ करने के पहले यह सावधानी बरतनी चाहिये ४९ ॥

इसके अनन्तर अर्थात् सारे न्यास आदि के विधान पूरा कर लेने पर अर्घपात्र को उसी क्रम में भाव और अभाव अर्थात् सम्बद्ध वस्तु के होने या न होने की दृष्टि से विचार कर लेना चाहिये। वस्तुओं की व्यवस्था कर अर्घपात्र को अस्त्र की आग से दग्ध, शक्ति रूपी अमृत से परिपूरित, अत्यन्त पवित्र बना कर अपने हाथ में दीक्ष्य ले ले।

आगे चलने का अर्थात् याग सदन में प्रवेश का जो पथ है, उसे अच्छी तरह से उत्तम ढंग से परिशुद्ध कर लेना चाहिये। इसके साथ अन्य सभी उपयोगी वस्तुओं को भी शुद्ध कर लेनी चाहिये। विधि विशेषज्ञ उसी शुद्ध मार्ग का अनुसरण याग सदन में प्रवेश के समय करे ॥ ५०-५१ ॥

याग सदन में किसी ऐसी वस्तु का प्रयोग सर्वथा वर्जित है, जो संशोधित नहीं है। इसलिये याग में संशोधित वस्तु का ही प्रयोग हो, इसको कड़ी निगरानी रखनी चाहिये। इसलिये वहाँ जो वस्तु प्रस्तुत है, उसकी शुद्धता के विषय में कोई सन्देह नहीं रहता। संयोग से यदि कोई अशुद्ध रह जाये, तो वह उन शुद्ध वस्तुओं के साथ स्वयं शुचि हो जाता है। यहाँ शुद्धि के आधिक्य का ही महत्त्व है। इसलिये सारा वातावरण शुचि बना रहे, यह ध्यान रखना चाहिये ॥ ५२ ॥

---

१ क० पु० अन्यथाप्यत्रेति पाठः; २. तं० किंचिदप्युपकल्पयेदिति पाठः;
३. क० पु० संशोधितं च यत्सर्वमिति पाठः

तदम्बुना समापूर्य षड्भिरङ्गैः[1] समर्च्य च ।
अमृतीकृत्य सर्वाणि तेन द्रव्याणि शोधयेत् ॥ ५३ ॥

आत्मानं पूजयित्वा तु कुर्यादन्तःकृतिं यथा ।
तथा ते कथयिष्यामि सर्वयोगिगणार्चिते ॥ ५४ ॥

आदावाधारशक्तिं तु नाभ्यधश्चतुरङ्गुलाम् ।
धरां सुरोदं पोतं च कन्दश्चेति चतुष्टयम् ॥ ५५ ॥

एकैकाङ्गुलमेतत्स्याच्छूलस्यामलसारकम्[2] ।
ततो नालमनन्ताख्यं दण्डमस्य प्रकल्पयेत् ॥ ५६ ॥

इसलिये अर्घपात्र को पूरी तरह पूरित कर, उसे छह अङ्गों से परिपूर्ण बनाने की प्रक्रिया है। उसे निभाकर तत्पश्चात् अमृतीकरण[3] का प्रयोग करके उसी जल से सारे यागसदन में प्रस्तुत वस्तुओं का शोधन कर लेना चाहिये ॥ ५३ ॥

तदनन्तर स्वात्मतत्त्व का समर्चन करना चाहिये। स्वात्म पूजन के अनन्तर ही यागसदन के अन्त कृत्य सम्पन्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, हे समस्त देववृन्दवन्दितचरणकमले पार्वति ! यह सब तुम्हारे समक्ष व्यक्त करने जा रहा हूँ ॥ ५४ ॥

सर्व प्रथम आधारशक्ति[4] की पूजा करनी चाहिये। यह नाभि के अधोभाग के गुल्फ क्षेत्र में चार अङ्गुल की सीमा को आत्मसात् करता है। यह पर्यन्तवर्त्तिनी इच्छाशक्ति ही आधारशक्ति कहलाती है। इसी के आधार पर धरादि विश्व का धारण हो रहा है। इसके साथ धरा, सुरोद, पोत और कन्द की पूजा भी सम्पन्न हो जाती है। यह धरादि चतुष्टय आधार शक्ति के ऊपर ही आधृत है ॥ ५५ ॥

इन चारों को एक-एक अङ्गुल की व्याप्ति में प्रतिष्ठित किया जाता है। इसके ऊपर छह अङ्गुल [5]अमल सारक होता है। यह शूल का तीक्ष्णाग्र भाग होता है। इसके साथ ही अनन्ताख्य नाल का ध्यान कर उस पर 'हं' बीज की स्थापना का प्रकल्पन करना चाहिये। इसी पर दण्ड का प्रकल्पन करना चाहिये। नाल का प्रतीक 'हं' बीज माना जाता है। नाल पर दण्ड का प्रकल्पन साधना का विषय है।

---

१. क० पु० षड्भिरर्थैरिति पाठः ।
२. क० पु० चतुरङ्गुलमेतदिति पाठः;
३. श्रीत० १५।२९४, २९७
४. श्रा० ३०।४ पृ० ४, ७, १५।२९७;
५. श्रीत० आ० ३०।३१-३२, वही ३१।७२, वही ११।८२, वही ११।९१

लम्बिकावधितश्चात्र शूलोर्ध्वं ग्रन्थिरिष्यते ।
अभित्त्वैनं महादेवि पाशजालमहार्णवम् ॥ ५७ ॥

न स योगमवाप्नोति शिवेन सह मानवः ।
धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुष्टयम् ॥ ५८ ॥

कोणेषु चिन्तयेन्मन्त्री आग्नेयादिष्वनुक्रमात् ।
गात्रकाणां चतुष्कं च दिक्षु पूर्वादिषु स्मरेत् ॥ ५९ ॥

ग्रन्थेरूर्ध्वं त्रिशूलाधो भवितव्या चतुष्किका ।
विद्यातत्त्वं तदेवाहुश्छदनत्रयसंयुतम्[1] ॥ ६० ॥

इस दण्ड की ऊपर जाने की सीमा लम्बिका पर्यन्त है। इसके ऊपर शूल और शूल के ऊपर ग्रन्थि—यह क्रम है। यह निश्चय है कि, जो साधक इस आन्तर पर विराजमान हो जाय तो भी वह इस मार्ग का वेध किये बिना पाशों जाल अर्थात् राशि-राशि पाश जाल वाले महासमुद्र का पार नहीं पा सकता। इस महार्णव के भेदन करने के उपरान्त ही शिवभक्ति योग सम्पन्न होकर शिष्य शैवी धाम में प्रवेश प्राप्त कर सकता है ॥ ५६-५७ ॥

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का यह चतुष्टय अग्नि, नैऋत्य, वायु और ईशान के चिन्तनीय तत्त्व हैं। इसी अनुक्रम से इनका चिन्तन करना चाहिये। इसी तरह गात्रों के चतुष्क भी पूर्व, पश्चिम, दक्ष और उत्तर दिशाओं में प्रकल्पित कर उनका स्मरण करे ॥ ५८-५९ ॥

माया रूप ग्रन्थि के [2]ऊर्ध्व भाग में वर्त्तमान त्रिशूल से नीचे [3]चतुष्किका का स्थान माना जाता है। इसे ही विद्यातत्त्व कहते है। इसे ब्रह्मरन्ध्र के नीचे चिन्तामणि नामक आधार भी कहते हैं। यह तीन छदनों से समन्वित है। इसे चिन्तामणि कमल भी कहते हैं। यहाँ छदनत्रय का उल्लेख पाठभेद या सम्प्रदाय मत नियम के अनुसार हो सकता है। महामाहेश्वर अभिनव ने श्रीतन्त्रालोक (आ. १५।३०) में छदनद्वय का उल्लेख किया है तथा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि, शुद्ध विद्या दो छदनों से समन्वित है। ऊर्ध्व में विद्याछदन और अधोभाग में मायाछदन। जो हो यह लम्बिका और ब्रह्मरन्ध्र के मध्य की स्थिति मानी गयी है।[4] जयरथ ने

---

१. ख० पु० छदनद्वयेति पाठः ; २. श्रो० १५।३०२ ;
३. ५।५४-५५; ४. वही १५।३०१

कखलम्बिकयोर्मध्ये[1] तत्तत्त्वमनुचिन्तयेत् ।
पद्माकृति[2] कखतत्त्वमैश्वरं चिन्तयेद्बुधः[3] ॥ ६१ ॥
कर्णिकाकेसरोपेतं [4]सबीजं विकसत्सितम् ।
पूर्वपत्रादितः पश्चाद्वामादिनवकं न्यसेत् ॥ ६२ ॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च काली चेति [5]तथा परा ।
कलविकरणी चैव बलविकरणी तथा ॥ ६३ ॥
बलप्रमथनी चान्या सर्वभूतदमन्यपि ।
मनोन्मनी च मध्येऽपि भानुमार्गेण विन्यसेत् ॥ ६४ ॥
विभ्वादिनवकं चान्यद्विलोमात्परिकल्पयेत् ।
विभुर्ज्ञानो क्रिया चेच्छ्वा वागीशो ज्वालिनी तथा ॥ ६५ ॥

अम्बुज को भ्रूमध्यवर्त्ती विद्याकमल कहा है। भ्रूमध्यवर्त्ती कमल दो पल्लवों वाला कमल है। विद्याकमल रूप चिन्तामणि के आधार पर लम्बिका सौध में इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के समत्व प्रभाव में सुधी साधक आनन्द लेता है। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, इस 'क' क्रिया शक्ति और 'ख' व्योम शक्ति रूप लम्बिका सौध परतत्त्व का अनुचिन्तन साधक को करना चाहिये। यहीं पद्म की आकृति पर क ख रूप ऐश्वर तत्त्व का अनुचिन्तन करना आवश्यक माना जाता है ॥ ६०-६१ ॥

ऐश्वर पद्म कर्णिका और केशर किञ्जल्क समन्वित कमल है। इसका बीजाक्षर स्वतन्त्र अक्षर है। यह शाश्वतिक समान कमल श्वेतवर्णी है। इस कमल के पूर्व पत्र से आरम्भ कर वामादि नौ देवियों का न्यास करना चाहिये ॥ ६२ ॥

ये नौ शक्तियाँ हैं—१. वामा, २. ज्येष्ठा, ३. रौद्री ४. काली ५. कलविकरणी ६. बलविकरणी, ७ बलप्रमथनी, ८. सर्वभूतदमनी और ९. मनोन्मनी। इनमें मनोन्मनी शक्ति मध्य में भानुमार्ग अर्थात् प्राणपथ में विन्यस्त की जाती है ॥ ६२-६४ ॥

यह अनुलोम न्यास है। इसके विपरीत विलोम न्यास में भी नौ शक्तियों का का न्यास यहाँ होता है वे शक्तियाँ हैं—१. विभ्वी, २. ज्ञप्ति, ३. कृति, ४. इच्छा,

---

१. क० पु० कखलम्बकयोर्मध्ये तत्त्वमनुविचिन्तयेदित्येयंविधः पाठः

२. क० पु० कृति कखे तत्त्वमिति ; ३. चिन्तयेत्तत इति च पाठः

४. क० पु० बीजं विकसितं सितमिति पाठः ; ५. क० ततः परा इति पाठः

वामा ज्येष्ठा च रौद्री च सर्वाः कालानलप्रभाः ।
ब्रह्मविष्णुहराः पूर्वं ये शाक्ताः प्रतिपादिताः ॥ ६६ ॥
दलकेसरमध्यस्था मण्डलानां त ईश्वराः ।
ध्वनि ? चार्केन्दुवह्नीनां संज्ञया परिभावयेत् ॥ ६७ ॥
ईश्वरं च महाप्रेतं प्रहसन्तं सचेतनम् ।
कालाग्निकोटिवपुषमित्येवं सर्वमासनम्[1] ॥ ६८ ॥
तस्य नाभ्युत्थितं शक्तिशूलशृङ्गत्रयं स्मरेत् ।
कखत्रयेण निर्यातं द्वादशान्तावसानकम् ॥ ६९ ॥

---

५. वागोशी, ६. ज्वालिनी, ७. वामा, ८. ज्येष्ठा और ९. रौद्री। ये सभी शक्तियाँ कालानल के समान प्रचण्ड प्रभा से भास्वर होती हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि, केशर परिवेश में सूर्य, इन्दु और अग्नितत्त्व भी अवस्थित होते हैं। इनके अधिष्ठाता शक्तिमन्त ब्रह्मा, विष्णु तीनों देव भी वहाँ साधकों द्वारा नित्य स्मरणीय हैं ॥ ६५-६६ ॥

दल युक्त केशर परिवेशगत मध्य-मण्डल के ये ईश्वर हैं। इस अध्वा में सूर्य, चन्द्र और अग्नि के वे अधिष्ठान माने जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के अतिरिक्त ईश्वर नामक तत्त्व का और महाप्रेत सदाशिव का भी अधिष्ठान वहाँ है[2]। इन्हें चिति चैतन्य के प्रतीक देव रूप में विभाजित करते हैं। हास्य की प्रसन्न मुद्रा में इनका दिव्य स्मरण करना चाहिये। इनकी प्रभा करोड़ों कालानल को भी अतिक्रान्त करती है। यह सब दिव्य आसन रूप में मान्य हैं ॥ ६७-६८ ॥

ईश्वर के न्यास के साथ वहीं सदाशिव का भी न्यास शास्त्र सम्मत है। सदाशिव महाप्रेत रूप में मान्य हैं।[3] सदाशिव की नाभि से उत्थित शक्तिशूल शृङ्ग का साक्षात्कार ऋषियों और योगियों ने किया था। उनकी संख्या तीन है। इसका स्मरण वहाँ अत्यन्त आवश्यक है। महाप्रेत का हास नादान्तात्मक हास है। नाद का अन्त ही नादान्त है। वहाँ से चिदुद्बोध होना ही अट्टहास माना जाता है। इसमें ही अर्थात् मूर्धा में ही रन्ध्रत्रय का अवस्थान है। यही शक्ति व्यापिनी और समना शक्तियाँ हैं। यही कखत्रय हैं। ये ऊर्ध्व द्वादशान्त तक जाती हैं। इनके

---

१. परात्रि० इत्येतत्सर्वमासनमिति पाठः।
२. श्रीत० १५।३०७; ३. श्रीत० १५।३१२

चिन्तयेत्तस्य शृङ्गेषु शाक्तं पद्मत्रयं ततः ।
सर्वाधिष्ठायकं शुक्लमित्येतत्परमासनम् ।। ७० ।।

तत्रोपरि ततो मूर्ति विद्याख्यामनुचिन्तयेत् ।
आत्माख्यां च ततस्तस्यां पूर्वन्यासं शिवात्मकम् ।। ७१ ।।

ततो मध्ये परां शक्तिं दक्षिणोत्तरयोर्द्वयम् ।
परापरां स्वरूपेण रक्तवर्णां महाबलाम् ।। ७२ ।।

इच्छारूपधरां ध्यात्वा किञ्चिदुग्रां न भोषणाम् ।
अपरां वामशृङ्गे तु भीषणां कृष्णपिङ्गलाम् ।। ७३ ।।

इच्छारूपधरां देवीं प्रणतार्तिविनाशिनीम् ।
परां चाप्यायनीं देवीं चन्द्रकोटचयुतप्रभाम् ।। ७४ ।।

शृङ्गों पर भी तीन शाक्त पद्मों का प्रकल्पन किया जाता है । ये तीनों शाक्त पद्म सर्वाधिष्ठायक माने जाते हैं । शुद्ध विद्या से ऊपर के तत्त्व होने के कारण ये शुक्ल होते हैं । यहाँ तक आसनों और परमासनों का परिवेश पूरा होता है ।। ६९-७० ।।

इन आसनों से ऊपर विद्या नामक मूर्त्ति का अनुचिन्तन करना चाहिये । वहीं आत्म संज्ञक मूर्त्ति का भी स्मरण किया जाता है । इन तत्त्वों में मुख्य रूप से पूर्ववत् शिवात्मक न्यास करते हैं । वहीं मध्य में परा शक्ति विद्यमान है । परा शक्ति के दोनों ओर दक्षिण में परापरा देवि का अधिष्ठान है । परापरा शक्ति रूपतः रक्त वर्ण मानी जाती है । यह बलशालिनी शक्ति है । इसे महाबला कहते हैं । इसे स्वेच्छा रूप धारण करने वाली शक्ति कहते हैं । यह कुछ उग्र तो है किन्तु इसे भीषण नहीं कहा जा सकता । जहाँ तक अपरा देवी का प्रश्न है, यह बाँयें शृङ्ग में अधिष्ठित है । यह भीषण और कृष्ण पिङ्गला शक्ति मानी जाती है ।। ७१-७३ ।।

मध्यमणिरूपा परा शक्ति तीनों शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है । ये भी स्वेच्छया रूप धारण कर भक्तों को अनुगृहीत करती हैं । प्रणत शरणागत आर्त्त की पीडा का तुरत विनाश करने वाली यह करुणामयी मातृ शक्ति है । इससे विश्व का स्वभावतः आप्यायन होता है । यह दिव्य शक्ति वर्ण में कोटि-कोटि चन्द्रप्रभा को भी अतिक्रान्त करने वाली अनिर्वचनीय आभा से भास्वर है[1] ।। ७४ ।।

---

१. श्रीत० १५।३२४-३३६

षड्विधेऽपि कृते शाक्ते मूर्त्यादावपि चिन्तयेत् ।
विद्याङ्गपञ्चकं पश्चादाग्नेय्यादिषु विन्यसेत् ॥ ७५ ॥

अग्नीशरक्षोवायूनां दक्षिणे च यथाक्रमम् ।
शक्त्यङ्गानि शिवाङ्गानि तथैव विधिना स्मरेत् ॥ ७६ ॥

किंतु शक्रादिदिक्ष्वस्त्रमन्त्रं मध्ये च लोचनम् ।
अघोराद्यष्टकं ध्यायेदघोर्याद्यष्टकान्वितम् ॥ ७७ ॥

सर्वासामावृतत्वेन लोकपालांश्च बाह्यतः ।
सास्त्रान्स्वमन्त्रैः संचिन्त्य जपं पश्चात्समारभेत् ॥ ७८ ॥

यह न्यास प्रक्रिया षोढान्यास के रूप में श्रीतन्त्रालोक (१५।२५४)में प्रकल्पित है। इसमें शाक्त न्यास के सन्दर्भ में मूर्त्ति आदि पर भी न्यास करना चाहिये। विद्याङ्ग पञ्चक न्यास[1] आग्नेयादि क्रम से सम्पन्न किया जाता है। ये न्यास विद्या के पाँच अङ्गों से सम्बन्धित हैं। वे क्रमशः हैं—१. मूर्त्ति, २. वक्त्र, ३. विद्यात्रितय, ४. अघोर्याद्यष्टक और ५. विद्याङ्गपञ्चक न्यास। यह विद्याङ्गपञ्चक १. विद्या, २. आत्मा, ३. परा, ४. अपरा और ५. परापरा के अनुष्ठान की दृष्टि से ही विचारणीय हैं[2] ॥ ७५ ॥

अग्नि आदि दिशाओं का क्रम—अग्निकोण, ईशानकोण, नैर्ऋत्य, ४. वायव्य और ५. दक्षिण के अनुसार शास्त्र सम्मत है ॥ ७६ ॥

जहाँ तक अघोराद्यष्टक न्यास है, वह पूर्वादिदिक्क्रम से ही सम्पन्न होना चाहिये। मध्य में अस्त्र मन्त्र का प्रयोग करते हैं। इसको शास्त्र में लोचन संज्ञा[3] निर्धारित की गयी है। इस अवसर पर अघोरी आदि शक्तियों के साथ अघोर आदि शिव की आठ मूर्तियों का स्मरण करना चाहिये। इस तरह देवदेवी वर्ग का न्यास एवं पूजन का क्रम पूरा होता है ॥ ७७ ॥

सारी शक्तियों और शक्तिमन्त का न्यास आवरण में होता है। जहाँ तक लोकपालों का प्रश्न है, इनकी बाह्य पूजा होती है। इनके मन्त्र और अस्त्र मन्त्र का चिन्तन कर जप करते रहना चाहिये ॥ ७८ ॥

---

१. श्रीत० १५।२५०; २ श्रीत० १५।३५३-५७
३. श्रीत० १५।३५४

स्वरूपे तल्लयो भूत्वा एकैकां दशधा स्मरेत् ।
ज्वलत्पावकसंकाशां ध्यात्वा स्वाहान्तमुच्चरेत् ।। ७९ ।।
सकृदेकैकशो मन्त्री होमकर्मप्रसिद्धये ।
इत्येव मानसो यागः कथितः सामुदायिकः ।। ८० ।।
एतत्त्रिशूलमुद्दिष्टमेकदण्डं त्रिशक्तिकम् ।
इत्थमेतदविज्ञाय शक्तिशूलं वरानने ।। ८१ ।।
बद्ध्वापि खेचरीं मुद्रां नोत्पतत्यवनीतलात् ।
इत्येतच्छाम्भवं प्रोक्तमष्टान्तं शाक्तमिष्यते ।। ८२ ।।

विधि का निर्देश करते हुए भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, स्वरूप निमग्न रहकर प्रति शक्ति दश-दश बार स्मरण करना चाहिये। इनके रूप की कल्पना जाज्वल्यमान अग्नि शिखाओं से आवृत और चकाचौंध उत्पन्न करने की दिप्ति से समन्वित की जाती है। इनका ध्यान कर मन्त्रों का स्वाहान्त जप आरम्भ करना चाहिये।। ७९ ।।

एक-एक के प्रति मन्त्री अर्थात् मन्त्रजप में प्रवृत्त दीक्ष्य अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए जप करे—यही विधि उत्तम है। तत्पश्चात् होम आदि कर्मों का सम्पादन करना चाहिये। इसे सामुदायिक अन्तर्याग कहते हैं।। ८० ।।

त्रिशूल की यही परिभाषा कही गयी है। वह एक दण्ड वाला होता है। उसके ऊपर शूलों पर अब्ज का प्रकल्पन करते हैं। उन्हें त्रिशूलाब्ज कहते हैं। इन तीनों कमलों पर तीन दिव्य शक्तियाँ अधिष्ठित हैं। प्राण दण्ड भी पारिभाषिक शब्द है। उसी पर यह त्रिशूल, कमल और देवियों का साक्षात्कार कर उनकी आराधना साधक करता है। इसे न जानकर कोई भी योग और तान्त्रिक साधना के रहस्यों को नहीं जान सकता।। ८१ ।।

भगवान् कहते हैं कि पार्वति! शक्तिशूल से अपरिचित व्यक्ति खेचरी मुद्रा में अवस्थित योगी के भूतल से भार रहित की तरह ऊपर नहीं उठ सकता। ये सारी स्थितियाँ शाम्भव समावेश सिद्ध बनाती हैं। इसके बाद शक्तिशूल के शाम्भव, शाक्त और आणव समावेश को सिद्ध करना चाहिये ॥ ८२ ॥

तुर्यान्तमाणवं विद्यादिति शूलत्रयं मतम् ।
पृथग्यागविधानेन [1]शक्तिचक्रं विचिन्तयेत् ॥ ८३ ॥

तेनापि खेचरीं बद्ध्वा त्यजत्येवं महीतलम् ।
ततोऽभिमन्त्र्य धान्यानि महास्त्रेण त्रिसप्तधा ॥ ८४ ॥

निक्षिपेद्दिक्षु सर्वासु ज्वलत्पावकवत्स्मरेत् ।
निर्विघ्नं तद्गृहं ध्यात्वा संहृत्येशदिशं नयेत् ॥ ८५ ॥

पञ्चगव्यं ततः कुर्याद्वदनैः पञ्चभिर्बुधः ।
गोमूत्रं गोमयं चैव क्षीरं दधि घृतं तथा ॥ ८६ ॥

श्लोक ६९ से शक्तिशूल[2] शृङ्गत्रय की चर्चा प्रारम्भ की गयी है। यहाँ तक मानस याग (श्लो० ८०) का वर्णन करके इसके ज्ञान की अनिवार्यता का कथन किया गया। यह सारा वर्णन शाम्भव उपाय में समाहित है । इसी क्रम में यह भी जान लेना चाहिये कि, इसमें एक मुख्य शूल शाम्भवशूल है। दूसरा अष्टान्त पर्यन्त शाक्तशूल है और तुर्यान्त तक आणवशूल है। यही तीन शूल माने गये हैं। याग के भेदों के अनुसार इस शक्ति चक्र के स्तरीय महत्त्व के अनुसार इन शूलों का उपयोग करना चाहिए ॥ ८३ ॥

शक्तिचक्र का विशेषज्ञ खेचरी मुद्रा सिद्ध कर लेता है और इस मुद्राबन्ध की स्थिति में अवनीतल छोड़कर खेचर हो सकता है। महीतल के परित्याग का यही तात्पर्य है। इसके बाद महास्त्र मन्त्र में २१ बार अभिमन्त्रित धान्य का प्रयोग करें। उसके प्रयोग का यही स्वरूप है कि, सारी दिशाओं में उस अभिमन्त्रित का छिड़काव कर देना चाहिये। उन धान्य को अग्नि कणिकाओं की विप्रुष राशि की तरह ध्यान में लाना चाहिये। इस तरह इतनी प्रक्रिया पूरी करने के बाद साधक याग सदन के उस अपेक्षित स्थान पर जाकर उसे एकत्र कर ईशान दिशा की ओर ले जाय[3] ॥ ८४-८५ ॥

इसके बाद शरीर को शुद्ध करने के उद्देश्य से पञ्चगव्य का प्रयोग करना चाहिये। पाँच बार लगा-लगाकर और सुखाकर फिर लगाना चाहिये। इस तरह शरीर में पञ्चगव्य की पूरी शुचिता आत्मसात् हो जाती है। पञ्चगव्य में गोमूत्र, गोमय, गोक्षीर, गोदधि और गोघृत का प्रयोग होता है ॥ ८६ ॥

---

१. ख० पु० शक्तिपद्ममिति पाठः ; २. श्रीत० १५।३६३ ; ३. तदेव—१५।१६९

मन्त्रयेदूर्ध्वपर्यन्तैः षडङ्गेन कुशोदकम् ।
मुद्रे द्रव्यामृते बद्ध्वा तत्त्वं तस्य विचिन्तयेत् ॥ ८७ ॥

तेन संप्रोक्षयेद्भूमिं स्वल्पेनान्यन्निधापयेत्[1] ।
वास्तुयागं ततः कुर्यान्मालिन्युच्चारयोगतः ॥ ८८ ॥

पुष्पैरञ्जलिमापूर्य [2]फकारादि समुच्चरन् ।
ध्यात्वा शक्त्यन्तमध्वानं नकारान्ते विनिक्षिपेत् ॥ ८९ ॥

गन्धधूपादिकं दत्त्वा गणेशानं प्रपूजयेत् ।
षडुत्थमासनं न्यस्य प्रणवेन ततोपरि ॥ ९० ॥

गामित्यनेन विघ्नेशं [3]गन्धधूपादिभिर्यजेत् ।
[4]अस्याङ्गानि गकारेण षड्दीर्घस्वरयोगतः ॥ ९१ ॥

षडङ्ग मन्त्रोच्चार के कुशोदक से प्रोक्षण करना चाहिये। यह प्रोक्षण ऊर्ध्व पर्यन्त विधि विहित है। आवाहनी, स्थापनी मुद्राओं का प्रयोग करना चाहिये। द्रव्यों को अमृतीकरण से अमृत बना लेना चाहिये। इतना करते हुए साधक को तत्त्व चिन्तन कर उसमें रम जाना चाहिये ॥ ८७ ॥

कुलद्रव्यामृत से उस भूमि का भी प्रोक्षण होना चाहिये। त्रैशिरस्मत के अनुसार यहाँ निरीक्षण, प्रोक्षण, ताडन और आप्यायन मुद्रा प्रक्रिया भी अपनायी जानी चाहिये। इसी के अनन्तर वास्तुयाग को प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इसमें मालिनी शब्दराशि रूपी वर्णमाला का प्रयोग होता है[5] ॥ ८८ ॥

अञ्जुलियों में पुष्प लेकर मालिनी का फादिनान्त प्रयोग उच्चारण करते हुए करें। इसमें अध्वा का शक्तिपर्यन्त ध्यान करते हुए न तक आने पर पुष्प का विनिक्षेप कर देते हैं ॥ ८९ ॥

पुनः गन्ध और धूप आदि का अर्पण किया जाता है। गणेश[6] और ईशान का पूजन भी अनिवार्यतः करना चाहिये। पूर्व वर्णित छह प्रकार के आसनों का वहाँ न्यास करने के बाद प्रणवपूर्वक 'ग' में छह दीर्घ स्वरों के गणेश बीजों से

१ क० पु० नान्यद्विदारयेदिति पाठः ; २. क० पु० हकारादीति पाठः ;
३ क० पु० गन्धपुष्पादिभिरिति पाठः ; ४. तं० तस्याङ्गानीति पाठः ;
५. तदेव १३।३७४ ; ६. श्रीत० १५।३७७

त्रिनेत्रमुदितं ध्यात्वा गजास्यं वामनाकृतिम् ।
विसर्ज्यं सिद्धिकामस्तु महास्त्रमनुपूजयेत् ॥ ९२ ॥

दत्त्वानन्तं तथा धर्मं ज्ञानं वैराग्यमेव च ।
ऐश्वर्यं [1]कर्णिकायां च षडुत्थमिदमासनम् ॥ ९३ ॥

अस्योपरि न्यसेद्ध्यात्वा खड्गखेटकधारिणम् ।
विकरालं महादंष्ट्रं महोग्रं भ्रुकुटीमुखम् ॥ ९४ ॥

स्वाङ्गषट्कसमोपेतं दिङ्मातृपरिवारितम् ।
स्वाङ्गैरेवाङ्गषट्कं[2] तु फट्कारपरिदीपितम् ॥ ९५ ॥

तद्रूपमेव संचिन्त्य ततो मात्रष्टकं यजेत् ।
इन्द्राणीं पूर्वपत्रे तु सवज्रां युगपत्स्मरेत् ॥ ९६ ॥

गणेश का विशेष पूजन करना चाहिये । इसमें गन्ध और धूप-दीप का प्रयोग करना चाहिये । 'ग' अक्षर में दीर्घ स्वरों के प्रयोग का यही अवसर है और इन्हीं छह दीर्घ स्वर युक्त ग बीजाक्षरों से पूजन का विधान है ॥ ९०-९१ ॥

भगवान् त्रिनेत्र का ध्यान उदित या मुदित अवस्था में करना चाहिये । गणेश का ध्यान वामन भाव में करना चाहिये । पूजनोपरान्त विसर्जन कर सिद्धि की चाह रखने वाला व्यक्ति को महास्त्र का अनुकूलन करना चाहिये ॥ ९२ ॥

इसके बाद अनन्त के प्रति अपना ध्यान देने के बाद धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के साथ कर्णिका को भी वहीं समाहित करना चाहिये । ये छह आसन षडुत्थ आसन माने जाते हैं ॥ ९३ ॥

इसके ऊपर खड्ग, खेटकधारी, महादंष्ट्र, विकराल और भृकुटी तक मुख वाले महोग्र की पूजा का न्यास कर उनकी पूजा करनो चाहिये ॥ ९४ ॥

इसके अनन्तर अष्ट मातृका का पूजन होना चाहिये । सर्वप्रथम स्वात्म शरीर के षडङ्ग पूजन क्रम में दिक् मातृ परिवारित मातृकाओं की 'स' वर्ण के साथ दीर्घ-षट्क से छह अङ्गों में पूजा करनी चाहिये ॥ ९५ ॥

उन रूपों का अनुचिन्तन करते हुए मात्रष्टक याग करना चाहिये । इसका क्रम इसके अनुसार इस प्रकार है—

---

1. क० पु० कर्णिकायां चेति पाठः ; 2. क० ख० पु० साङ्गैः (सार्णैः) इत्येवंविधः पाठः

आग्नेयीं शक्तिहस्तां च याम्यां दण्डकरां ततः ।
नैऋतीं वरुणानीं च वायवीं च विचक्षणः ॥ ९७ ॥

खड्गपाशध्वजैर्युक्तां चिन्तयेद्युगपत्प्रिये ।
कौवेरीं मुद्गरकरामीशानीं शूलसंयुताम् ॥ ९८ ॥

गन्धपुष्पादिभिः पूज्य स्वतन्त्रे होममाचरेत् ।
आदौ च कलशं कुर्यात्सहस्राधिकमन्त्रितम् ॥ ९९ ॥

सहस्रं होमयेत्तत्र ततो जप्त्वा विसर्जयेत् ।
शतमष्टोत्तरं पूर्णं पश्चाद्यजनमारभेत् ॥ १०० ॥

क्रम	मातृनाम	दिशा नाम	आयुध नाम
१.	इन्द्राणी	पूर्वपत्र	वज्र
२.	आग्नेयी	अग्निकोण	शक्ति
३.	याम्या	दक्ष	दण्ड
४.	नैऋती	नैऋत्यकोण	खड्ग
५.	वरुणानी	पश्चिम	पाश
६.	वायवी	वायुकोण	ध्वज
७.	कौबेरी	उत्तर	मुद्गर
८.	ईशानी	ईशान कोण	शूल

इन आठों का गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदि से पूजन करना चाहिये। स्वतन्त्र हवन करना भी आवश्यक माना जाता है। इनके पूजन से पहले ही सहस्राधिक मन्त्रों से मन्त्रित कलश स्थापन और पूजन आदि कर लेना चाहिये ॥ ९६-९९ ॥

पूजन के पश्चात् एक हजार आहुतियों से सम्पन्न हवन प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। पुनः जप और जप के अनन्तर विसर्जन करना और उसके बाद अष्टोत्तरशत अर्थात् १०८ आहुतियों वाला पूर्ण यजन भी सम्पन्न करना शास्त्र सम्मत है ॥ १०० ॥

तत्रादौ कुम्भमादाय हेमादिमयमव्रणम् ।
सर्वमन्त्रौषधीगर्भं[1] गन्धाम्बुपरिपूरितम् ॥ १०१ ॥

चूतपल्लववक्त्रं च स्रक्सूत्रसितकण्ठकम्[2] ।
रक्षोघ्नतिलकाक्रान्तं सितवस्त्रयुगावृतम् ॥ १०२ ॥

शताष्टोत्तरसंजप्त — [3]मूलमन्त्रप्रपूजितम् ।
वार्धान्यपि तथाभूता किंतु सास्त्रेण पूजिता ॥ १०३ ॥

विकिरैरासनं दत्त्वा पूर्वोक्तं तु विचक्षणः ।
इन्द्रादीन्पूजयेत्पश्चात्स्वदिक्षु प्रोक्तस्वस्वरैः ॥ १०४ ॥

श्लोक ९९ में कलश शब्द का प्रयोग और प्रस्तुत कुम्भ प्रयोग पृथक्-पृथक् प्रयोजन के लिये हैं। यह वार्धानी का सन्दर्भ है। इस कुम्भ को सर्वप्रथम लेकर उसकी परीक्षा करनी चाहिये। कहीं उसमें व्रण या छिद्र न हो। इस कुम्भ अर्थात् महाकलश में स्वर्ण, रजत, रत्न आदि भी अर्पित करना चाहिये। इसमें वित्तशाठ्य नहीं करना चाहिये। कलश के सभी मन्त्रों से अभिमन्त्रित और ओषधियों से परिपूर्ण तथा गन्ध-पुष्प आदि से सुगन्धित जल से परिपूरित कर, उसके मुख पर आम्रपल्लवीय पल्लवशिखा पर रखकर माला से विभूषित करना चाहिये। उसके कण्ठ को सित सूत्र से परिवृत्त करना चाहिये। उस पर ऐसे तिलक से तिलकित करना चाहिये, जो राक्षसों द्वारा सम्भावनीय विघ्नों से यज्ञ की रक्षा करता है। दो श्वेत वस्त्रों से आवृत करके उसकी पूजा कर लेनी चाहिये। पुनः अष्टोत्तरशत कलश-वरुण मन्त्र का जप करना आवश्यक होता है। यह ध्यान देने की बात है कि, उसकी पूजा मूल मन्त्र से ही की जाती है। इसी के साथ वर्धानी का अर्चन करने के उपरान्त उसे अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कर लेना चाहिये ॥ १०१-१०३ ॥

विकिर परिभाषिक शब्द है। यह बलि प्रकरण में प्रयुक्त द्रव्यों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है। उन्हीं से आसन का प्रकल्पन कर विचक्षण आचार्य इन्द्र आदि लोकपालों की सस्वर मन्त्रों से पूजा करें और इसी क्रम में वार्धानी से अविच्छिन्न

---

१. तं० सर्वरत्नौषधीगर्भमिति पाठः ; २. तं० कृतकण्ठकमिति पाठः ;
३. क० पु० मूलमन्त्रप्रपूरितमिति पाठः

अविच्छिन्नां ततो धारां वार्धान्या प्रतिपादयेत् ।
भ्रामयेत्कलशं पश्चाद्ब्रूयाल्लोकेश्वरानिदम् ॥ १०५ ॥

भो भोः शक्र त्वया स्वस्यां दिशि [1]विघ्नप्रशान्तये ।
सावधानेन कर्मान्तं भवितव्यं शिवाज्ञया ॥ १०६ ॥

नीत्वा तत्रासने पूर्वं मूर्तिभूतं[2] घटं न्यसेत् ।
तस्य दक्षिणदिग्भागे वार्धानीं [3]विनिवेशयेत् ॥ १०७ ॥

आत्ममूर्त्यादिपूज्यान्तं कुम्भे विन्यस्य मन्त्रवित् ।
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य वार्धान्यां [4]पूजयेदिमम् ॥ १०८ ॥

अर्थात् विना टूटे निरन्तर गिरने वाली धारा को प्रतिपादित करें। कलश को चारों दिशाओं में घुमाकर यथा स्थान रख दें। पुनः इन मन्त्रों से सभी को दिक्-रक्षण में प्रवृत्त रहकर विघ्नों के नाश की प्रार्थना करें ॥ १०४-१०५ ॥

शक्रमन्त्र—

हे देवेन्द्र शक्र ! यह शिव सम्बन्धी याग है। इसमें शिव की आज्ञा है कि, आप अपनी इस प्राची दिशा में विघ्नों की शान्ति के लिये पूरे कर्मान्तपर्यन्त सावधान होकर रहें। इसी प्रकार अग्नि के लिये 'भो अग्ने त्वं' जोड़कर मन्त्र बनाकर प्रार्थना करें। अन्य दिग्पालों के लिये भी सारे कर्मकाण्डी इसी शक्र मन्त्र का प्रयोग कर लेते हैं ॥ १०६ ॥

पुनः उस आसन पर पहले मूर्त्ति रूप घट की व्यवस्था करें। उसी के दक्षिण भाव में वार्धानी को विनिविष्ट कर दें। मन्त्रवेत्ता आचार्य उस कलश में आत्म-मूर्त्ति, शाक्तमूर्त्ति और शिवमूर्त्ति का प्रकल्पन कर न्यस्त करने के उपरान्त उसी में पूजन भी सम्पन्न करें। गन्ध-पुष्प आदि से पूजा प्रक्रिया पूरी करें। पुनः वार्धानी के अन्तर भाग में पूजन करें ॥ १०७-१०८ ॥

---

१. क० पु० विघ्नोपशान्तये इति पाठः । २. क० पु० मूर्तिभूतां परामिति पाठः ।
३ तं० विनिवेदयेदिति पाठः । ४. ख० पु० पूजयेदासमिति पाठः ।

गन्धैर्मण्डलकं[1] कृत्वा ब्रह्मस्थाने विचक्षणः ।
तत्र [2]संपूजयेत्षट्कं [3]त्रिकं वाप्येकमेव वा ॥ १०९ ॥

कुण्डस्योल्लेखनं लेखः कुट्टनं चोपलेपनम् ।
चतुष्पथाक्षवाटं च वज्रसंस्थापनं तथा ॥ ११० ॥

कुशास्तरणपरिधिविष्टराणां च कल्पनम् ।
सर्वमस्त्रेण कुर्वीत [4]विद्यामोंह्रीमिति न्यसेत् ॥ १११ ॥

शिवमोमिति विन्यस्य संपूज्य द्वितयं पुनः ।
ताम्रपात्रे शरावे वा आनयेज्जातवेदसम् ॥ ११२ ॥

विचक्षण आचार्य वार्धानी के पास ही गन्ध से एक माण्डलिक प्रकल्पन करें। यहीं ब्रह्मा का स्थान होता है। वहाँ सभी छहों (पञ्चब्रह्म+एक शिव) की पूजा करें अथवा, त्रिक रूप शक्तियों की पूजा करें अथवा, मात्र शिव की ही एक पूजा करें ॥ १०९ ॥

कुण्ड को कैसे बनाया जाय, भगवान् शङ्कर इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। उनका कहना है कि, चाहे लेख रूप से चित्र का कुण्डभूमि में ही प्रकल्पन कर उसका उपयोग करें अथवा, कुट्टिम कर ले अथवा गोमयोपलेप से उसे प्रयोग में लाये। वहीं चतुष्पथ, अक्षवाट और वज्र संस्थापन भी सम्पन्न करें। कुशास्तरण, कुण्ड की परिधि, अन्य विष्टर के प्रयोग करने आवश्यक हैं। अस्त्र मन्त्र से इन विधाओं का सम्पादन होना चाहिये। 'ओम् ह्रीं' इस विद्या का वहाँ न्यास करना चाहिये ॥ ११०-१११ ॥

पुनः 'शिवम् ओम्' इस मन्त्र का विन्यास भी आवश्यक होता है। इसी मन्त्र से पूजा भी की जा सकती है। इस प्रकार कुण्ड की प्रक्रिया पूरी करने के बाद ताम्र पात्र या शराब अर्थात् मिट्टी के पात्र में जातवेदस अर्थात् 'अग्नि' देव को लाना चाहिये ॥ ११२ ॥

---

१. त० गन्धमण्डलकमिति, ख० पु० मनुमण्डलकमिति पाठः ।
२. ख० पु० संपूजयेच्छंखमिति । ३. त० त्रिके वेति पाठः ।
४. ख० पु० विद्यामैन्द्रीमिति पाठः ।

शिवशुक्रमिति ध्यात्वा विद्यायोनौ विनिक्षिपेत् ।
ततस्त्वाहुतयः पञ्च विद्याङ्गैरेव होमयेत् ॥ ११३ ॥
जननादि ततः कर्म सर्वमेवंकृते[1] कृतम् ।
परापरामनुस्मृत्य दद्यात्पूर्णाहुतिं पुनः ॥ ११४ ॥
संपूज्य मातरं वह्नेः पितरं च विसर्जयेत् ।
चर्वादिसाधनायाग्नि समुद्धृत्य ततः पुनः ॥ ११५ ॥

अग्नि वास्तव में शिव का शुक्र ही माना जाता है। इधर कुण्ड के भीतर विष्टर और विद्याओं को न्यास प्रक्रिया भी पूरी हो चुकी हैं। यह विद्या योनि का रूप ग्रहण कर चुका है। इसी योनि में शिव शुक्र का आधान सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उचित है। यह यज्ञ प्रक्रिया की रहस्य गर्भ एक विधि है। इसे आगम और निगम दोनों का समर्थन प्राप्त है। अग्नि प्रक्षेप की प्रक्रिया पूरी कर उसके पोषण हेतु सर्वप्रथम विद्याङ्ग मन्त्रों द्वारा ही पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये। यह एक प्रकार का गर्भाधान संस्कार है। चर्या की दृष्टि से यह आदर्श कार्य है ॥ ११३ ॥

इसके जननादि संस्कारों को विचक्षण आचार्य सम्पन्न करता है। ये सब अग्नि प्रज्वलन के बाद क्रमिक रूप से किये जाते हैं। यह परम्परा पर निर्भर करता है। जैसी परम्परा हो या सम्प्रदाय के समयाचार में जो पद्धति हो, वही अपनानी चाहिये। सब प्रक्रिया पूरी करने पर ही पूर्णाहुति होती है ॥ ११४ ॥

अग्नि की माँ अरणि और अग्नि के पिता ऋत्विक् को पूजा भी की जाती चाहिये। अग्नि की माँ का नाम 'वसु' है। इसके पिता का नाम धर्म है। धर्म से वसु भार्या में अग्नि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ इसकी माँ का नाम 'स्वाहा' है। इनके तीन पुत्र १. पावक २. पवमान और ३. शुचि हुये। यह अग्नि परिवार का परिचय[2] है। व्याकरण शास्त्र के 'विश्वानरस्य ऋषेः अपत्यं पुमान् वैश्वानरः' के अनुसार वैश्वानर अग्नि के पुत्र विश्वानर ऋषि[3] हैं। इनकी पत्नी का नाम शुचिष्मती था। पुत्र का नाम शुचि अग्नि (गार्हपत्य) था। यही अग्नि देवमुख अग्नि और अग्नि रूप अग्नि भी भगवान् की कृपा से हुआ।

---

१. तं० मेवं कृतं कृतमिति पाठः। २. शब्दकल्पद्रुमे 'अग्नि'शब्दः

३. काशीखण्डः भाग १ (अ० ११ श्लो० ७४)

ज्वलितस्याथवा वह्नेश्चितिं वामेन वायुना ।
आकृष्य हृदि संकुम्भ्य दक्षिणेन पुनः क्षिपेत् ॥ ११६ ॥
पूर्णां च पूर्ववद्दद्याच्छिवाग्नेरपरो विधिः ।
शिवरूपं तमालोक्य तस्यात्मान्तःकृतिं क्रमात् ॥ ११७ ॥
कुर्यादन्तःकृतिं मन्त्री ततो होमं समारभेत् ।
मूलं शतेन संतर्प्य तदङ्गानि षडङ्गतः ॥ ११८ ॥
शेषाणां मन्त्रजातीनां [1]दशांशेनैव तर्पणम् ।
ततः प्रवेशयेच्छिष्याञ्शुचीन्स्नातानुपोषितान् ॥ ११९ ॥

इन कथाओं के सम्बन्ध के आधार पर अग्नि को माँ शुचिष्मती और पिता विश्वानर ही मान्य हैं। इनकी पूजा कर इनका विसर्जन करना चाहिये। चरु के परिपाक के लिये अग्नि को बाहर निकालने का भी विधान है ॥ ११५ ॥

एक अन्य आध्यात्मिक विधान की चर्चा भी यहाँ कर रहे हैं। कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित है। उसकी चिति (शक्ति) को वाम नास्य छिद्र से साधक को खींच कर यथाशक्य हृदय में कुम्भित कर दक्षनासा छिद्र से बाहर करना भी एक प्रकार का पूजन और विसर्जन माना जाता है ॥ ११६ ॥

जहाँ तक पूर्णाहुति का प्रश्न है, यह पहले जिस प्रकार से कहा गया है, उसी तरह अर्पित की जानी चाहिये। शिवाग्नि के सम्बन्ध में एक दूसरी विधि का भी प्रयोग विचक्षण पुरुष करते हैं। उनके अनुसार अग्नि स्वयं शिव रूप ही है। उसको देखकर ही उसको आत्मसात् करने की आन्तरिक प्रक्रिया अपनाते हैं। क्रमशः उसको अन्तःकृति की प्रक्रिया मन्त्री पूरा करता है और आन्तर होम अथवा बाह्य होम आरम्भ करता है। वह जिस आराध्य के मन्त्र का जप करता है उसकी एक माला जप करने से वह तृप्त हो जाता है। उसी मूल मन्त्र से पवित्र मन्त्रों के अङ्गों का षडङ्गन्यास भी करते है ॥ ११७-११८ ॥

शेष मन्त्र जाति का दशांश से ही तर्पण हो जाता है। इतनी प्रक्रिया पूरी करने के बाद ही शिष्य यागसदन में प्रवेश का अधिकारी होता है। शिष्य कैसे हों कि यागसदन में प्रवेश कर सकें, इसलिये उनकी विशेषता कई विशेषणों से व्यक्त कर रहे हैं—१. वह शिष्यत्व ग्रहण कर चुका हो, २. वह उक्त सारी प्रक्रिया

१. क० पु० दशांश्चैव तर्पणमिति पाठः

प्रणम्य देवदेवेशं चतुष्टयगतं क्रमात् ।
पञ्चगव्यं चरुं दद्याद्दन्तधावनमेव च ॥ १२० ॥

हृदयेन चरोः सिद्धिर्याज्ञिकैः क्षीरतण्डुलैः ।
संपातं सप्तभिर्मन्त्रैस्ततः षड्भागभाजितम् ॥ १२१ ॥

शिवाग्निगुरुशिष्याणां[1] वार्धानीकुम्भयोः समम् ।
दन्तकाष्ठं ततो दद्यात्क्षीरवृक्षसमुद्भवम् ॥ १२२ ॥

तस्य पातः शुभः प्राचीसौम्यैशाप्योर्ध्वदिग्गतः ।
अशुभोऽन्यत्र तत्रापि होमोऽष्टशतिको भवेत् ॥ १२३ ॥

पूरी कर स्वयं शुचिवत् हो गया हो, ३. स्नान प्रक्रिया गुरु द्वारा पूरी करा दी गयी हो और ४. उस दिन उपवास का व्रती हो ॥ ११९ ॥

देवाधिदेव महादेव को प्रणाम कर मण्डप में प्रवेश करें। ऐसे चार प्रकार प्रकार के दीक्ष्य शिष्यों का यह कर्त्तव्य है कि, वे शिव, गणेश, भैरव और क्षेत्रपालों को भी प्रणाम कर अपनी प्रथम योग्यता सिद्ध करें। ऐसे शिष्यों को दीक्षक आचार्य पञ्चगव्य, चरु और मुखशुद्धि हेतु दन्तधावन प्रदान करें ॥ १२० ॥

चरुसिद्धि याज्ञिकों की विशिष्ट प्रक्रिया है। यह उन द्वारा क्षीर और चावल से निर्मित होती है। इसकी सिद्धि में हृदय मन्त्र का प्रयोग करते हैं। पूरी तरह तैयार चरु से इतना अंश आचार्य अलग करता है, जितने सात मन्त्रों से चरु की आहुति दी जाती है। अग्नि सप्त जिह्व है। अतः सात मन्त्रों की आहुतियों से उसकी सातों जिह्वायें स्वाद का अनुभव कर तृप्त हो सकें। शेष चरु को पुनः छह भागों में बाँटना चाहिये। ये छह भाग १. शिव, २. अग्नि, ३. गुरु, ४. शिष्य, ५. वर्धानी और ६. कुम्भ को अर्पित करने के उद्देश्य से किये जाते हैं। चरु के बाद दन्तकाष्ठ की चर्चा की गयी है और यह भी कहा गया है कि, दन्त-काष्ठ क्षीरी (दूध वाले) वृक्ष की होनी चाहिये ॥ १२१-१२२ ॥

दन्त काष्ठ का प्रयोग करने के बाद उसके प्रक्षेप सम्बन्धी एक रहस्य का उद्घाटन भी कर रहे हैं। वह कह रहे हैं कि, शिष्य उसे फेंके। उसके संपात की दिशा यदि पूरब है, उत्तर है, ईशान है या ऊपर प्रक्षिप्त है, तब तो ठीक है।

---

१. क० पु० शिष्याश्चेति पाठः ।

बहिःकर्म ततः कुर्याद्दिक्षु सर्वासु दैशिकः ।
ओं क्षः क्षः सर्वभूतेभ्यः स्वाहेति मनुनामुना ॥ १२४ ॥

समाचम्य कृतन्यासः समभ्यर्च्य च शङ्करम् ।
... ... गृहे शुचिः ॥ १२५ ॥

न्यासं कृत्वा तु शिष्याणामात्मनश्च विशेषतः ।
प्रभाते नित्यकर्मादि कृत्वा स्वप्नं विचारयेत् ॥ १२६ ॥

शुभं प्रकाशयेत्तेषामशुभे होममाचरेत् ।
ततः पुष्पफलादीनां सुवेशाभरणाः स्त्रियः ॥ १२७ ॥

इनके अतिरिक्त अन्य दिशाओं में प्रक्षेप अशुभ होता है। इनके लिये दीक्ष्य को एक माला अधिक जप करने से उसका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १२३ ॥

बहिःकर्म शौचक्रियादि अर्थ में प्रयुक्त है। आज भी इस तरह का प्रयोग प्रचलित है। लोग प्रायः बाहरी ओर जाते हैं। जनता में नगर क्षेत्र को छोड़कर स्त्री पुरुष सभी बाहर जाते हैं। उर्दू शब्द मैदान जाने का प्रयोग भी देहात क्षेत्रों में चलता है। यह पारम्परिक रूप से प्रयुक्त जनता का शब्द है, जो शास्त्र द्वारा प्रमाणित है। दैशिक के लिये किसी दिशा विशेष का निर्देश नहीं है। सभी दिशाओं का वह प्रयोग कर सकता है। इसका मन्त्र है—'ओं क्षः क्षः सर्वभूतेभ्यः स्वाहा' इसका प्रयोग अवश्य करें ॥ १२४ ॥

बहिःकर्म स्नान तक होता है। स्नानोपरान्त संकल्प और आचमन कर न्यास करना चाहिये। फिर भगवान् शङ्कर की आराधना करनी चाहिये। आराधना से पवित्र शिष्य यागसदन में प्रवेश करें ॥ १२५ ॥

आचार्य इन शिष्यों से न्यास करावें। स्वयं भी पूरी तरह न्यासादि सम्पन्न कर लें। अब प्रभात हो गया है। सभी शिष्य शौचादि प्रक्रिया से पवित्र और मन्त्रन्यस्त हो चुके हैं। उन्हें आचार्य एकत्रित करें। उनसे रात्रि शयन के सौविध्य आदि के प्रश्न करके उनके स्वप्नों की जानकारी लेकर उन पर विचार करें ॥ १२६ ॥

जितने शुभ स्वप्न हैं आचार्य उनकी फल श्रुति से अवगत करायें। इससे शिष्य प्रसन्न हो उठते हैं। जो अशुभ स्वप्न हैं, उनका आचार्य निर्देश कर और

आपदुत्तरणं चैव शुभदेशावरोहणम् ।
मद्यपानं शिरश्छेदमाममांसस्य भक्षणम् ॥ १२८ ॥

देवतादर्शनं साक्षात्तथा विष्ठानुलेपनम् ।
एवंविधं शुभं दृष्ट्वा सिद्धिं प्राप्नोत्यभीप्सिताम् ॥ १२९ ॥

एतदेवान्यथाभूतं [1]दुःस्वप्न इति कीर्त्यते ।
पक्वमांसाशनाभ्यङ्गगर्तादिपतनादिकम् ॥ १३० ॥

उन स्वप्नों को देख चुके शिष्यों से प्रायश्चित होम सम्पन्न कराकर उन्हें निःशङ्क बना दें ।

शुभ और अशुभ स्वप्नों की संक्षिप्त जानकारी शिष्यों को भी हो जाय, एतदर्थ पहले शुभ स्वप्नों की बानगी दे रहे हैं—

स्वप्न

शुभ १	अशुभ २
१. पुष्प फल आदि के दर्शन ।	१. इनके अतिरिक्त स्वप्न अशुभ कहलाते हैं ।
२. सुन्दर वस्त्रों और आभरणों से अलंकृत स्त्रियाँ ।	२. पका माँस-भक्षण, अभ्यङ्ग अर्थात् उबटन लगाना ।
३. आपत्ति का निराकरण एवं सुविधापूर्ण स्थान पर आरोहण ।	३. गर्त्त में गिरना आदि
४. मद्यपान, शिरश्छेद, आम, कच्चा मांस-भक्षण ।	४. आकाश में गिरना ।
५. देवदर्शन, विष्ठा का अनुलेपन; इनके देखने से अभीप्सित की सिद्धि होती है ॥ १२९ ॥	५. इस प्रकार के सभी स्वप्न दुःस्वप्न अर्थात् अशुभ माने जाते हैं । इसका ध्यान रखें ॥ १३० ॥

१. क० पु० दुःस्वप्नमितीति पाठः ।

तन्त्रोक्तां निष्कृतिं कृत्वा द्विजत्वापादनं ततः ।
देवाग्निगुरुदेवीनां पूजां कृत्वा सदा बुधः ॥ १३१ ॥

एतेषामनिवेद्यैव न किञ्चिदपि भक्षयेत् ।
देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं चण्डीद्रव्यं च वर्जयेत् ॥ १३२ ॥

निष्फलं नैव चेष्टेत मुहूर्तमपि मन्त्रवित् ।
योगाभ्यासरतो भूयान्मन्त्राभ्यासरतोऽपि वा ॥ १३३ ॥

इत्येवमादिसमयाञ्श्रावयित्वा विसर्जयेत् ।
देवदेवं ततः स्नानं शिष्याणामात्मनोऽपि वा ॥ १३४ ॥

दुःस्वप्न दर्शन से होने वाले दुर्वैलक्षण्य को दूर करने के लिये तन्त्रोक्तनिष्कृति आवश्यक है। पुनः द्विजत्वापादन भी करा लेना चाहिये। देव (देश), अग्नि, गुरुदेव और देवियों की पूजा भी अवश्य करणीय है। विचक्षण पुरुष यह जानते हैं ॥ १३१ ॥

इन्हें विना नैवेद्य निवेदित किये स्वयं कुछ भी भोजनीय रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये। देव द्रव्य का प्रयोग कभी न करें। गुरु द्रव्य भी शिष्य द्वारा प्रयोग में लाना सर्वथा वर्जित है। माँ जगदम्बा के लिये जिन द्रव्यों को लोग अर्पित करते हैं, वे चाहते हैं कि, इनका प्रयोग उनकी आराधना की व्यवस्था के लिये हो। उसका अपने लिये उपयोग पुजारी वर्ग न करे ॥ १३२ ॥

शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि, वह व्यर्थ उद्देश्यहीन व्यापार में कभी निरत न हो। वह अब मन्त्र को जान गया है। मन्त्रवित् आचार्य भी होता है। उसे भी व्यर्थ चेष्टा क्षण भर भी नहीं करनी चाहिये। योगाभ्यासरत रहना चाहिये। अथवा खाली समय में मन्त्र का ही अनुचिन्तन करे। यह और भी अच्छा है ॥ १३३ ॥

इसी आदर्श दृष्टि और ऐसे ही समयाचार के अन्यान्य नियमों के सम्बन्ध के उपदेश शिष्य को स्वयम् आचार्य ही आश्रावित करें अर्थात् सुनायें। इसके बाद ही शिष्यों का विसर्जन करें। अवकाश दे दें। तदनन्तर जिस आराध्य की आराधना का महोत्सव आयोजित है, उस देवाधिदेव का भी विधिवत् विसर्जन करें ॥ १३४ ॥

कारयेच्छिवकुम्भेन सर्वदुष्कृतहारिणा ।
इत्येतत्सामयं कर्म समासात्परिकीर्तितम् ॥ १३५ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे समयाधिकारोऽष्टमः ॥ ८ ॥

इसके बाद वहाँ पूजा में प्रयुक्त देवाधिदेव शिव के कलश के जल से शिष्यों को स्नान कराकर एवं स्वयं नहाकर दिव्य प्रयोगों की दिव्यता से ओत-प्रोत हो जाये। यह प्रक्रिया आवश्यक है क्योंकि उस जल का प्रयोग सारी दुष्कृतियों को दूर करने वाला होता है। भगवान् कहते कि, देवि पार्वति ! यह संक्षेप में सामय-कर्म की उपदिशा मैंने प्रदान की है ॥ १३५ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
समयाधिकार नामक आठवाँ अधिकार परिपूर्ण
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ नवमोऽधिकारः

अथैषां समयस्थानां कुर्याद्दीक्षां यदा गुरुः ।
तदाधिवासनं कृत्वा ······ ··· ··· ··· ॥ १ ॥

स च पूर्वां दिशं सम्यक् सूत्रमास्फालयेत्ततः ।
तन्मध्यात्पूर्ववारुण्यावङ्कयेत समान्तरम् ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेकनामकभाषाभाष्यसमन्वितम्

नवमोऽधिकारः

[१]

अधिकार के प्रारम्भ में 'अथ' अव्यय द्वारा सृष्टिकर्त्ता के आदिम विश्वारम्भ का स्मरण हो जाता है। दीक्षा भी शिष्य के दिव्यजीवन के आरम्भ की प्रक्रिया है। गुरु शास्त्रीय अधिकार प्राप्त और समयाचार सिद्ध शिष्य की दीक्षा करता है। यहाँ साधक-शिष्य विगत अध्यायों को शिक्षा से और आचार-पालन से योग्य हो गया है। अतः अब गुरु उसे अवश्य दीक्षित करें। इसके साथ अधिवासन करें और करायें। इसके बाद क्या करें यह आदेश वाक्य खण्डित हो गया है। उससे गुरु स्वयम् उस प्रक्रिया का अध्याहार करें, वही उत्तम है ॥ १ ॥

यहाँ सूत्रास्फालन की एक प्रक्रिया का निर्देश कर रहे हैं। आचार्य सूत्र गोलक शिष्य के हाथ में दें और उसे पूरब की ओर आस्फालित करायें। सूत्र मान लीजिये २० फीट दूर जा गिरा। उसके मध्य से अर्थात् दसवें फीट के अन्तिम बिन्दु से १० फीट का चिह्न या रेखा पूरब और पश्चिम की ओर खींच दें। इसी तरह पूरब पश्चिम की समान्तर रेखायें निर्धारित कर दें। इसी तरह उत्तर और दक्षिण की समान्तर रेखाओं का क्रास कर दें। इस प्रकार से एक समचतुर्भुज बन जायेगा ॥ २ ॥

पूर्वापरसमासेन सूत्रेणोत्तरदक्षिणम् ।
अङ्कयेदपरावङ्कात्पूर्वादपि तथैव ते ॥ ३ ॥

मत्स्यमध्ये क्षिपेत्सूत्रमायतं[1] दक्षिणोत्तरे ।
मतक्षेत्रार्धमानेन मध्याद्दिक्ष्वङ्कयेत्समम् ॥ ४ ॥

तद्वद्दिक्स्थाच्च कोणेषु अनुलोमविलोमतः ।
पातयेत्तेषु सूत्राणि चतुरश्रप्रसिद्धये ॥ ५ ॥

वेदाश्रिते[2] हि हस्ते प्राक् पूर्वमर्धं विभाजयेत् ।
हस्तार्धं सर्वतस्त्यक्त्वा पूर्वोदग्यामदिग्गतम् ॥ ६ ॥

पूर्व और दोनों को आत्मसात् करने वाली सूत्रिका से उत्तर और दक्षिण की रेखाओं का अङ्कन भी आवश्यक माना जाता है। ये रेखायें प्रतीची से पूर्व और दक्षिण से उत्तर के क्रम में खींचने पर जो चित्र उभरेगा वह इस प्रकार का होगा इसमें मत्स्य त्रिकोणवत् आकृति पूर्व का ही नाम है ॥ ३ ॥

मत्स्य के मध्य में सूत्र रखकर दक्षिणोत्तर आयत बने हुए हैं। इसी तरह के चार आयत बने हुए हैं। मत अर्थात् स्वीकृत। वस्तुतः सूत्र स्फालन का अर्द्ध बिन्दु ही मध्य बिन्दु होता है। यह मत क्षेत्र होता है और एक ही मध्य बिन्दु से चार आयत बनते हैं। इसमें चार मत्स्यकोण बनते हैं। इन्हें स्वयम् आचार्य बनाये ॥ ४ ॥

दिक्स्थ चारों कोणों से अनुलोम विलोम ढङ्ग से भी रेखायें खीचनी पड़ती हैं, या भीगे रंगीन सूत्र रखने से भी रेखायें उभर आती हैं। इसी पद्धति को अपनायें। इससे चतुरस्र कोण की आकृति सिद्ध हो जाती है ॥ ५ ॥

पहले चार हाथ का क्षेत्र लें। चार हाथ में ९६ अङ्गुल होता है। तत्पश्चात् आधा विभाजित करें। उसमें हस्तार्ध अर्थात् एक बित्ता अर्थात् १२ अङ्गुल भाग चारों ओर छोड़ देना चाहिये। यह क्रम पूर्व से दक्षिण तक होना चाहिए। इस प्रकार ८४ अङ्गुल का लघु चतुरस्र मण्डल साकार हो उठेगा ॥ ६ ॥

---

१. क० पु० ददेत्सूत्रमिति पाठः।

२. क० पु० वेदाश्रिते त्रिहस्ते इति, ख० पु० एवमस्य त्रिहस्तस्य प्राक् इति पाठान्तरं च।

गुणाङ्गुलसमैर्भागैः शेषमस्य विभाजयेत् ।
त्र्यङ्गुलैः कोष्ठकैरूर्ध्वैस्तिर्यक् चाष्टद्विधात्मकैः ॥ ७ ॥

द्वौ द्वौ भागौ परित्यज्य पुनर्दक्षिणसौम्यगौ ।
ब्रह्मणः पार्श्वयोर्जीवाच्चतुर्थात्पूर्वतस्तथा ॥ ८ ॥

भागार्धभागमानं तु खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम् ।
तयोरन्तस्तृतीये तु दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः ॥ ९ ॥

जीवे खण्डेन्दुयुगलं कुर्यादन्तर्भ्रमाद्‌बुधः ।
तयोरपरमर्मस्थं खण्डेन्दुद्वयकोटिगम् ॥ १० ॥

गुण (३) और अङ्गुल (५) बराबर आठ सम भाग करने पर ऊपर नीचे के क्रम में ६४ कोष्ठक बनते हैं। ८ को दो से गुणा कर १६ अङ्गुल होते हैं। एक चतुरस्र मण्डल में तोन अङ्गुलों के कोष्ठक १६ से गुणा करने पर ४८ होंगे। यह चतुरस्र बनाने की ही एक विधि हैं ॥ ७॥

चतुरस्र मण्डल की इस आकृति में दक्षिण और उत्तर दो भाग मिटा देना चाहिये। [1]ब्रह्मबिन्दु और जोवरेखा पर्यन्त के विषय में यह ध्यान देना चाहिये कि, ब्रह्म बिन्दु के दोनों पार्श्व तथा जीव बिन्दु से चतुर्थ पर्यन्त भागार्ध मान बिन्दु से तिर्यक् रेखा देने से खण्ड रूप दो चाँदों की आकृतियां[2] उभर आती हैं ॥ ७-८ ॥

ब्रह्म बिन्दु से अन्तर में दो कोष्ठक मिटा दिये गये हैं। अब तीसरे कोष्ठक से तृतोय रेखा के पार्श्वों में ये चन्द्र उभरते हैं। अन्तर्भ्रमि सूत्र से होती है। जीव रेखा से अन्तर्भ्रमि द्वारा हो ये दोनों चाँद आकार ग्रहण करते हैं। इन दोनों के भी जो [3]मर्म हैं, उनसे इन्दु-खण्डों के अग्रभाग से सम्पर्क रेखा द्वारा ही हो पाता है ॥ ९-१० ॥

---

१. श्रोत० ३१।११;   २. तदेव ३१।१३;
३. तदेव ३१।१४

बहिर्मुखभ्रमं[1] कुर्यात् खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम् ।
तद्वद्ब्रह्मणि कुर्वीत [2]भागभागार्धसंमितम् ।। ११ ।।

ततो द्वितीयभागान्ते ब्रह्मणः पार्श्वयोर्द्वयोः ।
द्वे रेखे पूर्वगे नेये भागत्र्यंशशमे बुधैः ।। १२ ।।

एकार्धेन्दूर्ध्वकोटिस्थं[3] ब्रह्मसूत्राग्रसंगतम् ।
सूत्रद्वयं प्रकुर्वीत मध्यशृङ्गप्रसिद्धये ।। १३ ।।

तदग्रपार्श्वयोर्जीवात्सूत्रमेकान्तरे [4]श्रितम् ।
आदिद्वितीयखण्डेन्दुकोणात्कोणान्तमाश्रयेत् ।। १४ ।।

इनमें बहिर्मुख भ्रमि से दो इन्दुओं की तरह दूसरे इन्दुद्वय भी आकार ग्रहण करते हैं। इसी तरह ब्रह्म रेखा के भी भागार्धार्ध किये जाते हैं। यह मण्डल की पृथक् प्रक्रिया है ।। ११ ।।

तत्पश्चात् ब्रह्मरेखा के दोनों पार्श्व में पूर्व की ओर जाने वाली दो रेखाओं का प्रणयन करना चाहिये। यह प्रक्रिया द्वितीय भागान्त में पूरी की जाती है। वे दोनों रेखायें वहीं तक जानी चाहिये, जहाँ त्र्यंशभाग का शमन अर्थात् अन्त होता है ।। १२ ।।

अर्ध इन्दु के एक ओर का भाग जो ऊर्ध्व की ओर पड़ता है। उसके अग्र-भागस्थ बिन्दु से ब्रह्मसूत्र के अग्रभाग से सङ्गति कर दो सूत्रों से वहाँ रेखा उभारने पर दोनों के मध्य में मध्य शृङ्ग की आकृति बन जाती है[5] ।। १३ ।।

जीव[6]संज्ञक रेखा, [7]ब्रह्मबिन्दु और अर्धेन्दुद्वय[8] आदि शब्द उस समय की ज्यामिति शास्त्र में प्रयुक्त होते थे। मण्डल रचना भी ज्यामितिक रचना है। जीवरेख जीवसूत्र से और ब्रह्मरेखा ब्रह्म से बनती थीं। (इस सम्बन्ध में मैंने श्रीतन्त्रालोक के ३१वें आह्निक में जो कुछ लिखा है अथवा यहाँ जो लिखने का प्रयास कर रहा हूँ, सब ऊहात्मक है। इसकी यथार्थता के लिये तान्त्रिक याज्ञिकों

---

१. क० पु० मुखं भ्रममिति पाठः ।
२. क० पु० भागार्धेति पाठः ।
३. क० पु० एकार्धेन्द्वर्धेति पाठः ।
४. ख० पु० वृतमिति पाठः ।
५. श्रीत० ३१।६८-६९;
६. तदेव ३१।६४;
७. तदेव ३१।११ ;
८. तदेव ३१।१३

तयोरेवापराज्जीवात्प्रथमार्धेन्दुकोणतः ।
तद्वदेव नयेत्सूत्रं शृङ्गद्वितयसिद्धये ।। १५ ।।
क्षेत्रार्धे [1]चापरे दण्डो द्विकरश्छन्नपञ्चकः ।
द्विकरं पञ्च तद्भागाः पञ्चपीठतिरोहिताः ।। १६ ।।
शेषमन्यद्भवेद्दृश्यं पृथुत्वाद्भागसंमितम् ।
षड्विस्तृतं चतुर्दीर्घं तदधोऽमलसारकम् ।। १७ ।।

की एक समिति बननी चाहिये। तभी इसका सही निर्णय हो सकता है।) यह प्रक्रिया प्रचलन में नहीं है। जो है, उसके लिये आचार्य को ही प्रमाण मानना चाहिये। इसी क्रम में दूसरी जीव रेखा से प्रथम अर्धेन्दु के कोण से द्वितीय खण्डेन्दु कोण के अन्त में रेखा खींचनी चाहिये[2] ।। १४ ।।

दूसरे शृङ्ग की रचना से सम्बन्धित इस कारिका में जीवसंज्ञक दूसरी रेखा जहाँ प्रथम अर्धेन्दु का कोण है, वहाँ से उसी प्रकार पूर्वापर रेखाओं से शृङ्ग आकार ग्रहण करता है ।। १५ ।।

ऊपर के जितने विधान हैं वे ऊपर के क्षेत्रार्ध के हैं, जिनमें मध्यशृङ्ग और उभय पार्श्वशृङ्ग तथा खण्ड-चन्द्रद्वय निर्माण की चर्चा की गयी है। यहाँ क्षेत्रार्ध के अन्य भाग के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है। इसमें प्रयुक्त कुछ शब्दार्थ इस प्रकार हैं[3]—

१. द्विकरः—दो हाथ। ये दो हाथ यह याद दिलाते हैं कि, कुल मण्डल चार हाथ का था। ऊर्ध्व भाग के दो हाथों के वर्णन के बाद यह द्विकर शब्द प्रयुक्त है।

२. छन्न पञ्चक—शृङ्ग निर्माण में दण्ड रचना भी एक अङ्ग हैं। इसमें पाँच गाठें जो छन्न हों वे निर्दिष्ट हैं।

३. पञ्चपीठतिरोहिता—ये गाँठें पाँच पीठों से तिरोहित रहती हैं। ऊपर का भाग दृश्य होता है ।। १६ ।।

दण्ड संरचना पृथक् नहीं होती अपितु रेखाओं के निर्माण के साथ ही बनता जाता है। इसे पृथुरूप होने के कारण दृश्य माना जाता है।

---

१. ख० पु० चापरे कुर्याद्दण्डमस्य यथा शृणु, इति पाठान्तरं वर्तते ।
२. श्रीत० ३१।७०-७१; ३. ३१।१६

वेदाङ्गुलं च तदधो मूलं तीक्ष्णाग्रमिष्यते ।
आदिक्षेत्रस्य कुर्वीत दिक्षु द्वारचतुष्टयम् ॥ १८ ॥
हस्तायामं तदर्धं तु विस्तारादपि तत्समम् ।
द्विगुणं[1] बाह्यतः कुर्यात्ततः पद्मं यथा शृणु ॥ १९ ॥
एकैकभागमानानि कुर्याद्वृत्तानि वेदवत् ।
दिक्ष्वष्टौ पुनरप्यष्टौ जीवसूत्राणि षोडश ॥ २० ॥

---

४. षड्विस्तृत—यह षट् शब्द भी छः गाठों की ओर ही संकेत करता है ।

५. चतुर्दीर्घ—इस शब्द से यह प्रतीत हो रहा है कि, पूरे चार हाथ की उँचाई की ही दण्ड रचना भी होती थी ।

६. अमलसारक—ठोस गाँठ वाला निचला भाग पीपल के पत्ते की तरह का नीचे नुकीला होता है । उसे अमलसारक गाँठ कहते हैं ॥ १७ ॥[२]

उसी अमलसारक भाग को वेदाङ्गुल अर्थात् चार अङ्गुल का मानते है । दण्ड का अधोभाग तीक्ष्णाग्र अर्थात् नुकीला ही बनाया जाता है ताकि वह भाग भूभाग में जम कर स्थिर रह सके । समचतुर्भुज मण्डल के चारों आदि रेखाओं के मध्य में चार द्वार रचना भी अनिवार्य है[३] ॥ १८ ॥

एक हाथ आयाम लेकर अथवा एक बालिस्त का ही आयाम लेकर जो दीर्घ-विस्तार दोनों में सम हो, रचना का ध्यान रखकर बाह्य रेखाओं पर दिशाओं के द्विगुण अर्थात् १६ पद्मवृत्त कैस बनते हैं—इसकी जानकारी भगवान् दे रहे हैं और उसे सुनने का भी निर्देश दे रहे हैं[४] ॥ १९ ॥

सर्व प्रथम एक-एक भाग मान वाले चार वृत्त निर्मित करना चाहिये । दिशाओं की दृष्टि से ये आठ और जीवसूत्र की विधि से सोलह हो जाते हैं[५] ॥ २० ॥

---

१. ग० पु० द्विगुणं बाह्यमर्धं चेति पाठः ।

२. श्रीत० ३१।७१ ; ३. तदेव ३१।७२ ;

४. तदेव ३१।७३-७४ ; ५. तदेव ३१।७४-७५

द्वयोर्द्वयोः पुनर्मध्ये तत्संख्यातानि पातयेत् ।
एषां[1] तृतीयवृत्तस्थं पार्श्वजीवसमं [2]भ्रमम् ॥ २१ ॥
एतदन्तं प्रकुर्वीत ततो जीवाग्रमानयेत् ।
यत्रैव कुत्रचित्सङ्गस्तत्संबन्धे स्थिरीकृते ॥ २२ ॥
तत्र कृत्वा नयेन्मन्त्री पत्राग्राणां प्रसिद्धये ।
एकैकस्मिन्दले कुर्यात्केसराणां त्रयं त्रयम् ॥ २३ ॥
द्विगुणाष्टाङ्गुलं[3] कार्यं तद्वच्छृङ्गकजत्रयम् ।
ततः प्रपूजयेन्मन्त्री रजोभिः सितपूरकैः ॥ २४ ॥

वृत्तों के मध्य बिन्दु से मध्य वृत्त बनाने पर पद्म पत्र बनते जाते हैं। सूत्र के पात की विधि से अच्छा परकाल विधि जो वर्त्तमान में प्रचलित है, इससे पद्मपत्र सुन्दर बनते हैं। बीच में १६ वृत्त बन जाते हैं। परकाल विधि से पेन्सिल द्वारा इनकी रचना करने पर जीव-सूत्र पात के माध्यम से रचना करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। पहले दूसरे वृत्तों के बाद तृतीय वृत्त के पार्श्व में जीव-रेखाभ्रमि का प्रभाव कैसा होता है, आचार्य को एतद्विषयक सावधानी बरतनी चाहिये[4] ॥ २१ ॥

इस प्रकार पूरी रचना जीवसूत्र के माध्यम से कर लेने पर अन्त में जीवाग्र भाग का आनयन बीच में दबाव देकर केन्द्र तक लाना चाहिये। वहाँ ले आकर पूरी पद्मपत्र रचना सम्पन्न हो जाती है। इस रचना से मण्डल रचना की पूर्त्ति और उसकी स्थिरता भी आ जाती है[5] ॥ २२ ॥

उस समस्त विधि-विधान को सम्पन्न कर लेने के उपरान्त मन्त्री साधक शिष्य पत्राग्र की संरचना में प्रवृत्त होकर एक-एक दल में केशर के लिये सूत्र से या परकाल से तीन-तीन रेखायें बनाये। ऊर्ध्व कोष्ठक से सम्बन्धित पत्राग्र रचना का यही निर्देश उसकी स्वाभाविकता के लिये आवश्यक[6] है ॥ २३ ॥

शृङ्गों पर कमल की संरचना में दल सहित उसके मान की चर्चा यहाँ की गयी है। कारिका के अनुसार इसका मान १६ अङ्गुल होना चाहिये। कमलों

१. ग० पु० एषु तृतीयेति पाठः।
२. क० पु० भ्रमादिति पाठः।
३. क० पु० द्विगुणाऽष्टवर्लामिति पाठः।
४. श्रीत० ३१।७६ ;
५. तदेव ३१।७७ ;
६. तदेव ३१।७८

रक्तैः कृष्णैस्तथा पीतैर्हरितैश्च विशेषतः ।
कर्णिका पीतवर्णेन मूलमध्याग्रदेशतः[1] ॥ २५ ॥

सितं रक्तं तथा पीतं कार्यं केसरजालकम् ।
दलानि शुक्लवर्णानि प्रतिवारणया सह ॥ २६ ॥

पीतं तद्वच्चतुष्कोणं [2]कर्णिकार्धसमं बहिः ।
सितरक्तपीतकृष्णैस्तत्पादान्वह्नितः क्रमात् ॥ २७ ॥

चतुर्भिरपि शृङ्गाणि त्रिभिर्मण्डलमिष्यते ।
दण्डः स्यान्नीलरक्तेन पीतमामलसारकम् ॥ २८ ॥

को 'शृङ्ककज' कहते हैं। दलाग्र और उसमें केशरत्रय की संरचना से उसमें आकर्षण आ जाता है[3] ॥ २४ ॥

इसके बाद साधक रङ्गों से ऐसी सज्जा तैयार करे जो श्वेत रङ्ग के पूरक बनकर सुन्दरता में चमत्कार भर दें। इसके लिये उसे रक्त-पीत-हरित और कृष्णवर्णी रङ्गों का प्रयोग करना चाहिये। विशेष रूप से यह ध्यान देना चाहिये कि कर्णिका पीतवर्ण से रंगी जाय। यह भी आवश्यक है कि मूल, मध्य और अग्रभागीय केशरों को सित, रक्त और पीत वर्णों से रँगा जाय। प्रायः दल प्रतिवारणा रेखा (चिह्नित रेखा से पृथक् करने वाली) से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं ॥ २५-२६ ॥

इसी प्रकार चारों कोने भी पीतवर्णी हों। कर्णिका का अर्धभाग बाहर रह सकता है। अग्निकोण से रंगों का क्रम भी निम्नवत् रह सकता है। यथा-अग्नि-कोण-सितवर्ण, ईशान-रक्तवर्ण, वायव्य-पीतवर्ण और नैर्ऋत्य-कृष्णवर्ण। यह चतुर्वर्णी चतुष्कोण मण्डल रचना को आकर्षण से भर देता है ॥ २७ ॥

दण्ड और शृङ्ग का आधाराधेय सम्बन्ध है। पूरा दण्ड जहाँ नील-रक्ताभ होगा, वहीं चार शृङ्ग रङ्गों से और मण्डल में तीन रङ्गों का प्राधान्य होता है। यह भी आवश्यक है कि, दण्ड का अमलसारक अंश (नीचे की गाँठ) जो नुकीली होती है, वह पीले रङ्गों से रंगी जाय ॥ २८ ॥

---

१. क० पु० मध्याग्रभेदत इति पाठः ।

२. ग० पु० कर्णिकारसममिति पाठः ।

३. श्रीत० ३१।७८

रक्तं शूलं प्रकुर्वीत यत्तत्पूर्वं प्रकल्पितम् ।
पश्चाद्द्वारस्य पूर्वेण त्यक्त्वाङ्गुलचतुष्टयम् ॥ २९ ॥

द्वारं वेदाश्रि वृत्तं वा सकीर्णं वा विचित्रितम् ।
एकद्वित्रिपुरं तुल्यं सामुद्गमथ वोभयम् ॥ ३० ॥

कपोलकण्ठशोभोपशोभादिबहुचित्रितम् ।
विचित्राकारसंस्थानं वल्लीसूक्ष्मगृहान्वितम् ॥ ३१ ॥

शूल भाग रक्तावर्णी हो। यह पहले भो इसी तरह का होना वर्णित है। इसके बाद द्वार के सम्बन्ध का भी विचार कर यह निर्धारित करना चाहिये कि द्वार कहाँ-कहाँ हो ? पूर्व में ४ अङ्गुल भाग छोड़ देना चाहिये ॥ २९ ॥

द्वार वेदाश्रि अर्थात् चतुष्कोण अथवा वृत्त मेहराबदार बनाये जाते हैं। ये शास्त्र सम्मत निर्मितियाँ हैं। यह संकोर्ण पद्धति से भी निर्मित होतो हैं या अन्य आकृतियाँ भो गृहीत को जा सकतो हैं। विचित्र रचनाओं के प्रकारों से मण्डप-रचनाकार परिचित होते हैं। द्वार को सजाने की दृष्टि से एक रङ्ग, दो रङ्गों या तीन-चार रंगों का प्रयोग भी करते हैं। इसे 'पूरना' कहते हैं। जनपदोय क्षेत्रों में नापित, उनकी पत्नियाँ, या घर को स्त्रियाँ भी चौक पूरती हैं। इसमें मूँग का प्रयोग कर सामुद्गिक रङ्ग लाने का प्रयत्न करते हैं, या नोल रङ्ग से लहरातो रचना करते हैं। अथवा दोनों विधाओं के प्रयोग भो कर लेते हैं ॥ ३० ॥

मण्डल रचना के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि, यह पिण्ड की रचना के हो अनुकूल रचना होती है। यह मानवीकरण के समान ही है। द्वार में भी कपाल (कपोल), कण्ठ आदि को शोभित करने के उपाय करने चाहिये। द्वार ऐसा लगे जैसे कि कोई हृदय खोलकर स्वागत कर रहा। इसे विचित्र-विचित्र आकार दिये जा सकते हैं। भीतर बाँस को बल्लियों का अथवा लताओं को ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। द्वार के साथ एक छोटा कक्ष भी हो तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसे शास्त्र की भाषा में 'सूक्ष्मगृह' भो कहते हैं। यह सूक्ष्मगृह द्वार से हो सम्बद्ध होता है[1] ॥ ३१ ॥

---

१. श्रीत० ११।८३-८५

एवमत्र सुनिष्पन्ने गन्धवस्त्रेण मार्जनम् ।
कृत्वा स्नानं प्रकुर्वीत पूर्वोक्तेनैव [1]वर्त्मना ॥ ३२ ॥
प्रविश्य पूर्ववन्मन्त्री उपविश्य यथा पुरा ।
न्यस्य पूर्वोदितं सर्वं पञ्चधा भैरवात्मकम् ॥ ३३ ॥
उत्तरे विन्यसेच्छृङ्गे देवदेवं नवात्मकम् ।
मध्ये भैरवसद्भावं दक्षिणे रतिशेखरम् ॥ ३४ ॥
रक्तत्वङ्मांसमूत्रैस्तु वामकर्णविभूषितम् ।
बिन्दुयुक्तं प्रमेयोतं रतिशेखरमादिशेत् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार मण्डल रचना के साथ-साथ द्वार की शोभादायक निर्मितियों से जनता का आकर्षण बढ़ जाता है। इतना करने के बाद गन्ध-वस्त्र से वहाँ की सफाई करनी चाहिये। सुगन्धित हम्माम में वस्त्र डालकर उसे सुखा लेने पर ही वह वस्त्र 'गन्ध-वस्त्र' कहलाता है। इतनी तैयारी कर साधक पुनः आवश्यक स्नान करता है, और इसमें भी पूर्वोक्त विधि ही अपनायी जाती है ॥ ३२ ॥

स्नानोपरान्त मन्त्री पुनः मण्डल में पूर्ववत् प्रवेश करें। अपने निर्धारित स्थान पर बैठे। पहले कहे हुए न्यासों से स्वयं को न्यस्त कर अपनी दिव्यता का संवर्धन कर लेना चाहिये। पञ्चधान्यास[2] करने के उपरान्त स्वात्म में भैरवभाव का आकलन करना श्रेयस्कर होता है ॥ ३३ ॥

उत्तर शृङ्ग में नवात्मक देवाधिदेव का विन्यास करना चाहिये। मध्य शृङ्ग में भैरवसद्भाव का विन्यास आवश्यक है और दक्षिण शृङ्ग में रतिशेखर को प्रतिष्ठा होनी चाहिये। [3]नवात्मक देव प्रकृति पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश और सदाशिवमय माने जाते हैं। [4]भैरवसद्भाव मन्त्ररूप देव माने जाते हैं। रतिशेखर[5] मन्त्र का वर्णन तन्त्र-शास्त्रों में वर्णित हैं ॥ ३४ ॥

रतिशेखर मन्त्र का वर्णन कूट शब्दों के माध्यम से इस कारिका में किया गया है। रक्त (र), त्वक् (य), माँस (ल), मूत्र (व), वामकर्ण (ऊ) बिन्दु युक्त प्रमेयोपेत ये पाँच वर्ण बीजमन्त्र बन जाते हैं। नववर्णात्मक[6] बीज को भी रतिशेखर कहते हैं ॥ ३५ ॥

१. ग० पु० वर्मणेति पाठः । २. मा० वि० ८।४७ ;
३. स्वच्छन्दतन्त्र ५।११ ; ४. श्रीत० ३०।१६-१७;
५. तदेव ३०।१०-११ ; ६. तदेव ३०।११-१२

शाक्तं च पूर्ववत्कृत्वा तर्पयेत्पूर्ववद्बुधः ।
पुनरभ्यर्च्य देवेशं भक्त्या विज्ञापयेदिदम् ।। ३६ ।।

गुरुत्वेन त्वयैवाहमाज्ञातः परमेश्वर ।
अनुग्राह्यास्त्वया शिष्याः शिवशक्तिप्रचोदिताः ।। ३७ ।।

तदेते[1] तद्विधाः प्राप्तास्त्वमेषां कुर्वनुग्रहम् ।
मदीयां तनुमाविश्य येनाहं त्वत्समो भवन् ।। ३८ ।।

करोम्येवमिति प्रोक्तो हर्षादुत्फुल्ललोचनः ।
ततः षड्विधमध्वानमनेनाधिष्ठितं स्मरेत् ।। ३९ ।।

इतनी प्रक्रिया पूर्ण करने के उपरान्त समस्त शाक्त विधियाँ पूरी कर आचार्य तर्पण की व्यवस्था करें। इसके बाद शिव की पूजा करनी चाहिये। भक्तिभाव से ओत प्रोत होकर यह विज्ञापित करना चाहिये—

"हे परमेश्वर[2]! तुम्हारी आज्ञा से अनुशासित होकर इस प्रकार के याज्ञिक कर्म में प्रवृत्त हुआ हूँ। भगवन्! ये शिष्य भी तुम्हारे अनुग्रह के अधिकारी हैं। इन पर अनुग्रह करें। इससे मैं भी अनुगृहीत हो जाऊँगा। ये सभी शिष्य आप और आपकी शक्ति से प्रेरित होकर ही यहाँ आये हैं। ये यहाँ शरणागत रूप में हैं। इन्हें आपका ही आश्रय है। भगवन्! आप इन पर अनुग्रह करें। इसके लिये मुझ आचार्य के शरीर में प्रवेश करें। इससे मैं आपका ही प्रतिरूप हो जाऊँगा, इनके ऊपर मैं ही आपके अनुग्रह की वर्षा करूँगा।" इस प्रकार की आचार्य की प्रार्थना से भगवान् प्रसन्न होकर आचार्य में प्रवेश कर जाते हैं। वह हर्ष से विह्वल हो उठता है। उसकी आँखें खिल उठती हैं। अब वह शिष्य वर्ग को देखकर यह सोचता है कि, इन पर षडध्व-न्यास भी किया जा चुका है। यह स्मरण कर वह प्रसन्न हो जाता है ।। ३६-३९ ।।

---

१. क० पु० तदेतद्द्विविधा इति पाठः ।
२. श्रोत० १६।७४

सृष्ट्यादिपञ्चकर्माणि [1]निष्पाद्यान्यस्य चिन्तयेत् ।
शक्तिभिर्जीवमूर्तिः स्याद्द्विधैवास्य परापरा ॥ ४० ॥

मूर्तामूर्तत्वभेदेन[2] मामप्येषानुतिष्ठति ।
करणत्वं प्रयान्त्यस्य मन्त्रा ये हृदयादयः ॥ ४१ ॥

एवंभूतं शिवं ध्यात्वा तद्गतेनान्तरात्मना ।
भाव्यं तन्मयमात्मानं दशधावर्तयेच्छिवम् ॥ ४२ ॥

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्चकृत्यों[3] का निष्पादन दीक्षा में हो जाता है। आचार्य शिव की तरह पाँचों कृत्यों का निष्पादक माना जाता है। इतना करने के बाद अन्य कार्यों के विषय में गुरुदेव को सोचना चाहिये। जीवमूर्त्ति का यह आकार शक्तियों से ही सम्पन्न होता है। परापरा शक्ति ही विशेष रूप से इस प्रक्रिया में प्रमाण हैं ॥ ४० ॥

परापरा शब्द ही दो प्रकार की प्रकल्पनाओं को समाहित करता है— १. परा और २. अपरा प्रकार। इसमें प्रथम प्रकार अमूर्त्त और दूसरा मूर्त्तत्व का अध्याहार करता है। परापरा देवी शक्ति अपने प्रभाव से आचार्य को भी इन दो रूपों में प्रतिष्ठित करती है। इसमें हृदयादि मन्त्र ही साधकतम करण बनते हैं ॥ ४१ ॥

यह सारी महिमा शिव की ही है। इसका ध्यान हमेशा रहना चाहिये। ध्यान से साधक या आचार्य कोई भी तद्गतान्तरात्मा बन सकता है। वस्तुतः अन्तरात्मा की स्वरूपावस्था शिवत्व से ही अनुप्राणित होती है। ध्यान से स्वरूपोपलब्धि सम्भव है। तभी तन्मयता सिद्ध होती है। तन्मयता से तादात्म्य-भावापत्ति अनायास उपलब्ध होती है। दीक्षा के इस अवसर पर आचार्य यह सब शिष्य को भी स्पष्ट करें और उसमें शिवत्व का दशधा आवर्त्तन करें ॥ ४२ ॥

---

१. ख० पु० निष्पाद्यानानीति पाठः ।

२. क० पु० मूर्त्यमूर्तत्वभेदेन ममाप्येषा इति पाठः ।

३. श्रीत० १६।७७

त्रिःकृत्वा सर्वमन्त्रांश्च गर्भावरणसंस्थितान् ।
सितोष्णीषं ततो बद्ध्वा सप्तजप्तं नवात्मना ॥ ४३ ॥

शिवहस्तं ततः कुर्यात्पाशविश्लेषकारकम् ।
प्रक्षाल्य गन्धतोयेन हस्तं हस्तेन केनचित् ॥ ४४ ॥

गन्धदिग्धो यजेद्देवं साङ्गमासनवर्जितम् ।
आत्मन्यालम्भनं कुर्याद् ग्रहणं योजनं तथा ॥ ४५ ॥

आचार्य जिन मन्त्रों से शिष्य को दीक्षा दे रहा है, वे सारे मन्त्र मूलतः शक्तिगर्भ में कीलित रूप में पहले से ही अवस्थित रहते हैं। उनका उत्कीलन का एक प्रकार है, जिसे कारिका में 'त्रिः कृत्वा' से संकेतित किया गया है। आचार्य इसका ज्ञाता होता है। इस प्रकार शुद्ध मन्त्रों से शिष्य को अन्वित कर अब उसे निष्णात मान लिया जाता है। उसे [1]पगड़ी पहनाया जाता है। उसका रङ्ग श्वेत होना चाहिये। उसके शिर पर उसे बाँधकर नवात्मशिव रूप में उसे भावित कर सात बार उष्णीष मन्त्र का जप करना चाहिये ॥ ४३ ॥

इसके बाद शिवहस्तविधि[2] अपनानी चाहिये। ब्रह्मपञ्चक मन्त्रों से समन्वित, शिव से अधिष्ठित, पाशच्छेद में समर्थ, सबके कल्याण में प्रवृत्त आचार्य शिवहस्त विधि सम्पन्न करता है। वह शिष्य के शिर और हृदय पर हाथ रख कर शिष्य के कल्याण का परामर्श करता है। मन्त्र पढ़ते हुए शिष्य को पाशविमुक्त करने के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। इसी विधि को शिवहस्त विधि कहते हैं। इस विधि के प्रयोग से शिष्य के पाशों का उच्छेद हो जाता है।

गन्ध जल से समन्वित हाथ से अपने दक्षहस्त को प्रक्षालित कर गन्धदिग्ध होकर आसन रहित साङ्ग परमेश्वर शिव का यजन करे। इसके तुरत बाद शिष्य को स्वात्मयोजित करे। ग्रहण-वियोजन दोनों कार्य स्वयं गुरुदेव ही सम्पन्न करें ॥ ४४-४५ ॥

---

१. श्रीत० १६।७८ ;
२. श्रीत० १७।३१, १६।७९

वियोगं च तथोद्धारं पाशच्छेदादिकं च यत्।
एवं पतित्वमासाद्य प्रपञ्चव्याप्तितः शिवम् ॥ ४६ ॥

भावयेत्पृथगात्मानं तत्समानगुणं ततः।
मण्डलस्थोऽहमेवायं साक्षीवाखिलकर्मसु ॥ ४७ ॥

होमाधिकरणत्वेन वह्नावहमवस्थितः।
आयागान्तमहं कुम्भे संस्थितो विघ्नशान्तये ॥ ४८ ॥

शिष्यदेहे च तत्पाशविश्लेषत्वप्रसिद्धये।
साक्षात्स्वदेहसंस्थोऽहं कर्तानुग्रहकर्मणः ॥ ४९ ॥

आचार्य यहाँ शिव की भूमिका का ही निर्वाह करता है। वह शिष्य सत्ता को स्वात्मसत्ता में मिलाकर उसे आत्मवत् विशुद्ध बनाकर अपने से वियुक्त कर उसका उद्धार कर देता है। शिष्य के पाशों का उच्छेद वह पहले कर ही चुका होता है। जैसे वह स्वयं शिव ही बन गया हो। पाशबद्ध ही पशु होता है। पाश रूप बन्धन खोलना पशुपति के ही अधिकार क्षेत्र में आता है। शिष्य के पाशोच्छेद के कारण गुरु में भी पतित्व स्फुरित होता है। यही पतित्वासादन व्यापार है।

इस प्रकार सारे प्रपञ्चों में व्याप्ति की भावना से भावित आचार्य स्वात्म में शिवत्व का श्रद्धापूर्वक भावन करें। शिव के समस्त गुण धर्म से अपने को विभूषित समझ कर वह यह अनुभव करें कि, मैं स्वयं मण्डलस्थ शिव हूँ। यहाँ सम्पादित होने वाले समस्त कार्यों का साक्षी हूँ ॥ ४६-४७ ॥

यज्ञकुण्ड में अग्निदेव की प्रतिष्ठा स्वाभाविक है। आचार्य यह भी भावन करें कि, होम के अधिकरण से सम्पन्न अग्नि में शिव रूप से मैं ही व्याप्त हूँ। इस वरुण कुम्भ में याग की पूर्णता पर्यन्त मैं स्वयं शिव बनकर विघ्न शान्ति के लिये उपस्थित हूँ ॥ ४८ ॥

शिष्य के शरीर से पाशविश्लेष की प्रसिद्धि के लिये मैं स्वयं साक्षात् शिव स्वरूप आचार्य हूँ, मैं स्वयं प्रमाणरूप से विद्यमान हूँ। मैं अनुगृहीत साधक के सभी कर्मों का साक्षी स्वयं शिव ही हूँ ॥ ४९ ॥

इत्येतत्सर्वमालोच्य [1]शोध्याध्वानं विचिन्तयेत् ।
दीक्षां येनाध्वना मन्त्री शिष्याणां कर्तुमिच्छति ॥ ५० ॥
तत्रैवालोचयेत्सर्वं यायात्पदमनामयम् ।
तत्र तेनापृथग्भूत्वा पुनः संचिन्तयेदिदम् ॥ ५१ ॥
अहमेव परं तत्त्वं मयि सर्वमिदं जगत् ।
अधिष्ठाता च कर्ता च सर्वस्याहमवस्थितः ॥ ५२ ॥
तत्समत्वं गतो जन्तुर्मुक्त इत्यभिधीयते ।
एवं संचिन्त्य भूयोऽपि शोध्यमाद्यं समाश्रयेत् ॥ ५३ ॥

इन सारी बातों का विचार आचार्य को करना चाहिये। अध्वाशोधन की विधि भी उसे ही पूरी करनी होती है। अतः इस विधि को भी उसी समय पूरी कर लें। इसके बाद वह यह सोचे कि, शिष्य को किस अध्वा की दीक्षा देनी उचित है। यहाँ शिष्य की स्तरीय योग्यता का विचार आवश्यक होता है ॥ ५० ॥

वह शिवस्वरूप आचार्य स्वयं उसको कौन सी दीक्षा देने का विचार रखता है, इस पर भी विचार अपेक्षित है। उसे यह ध्यान देना चाहिये कि, शिष्य अनामय पद की प्राप्ति कैसे करे? शिष्य अनामय पद की ओर कैसे अग्रसर होगा यह उत्तरदायित्व आचार्य का ही होता है। अतः तन्मय भाव से उससे अपृथक् अनुभव करते हुए पुनः सोचे[2] ॥ ५१ ॥

उसके सोचने का स्वरूप निर्दिष्ट कर रहे हैं कि, आचार्य अपने को परम तत्त्व रूप में अनुभूत करें। मुझमें ही यह सारा जगत् उल्लसित है। यह सारा जगत् मेरी अन्तरात्मिक व्याप्ति में खिल रहा है। मैं ही इसका अधिष्ठाता परमशक्तिमन्त शिव हूँ। स्वयं मैं इसका कर्त्ता हूँ। मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। सभी में मैं अवस्थित हूँ। इस शाम्भव समावेश में ही वह आविष्ट हो जाये ॥ ५२ ॥

यह कहा जा सकता है कि, कोई भी जीव इस प्रकार के उच्चस्तरीय शाम्भव समावेश में आविष्ट-सिद्ध हो जाने पर मुक्त ही हो जाता है, क्योंकि

---

१. ग० पु० शोध्यात्मानमिति पाठः ।
२. श्रीत० १६।८१-८२

शिष्यमण्डलवह्नीनां तत्रैकं भावयेत्स्थितम् ।
शोध्याध्वानं तु शिष्याणां न्यस्य देहे पुरोक्तवत् ॥ ५४ ॥
स्वेन स्वेनैव मन्त्रेण स्वव्याप्तिध्यानमाश्रयेत् ।
आगन्तु सहजं शाक्तं बद्ध्वादौ पाशपञ्जरम् ॥ ५५ ॥
बाहुकण्ठशिखाग्रेषु त्रिषु(वृत्)त्रिगुणतन्तुना ।
स्वमन्त्रेण ततस्तत्त्वमावाह्येष्ट्वा[1] प्रतर्प्य च ॥ ५६ ॥

वह उसके समत्व को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का चिन्तन जो भक्त करते हैं, वे धन्य हैं—यह सब आचार्य भी सोचता है। इसके बाद वह आद्य शोध्य का आश्रय ग्रहण करता है ॥ ५३ ॥

एक और कार्य यहाँ करना चाहिये। वहाँ आचार्य के सामने शिष्य रहता है। पूरा मण्डल रहता है और कुण्ड में प्रतिष्ठित अग्निदेव भी रहते हैं। इन तीनों को एक शिवरूप में देखने के उच्चतम समरस भाव में ही इनका ऐक्य अनुभूत होता है। इस प्रकार भावन कर अध्वा का शोधन कर शिष्यों के शरीर में उसका न्यास करना चाहिये ॥ ५४ ॥

आचार्य शिष्यों को जिन-जिन मन्त्रों से दीक्षित करता है, उन-उन मन्त्रों के माध्यम से ही स्वात्म व्याप्ति का ध्यान करना चाहिये। प्रारम्भ में ही यह आवश्यक है कि, शिष्य आगन्तुक, सहज और शाक्त नामक पाशों के पिञ्जर को आबद्ध करें। महामाहेश्वर अभिनव गुप्त ने इस विषय में कहा है कि, गुरु के ध्यान मात्र से ही पाशों की राशि[2] भस्म हो जाती है ॥ ५५ ॥

शरीर के तीन स्थानों क्रमशः बाहु, कण्ठ और शिखाग्र में अपने मन्त्र के तिगुने आसूत्रण कर अर्थात् तीन बार लगातार जप करके पाशों को आबद्ध कर दें। इसके बाद परमतत्त्व का आवाहन कर उसका यजन और तर्पण करें ॥ ५६ ॥

---

१. क० पु० आवाह्याश्वा प्रतर्प्येति पाठः ।
२. श्रीत० १६।२३८; 'पाशजालं विलीयेत तद्ध्यानबलतो गुरोः' ।

ततस्तच्छोध्ययोनीनां व्यापिनीं योनिमानयेत् ।
मायान्तेऽध्वनि तामेव शुद्धे विद्यां विचक्षणः ॥ ५७ ॥
तस्यां संतर्पणं कृत्वा शिष्यमस्त्रेण ताडयेत् ।
आलभ्य हृदये विद्वाञ्छिवहस्तेन तं पुनः ॥ ५८ ॥
ग्रहणं तस्य कुर्वीत रश्मिमात्रावियोगतः ।
नाडीमार्गेण गत्वा तु हंहृन्मन्त्रपुटीकृतम् ॥ ५९ ॥
कृत्वात्मस्थं ततो योनौ गर्भाधानं विचिन्तयेत् ।
त्र्यर्णार्धाक्षरया[1] मन्त्री सर्वगर्भक्रियान्वितम् ॥ ६० ॥
भोग्यभोक्तृत्वसामर्थ्यनिष्पत्त्या जननं बुधः ।
दक्षभ्रूङ्गस्थया मन्त्री प्रकुर्वीत सुलोचने ॥ ६१ ॥

जिस तत्त्व का आवाहन, यजन और तर्पण किया गया है, उसे शोध्य-योनियों के मध्य व्यापिनी योनि में लाना चाहिये। व्यापिनी भूमि में भी उसका यजन, तर्पण कर माया के अन्त में अवस्थित शुद्ध विद्या भूमि में ले आवें। वहाँ उसका सन्तर्पण करें। तत्पश्चात् अस्त्र मन्त्र से शिष्य का ताडन करें। पुनः शिष्य का आलिङ्गन करें। तदनन्तर उसके हृदय में शिवहस्त विधि के प्रयोग के अनुसार स्पर्श कर शिष्य को अस्तित्वगत रूप से ग्रहण कर लें। यह ग्रहण शारीरिक नहीं होता। वरन् उसके अस्तित्व में उच्छलित शैव रश्मियों के रूप में आत्मसात् करें। उसके सौषुम्न मार्ग से उसके हृदय देश में प्रवेश कर 'हं' के साथ हृदयमन्त्र से सम्पुटित करें ॥ ५७-५९ ॥

अब शिष्य को आत्मस्थ कर लें। जिस तरह योनि-गर्भाधान संस्कार की चर्या में मन्त्र-मुहूर्तादि का विचार करते हैं, उसी तरह शिष्य की सत्तागत शक्ति योनि में उसके नये उदय के उद्देश्य से गर्भाधान का विचार करना चाहिये। गर्भ की सारी क्रिया तीन वर्णयुक्त अर्धाक्षर सहित बीज से करना चाहिये[2] ॥ ६० ॥

इस प्रक्रिया में भोग्य और भोक्तृत्व सामर्थ्य की निष्पत्ति आवश्यक होती है। गर्भाधान के अनन्तर जनन संस्कार तभी सम्पन्न किया जा सकता है। भगवान्

---

१. क० पु० त्र्यर्णाधोर्धाक्षरामिति, क्रियान्वितामिति च पाठः।
२. स्व० तन्त्र २।२०४ (प्रणवपूर्वक पश्चिम-वक्त्रवो जकार युक्त), श्रीत० १७।३६

पिबनीपूर्विकाभिश्च अस्त्राद्यैः परयापि च ।
सम्यगाहुतयो दद्याद्दश पञ्च विचक्षणः ॥ ६२ ॥

ततोऽस्यापरया कार्यं पाशविच्छेदनं बुधैः ।
भुवनेशमथामन्त्र्य तत्त्वेश्वरमथापि वा ॥ ६३ ॥

भोगभागा ··· ··· पश्चात्तमिदमादिशेत् ।
भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया ॥ ६४ ॥

प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम् ।
उत्क्षेपणं ततः कुर्यात्तथैवाध्युष्टवर्णया ॥ ६५ ॥

कहते हैं, देवि पार्वति ! इसको दक्ष-श्रृङ्गस्थ भाव से करना चाहिये। इसका विशेष रूप से अनुपालन होना चाहिये ॥ ६१ ॥

मान्त्रिक अघोर मन्त्र में पिबनी शक्ति का उल्लास अनुभव करता है। उस शक्ति से युक्त अस्त्रादि मन्त्रों सहित परामन्त्र से भी सम्यक् रूप से आहुतियाँ दी जानी चाहिये। 'अग्निगर्भाय नमः' मन्त्र से अर्चन के बाद उक्त मन्त्र से आहुतियाँ दी जाती हैं ॥ ६२ ॥

जनन के बाद नाल-छेदन की क्रिया चर्या में चलती हैं। इस प्रक्रिया में पाशच्छेदन का विधान है। पाशोच्छेदन की क्रिया अपरा मन्त्र से की जाती हैं। इस अवसर पर भुवनेश्वर और तत्त्वेश्वर इन दोनों का आमन्त्रण आवश्यक माना जाता है ॥ ६३ ॥

इस कारिका में 'भोगभागा' के बाद का पाठ खण्डित है। ऊहार्थ प्रकल्पन के अनुसार भोग-भागों का समर्पण करने के अनन्तर आचार्य को उनसे निवेदन करना चाहिये कि, हे भुवनेश ! मैं यह यज्ञ सम्पादित करा रहा हूँ। इसमें शिवत्व के प्रतीक रूप से यह कह रहा हूँ कि यह शिव की ही आज्ञा है।

आपको इस आध्यात्मिक याग में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं करना चाहिये। यह शिव का ही आदेश है। इस सन्दर्भ में तन्त्र यात्रा में प्रवृत्त मन्त्री का अनामय पद सुरक्षित रहना चाहिये। इसके बाद उत्क्षेपण की क्रिया की जानी चाहिये। इसमें भी आचार्य द्वारा साधिकार प्रयुक्त वर्ण समन्वित मन्त्र को ही प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ६४-६५ ॥

अव्याप्तिमन्त्रसंयोगात्पृथङ् मार्गविशुद्धये ।
दद्यादेकैकशो ध्यात्वा आहुतीनां त्रयं त्रयम् ॥ ६६ ॥

ततः पूर्णाहुतिं दद्यात्परया वौषडन्तया ।
शिशुमुत्क्षिप्य चात्मस्थं तद्देहस्थं च कारयेत् ॥ ६७ ॥

आहुतीनां त्रयं दद्याद्दत्त्वा पूर्णाहुतिं बुधः ।
महापाशुपतास्त्रेण विलोमादिविशुद्धये ॥ ६८ ॥

विसर्जयित्वा वागीशीं तत्त्वं तु तदनन्तरम् ।
विलीनं भावयेच्छुद्धमशुद्धे परमेश्वरि ॥ ६९ ॥

कालान्तव्याप्तिसंशुद्धौ कृतायामेवमादरात् ।
बाहुपाशं[1] तु तं छित्त्वा होमयेदाज्यसंयुतम् ॥ ७० ॥

अव्याप्ति मन्त्र संयोग की स्थिति में पृथक् मार्ग-विशुद्धि के लिये एक एक का ध्यान कर तीन तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद पूर्णाहुति करनी चाहिये। यह वौषड् जातियुक्त परामन्त्र से ही की जाती है। तत्पश्चात् शिशुरूप शिष्य को स्वात्मशरीरस्थ करने का भावन करना चाहिये ॥ ६६-६७ ॥

इस क्रिया के तुरन्त बाद तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। पुनः महापाशुपत अस्त्र मन्त्र से विलोम आदि की प्रसिद्धि के लिये पूर्णाहुति प्रक्रिया अपनानी चाहिये ॥ ६८ ॥

तत्पश्चात् वागीशी पराशक्ति का विसर्जन करना चाहिये। वागीशी निवृत्ति[2] व्यापिका शक्ति भी मानी जाती है। इसे विसर्जन करने का अर्थ निवृत्ति कला से ऊपर उठने की स्थिति भी हो सकता है। पुनः यह भावित करना चाहिये कि, अशुद्ध में भी शुद्ध तत्त्व की व्याप्ति हो गयी है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार शुद्धता की व्याप्ति कालान्त पर्यन्त हो जाती है। इससे सम्यक् शुद्धि हो जाती है। अब श्रद्धा पूर्वक बाहु में अवस्थित[3] आगन्तु—पाशका छेदन कर देना चाहिये। इसके लिये घी मिश्रित हवनीय से आहुतियाँ देना शास्त्र से समर्थित विधि के अन्तर्गत आता है ॥ ७० ॥

---

१. ग० पु० बहुपाशमिति पाठः ।
२. स्वच्छन्द तन्त्र ४।१०९ ; ३. मा० वि० ९।५५-५६

मायातत्त्वे विशुद्धे तु कण्ठपाशे तथा बुधः ।
मायान्तमार्गसंशुद्धौ दीक्षाकर्मणि सर्वतः ॥ ७१ ॥
क्रियास्वनुक्तमन्त्रासु योजयेदपरां बुधः ।
विद्यादिसकलान्ते च तद्वदेव परापराम् ॥ ७२ ॥
योजयेन्नैश्वरादूर्ध्वं[1] पिबन्यादिकमष्टकम्[2] ।
न चापि सकलादूर्ध्वमङ्गषट्कं विचक्षणः ॥ ७३ ॥
निष्कले परया कार्यं यत्किंचिद्विधिचोदितम् ।
विशुद्धे सकलान्ते तु शिखां छित्त्वा विचक्षणः ॥ ७४ ॥

इसके बाद माया नामक कण्ठपाश को विशुद्ध करना चाहिये। इससे मायान्त मार्ग की संशुद्धि अनिवार्य रूप से हो जाती है। दीक्षा कर्म को निर्विघ्न पूर्ण करने के लिये यह प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती है ॥ ७१ ॥

जिन क्रियाओं के लिये किसी मन्त्र का निर्देश न हुआ हो, वहाँ अपरामन्त्र का योजन विचक्षण आचार्य को करना चाहिये। विद्या से लेकर सकल पर्यन्त परापरा मन्त्र का योजन होता है ॥ ७२ ॥

मन्त्र प्रयोग की कुछ विशिष्ट बातों का ध्यान आचार्य को रखना चाहिये। पहली बात यह कि, ईश्वर से ऊपर किसी दशा में पिबन्यादि अष्टक का योजन नहीं करना चाहिये। दूसरी बात जिस पर विशेष ध्यान देना है, वह यह कि, सकल से ऊपर षडङ्ग न्यास का योजन शास्त्र विरुद्ध माना गया है ॥ ७३ ॥

निष्कल भाव में केवल परामन्त्र का प्रयोग होता है। यह ध्यान देने का विषय है कि, शास्त्रानुमोदित विधि का ही प्रयोग करना चाहिये, इसके विपरीत नहीं। सकलान्त शोधन कर लेने के उपरान्त आचार्य शिष्य की शिखा का छेदन करे। यह मौन विधि है। अन्तः शिखा जिसकी प्रज्वलित हो जाती है, उसकी बाह्य शिखा प्रदर्शन मात्र रह जाती है। उसके ही छेदन का विधान यहाँ निर्दिष्ट है ॥ ७४ ॥

---

१. क० पु० योजयेच्चैश्वरादिति पाठः ;

२. क० पु० अष्टधेति पाठः

हुत्वा चाज्यं ततः शिष्यं स्नापयेदनुपूर्वतः ।
आचम्याभ्यर्च्य देवेशं स्रुवमापूर्य सर्पिषा ॥ ७५ ॥

कृत्वा शिष्यं तथात्मस्थं मूलमन्त्रमनुस्मरेत् ।
शिवशक्ति तथात्मानं शिष्यं सर्पिस्तथानलम् ॥ ७६ ॥

एकीकुर्वञ्छनैर्गच्छेद्द्वादशान्तमनन्यधीः ।
तत्र कुम्भकमास्थाय ध्यायन्सकलनिष्कलम् ॥ ७७ ॥

तिष्ठेत्तावदनुद्विग्नो यावदाज्यक्षयो भवेत् ।
एवं युक्तः परे तत्त्वे गुरुणा शिवमूर्तिना ॥ ७८ ॥

न भूयः पशुतामेति दग्धमायानिबन्धनः ।
विधिरेष समाख्यातो दीक्षाकर्मणि भौवने ॥ ७९ ॥

आज्याहुति के पश्चात् शिष्य का अभिषेक करना चाहिये। तत्पश्चात् आचार्य स्वयम् आचमन करे। देवाधिदेव की पूजा करे। स्रुवा में सर्पिष् भरकर पूजा आचार्य ही करे ॥ ७५ ॥

अब शिष्य अधिकार सम्पन्न हो जाता है। आचार्य उसे [२]आत्मस्थ करने की प्रक्रिया अपनाता है। इसमें मूल मन्त्र का ही अनुसरण किया जाता है। इस प्रसङ्ग में गुरु शिष्य दोनों शिव, शक्ति, स्वात्म और शिष्य, तथा घी, अनल इन यज्ञाङ्गों का भी ऐक्य साधित करना चाहिये। इस प्रक्रिया में तल्लीन रहते हुए अनन्य भाव-भावित शिष्य और आचार्य द्वादशान्त की साधना-यात्रा की अन्तिम भूमि को प्राप्त करें।

द्वादशान्त में पहुँच कर कुम्भक साध कर सकल-निष्कल सार्वात्म्य का ध्यान करे। शिष्य इस स्थिति में पहुँच कर अनुद्विग्न भाव से शान्तात्मा बनकर अवस्थित रहे। यह क्रिया तब तक चलनी चाहिये, जब तक घी पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाता। शिष्य का यह सौभाग्य है कि, शिवमूर्ति गुरु द्वारा वह परतत्त्व में योजित कर दिया जाता है ॥ ७६-७८ ॥

ऐसा शिष्य जो द्वादशान्त में अनुद्विग्न भाव से कुम्भक में अवस्थित होने की साधना में सिद्ध हो जाता है, पुनः संसृति चक्र में पतित नहीं होता। इसका कारण उसके अस्तित्व से माया ग्रन्थि का विच्छेद ही है। इसीलिये माया निबन्धन

---

२. श्रीत० १७।८८

इतराध्वविधिमुक्त्वा शिवयोगविधिं तथा ।
विलोमकर्म संत्यज्य द्विगुणस्तत्त्ववर्त्मनि ॥ ८० ॥
तद्वच्च वर्णमार्गेऽपि चतुर्धा पदवर्त्मनि ।
अष्टधा मन्त्रमार्गेऽपि कलाख्येऽपि च तद्द्विधा ॥ ८१ ॥
त्रिखण्डे विंशतिगुणः स एव परिकीर्तितः ।
इति सर्वाध्वसंशुद्धिः समासात्परिकीर्तिता ॥ ८२ ॥
साधकाचार्ययोः कर्म कथ्यमानमतः शृणु ॥ ८३ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे क्रियादीक्षाधिकारो नवमोऽधिकारः ॥ ९ ॥

के ज्ञानाग्नि से दग्ध होने का उल्लेख यहाँ किया गया है।[1] यह भौवन दीक्षा का विधान है। इसी का आख्यान यहाँ किया गया है ॥ ७९ ॥

इसके अतिरिक्त इतर अध्वा अर्थात् पदाध्वा इत्यादि की दीक्षा में, भुवन दीक्षा में आख्यात विधि का प्रयोग नहीं होता। एक तरह से इसे छोड़ ही देते है। शिवयोग विधि अर्थात् द्वादशान्त यात्रा का विधान भी नहीं अपनाते। विलोम कर्म में भी जो आहुतियाँ निर्दिष्ट हैं, उनका भी परित्याग कर उन आहुतियों को द्विगुणित कर देना चाहिये। इसी तरह तत्त्वाध्वा में भी द्विगुणित करे। वर्णाध्वा में भी द्विगुणित तथा पदाध्वा में चतुर्गुणित[2] आहुतियाँ देनी चाहिये। मन्त्राध्वा में आठ गुनी और कला के मार्ग में अर्थात् कलाध्वा में सोलह गुणित होनी चाहिये ॥ ८०-८१ ॥

इस तरह त्रितत्त्वों की शोधन प्रयुक्त आहुतियाँ बीस से तीन गुनी अधिक अर्थात् साठ हो जाती हैं। इस तरह क्रमिक रूप से सर्वाध्व संशुद्धि हो जाती है। इसके आगे साधक और आचार्य सम्बन्धी कर्म का क्रम आने वाला है। उसे भी ध्यान पूर्वक श्रवण करना चाहिये ॥ ८२-८३ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य संवलित
क्रियाधिकार-दीक्षा नामक नवम अधिकार पूर्ण ॥ ९ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

---

१. श्रीत० १७।९१ ;
२. श्रीत० १७।११८-१२०

अथ दशमोऽधिकारः

अथ लक्षणसंपन्नं सिद्धिसाधनतत्परम् ।
शास्त्रज्ञं संयतं धीरमलुब्धमशठं दृढम् ॥ १ ॥

अपरीक्ष्य गुरुस्तद्वत्साधकत्वे नियोजयेत् ।
समभ्यर्च्य विधानेन पूर्ववत्परमेश्वरम् ॥ २ ॥

हं्सौः
परमेशमुखोद्भूतं ज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्र 'हंस' कृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्य संवलितम्

दशमोऽधिकारः

[१०]

शास्त्रीय नियम शिष्य की परीक्षा के सम्बन्ध में ढील नहीं देते, किन्तु कुछ ऐसे अपवाद होते हैं, जहाँ इसे शिथिल कर दिया गया है। ऐसे तपे तपाये शिष्य विशिष्ट लक्षणों से गुरुजनों को भी प्रभावित कर लेते हैं। उनके सम्बन्ध में पहली कारिका ही विज्ञापित कर रही है कि, यदि शिष्य १. सिद्धि के साधनों में तत्पर हो, २. शास्त्रज्ञ हो, ३. संयत रहने वाला हो, ४. धीर हो, ५. लोभ और लोलुपता से रहित हो, ६. उदार हो और ७. दृढ़ संकल्पवान् हो, उसे लक्षण सम्पन्न शिष्य की श्रेणी में रखना चाहिये। ऐसे शिष्यों की परीक्षा लेने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

गुरुदेव ऐसा निर्णय करते हैं। विना परीक्षा के ही उसे योग्य शिष्यों की तरह साधना में नियोजित कर लेना चाहिये। साधना विधियों का निर्देश देकर उसे उसमें प्रवृत्त कर देना चाहिये। जब वह उसमें उत्तीर्ण हो जाय, तो अभिषेचन प्रक्रिया से अभिषिक्त करने की तैयारी करनी चाहिये। सर्वप्रथम उसे जैसे पहले

द्वितीये पूर्ववत्कुम्भं हेमादिमयमव्रणम् ।
सर्वत्र मध्यपद्मस्य दक्षिणं दलमाश्रितम् ॥ ३ ॥

नायकानां पृथङ्मन्त्रान्पूजयेत्कुसुमादिभिः ।
तं संतर्प्य सहस्रेण प्रकुर्यादभिषेचनम् ॥ ४ ॥

भद्रपीठे शुभे स्थाप्य श्रीपर्णे दारुनिर्मिते ।
पूर्वामुखमुदग्वक्त्रं स्नातं पुष्पाद्यलङ्कृतम् ॥ ५ ॥

कृतमन्त्रतनुः सम्यक् सम्यक् च कृतमङ्गलः ।
शङ्खभेर्यादिनिर्घोषैर्वेदमङ्गलनिस्वनैः ॥ ६ ॥

सर्वराजोपचारेण कृत्वा तस्याभिषेचनम् ।
सदाशिवसमं ध्यात्वा ततस्तमपि भूषयेत् ॥ ७ ॥

अन्य शिष्यों के साथ किया गया है, उसी तरह परमेश्वर शिव की अर्चना उससे ही सम्पन्न कराना चाहिये । इसमें विधि हीनता नहीं होनी चाहिये ॥ १-२ ॥

दूसरे क्रम में पहले की तरह स्वर्ण आदि से निर्मित, किसी प्रकार की व्रणात्मक विकृति से रहित और मध्य पद्म के दक्षिण दल पर आश्रित कुम्भ की पूर्ववत् पूजा होनी चाहिये । साथ ही कुम्भ कलश पर आवाहित नायकों की उनके पृथक् पृथक् मन्त्रों और कुसुम आदि उपचारों से पूजा होनी चाहिये । इस प्रकार उसे संतर्पण से तृप्त कर उस कुम्भ के अमृतमय दिव्य जल से सहस्राभिषेचन करना चाहिये ॥ ३-४ ॥

इसके बाद दारु निर्मित भद्र पीठ पर, जिसके ऊपर श्रीपर्ण रूप की आकृति को टङ्कित किया हो, उस पर पूर्वाभिमुख बिठा कर उसके शरीर को मन्त्रमय बना देना चाहिये । उसी बैठी हुई अवस्था में उसे पुष्पों से सज्जित कर आकर्षक बनाना भी इस अभिषेक प्रक्रिया का एक अंग है । वह उत्तराभिमुख भी बैठ सकता है । उस अवसर पर माङ्गलिक कृत्य भी होने चाहिये । शङ्ख भेरी आदि वाद्य और वेद-मन्त्रोच्चार से वातावरण को दिव्यरूप प्रदान करना भी अत्यन्त आवश्यक माना जाता है ॥ ५-६ ॥

राजन्य वर्ग के राज्याभिषेक के समय जिन उपचारों से अभिषेचन प्रक्रिया पूरी की जाती है, वे राजकीय जीवन के महत्त्व-पूर्ण उपचार होते हैं । उन्हें

पुनः संपूज्य देवेशं मन्त्रमस्मै ददेद्बुधः ।
पुष्पाक्षततिलोपेतः सजल(श्चे)श्वरं न्यसेत् ॥ ८ ॥
सोऽपि मूर्धनि तं तद्वन्मूर्तिमाश्रित्य दक्षिणाम् ।
अभिषिच्य ततोऽस्त्रेण रुद्रशक्ति प्रकाशयेत् ॥ ९ ॥
स तयालिङ्ग्य तन्मन्त्रं सहस्रेण प्रतर्पयेत् ।
तदा प्रभृति तन्निष्ठस्तत्समानगुणो भवेत् ॥ १० ॥
आचार्यस्याभिषेकोऽयं स ··· मन्त्रविधिं विना ।
किंतु तस्य ··· अधिवासपदान्वितम् ॥ ११ ॥

राजोपचार कहते हैं। ऐसे सभी राजोपचारों से उस शिष्य का अभिषेक करना चाहिये। उसमें सदाशिवत्व का ध्यान करने का निर्देश भगवान् कर रहे हैं। इसके बाद उसे उस रूप में विभूषित भी करना चाहिये ॥ ७ ॥

पुनः देव-देवेश्वर की पूजा कर विचक्षण आचार्य उसे मन्त्र प्रदान करे। पुष्प, अक्षत, तिल, आदि से समन्वित पूजन के उपरान्त जल से संकल्पित पूजन पूरा करे। तत्पश्चात् उसमें ईश्वर का न्यास करना भी आवश्यक है ॥ ८ ॥

शिष्य अपने गुरुदेव की भी उसी तरह पुष्प, अक्षत और तिल आदि से पूजा करे। तत्पश्चात् दक्षिणामूर्त्ति का आश्रय कर अभिषेचन प्रक्रिया में प्रवृत्त होवे। इसके बाद अस्त्र मन्त्र से समन्वित होकर रुद्रशक्ति का प्रकाशन करे। प्रकाशन का तात्पर्य स्वात्म में रुद्र तेज की धारणा कर उसके तैजस रूप के प्रदर्शन से लेना चाहिये ॥ ९ ॥

वह रुद्रशक्ति समावेश सिद्ध अवस्था में रुद्र मन्त्र का एक हजार तर्पण करे। तर्पण को प्रक्रिया से शिष्य की निष्ठा का पोषण होता है। वह तन्निष्ठ हो जाता है। इसका परिणाम भी अत्यन्त महनीय होता है। शिष्य उसी निष्ठा के कारण रुद्र के समान गुण वाला हो जाता है ॥ १० ॥

ऊपर अभिषेचन की जिस प्रक्रिया की चर्चा है, यह उस प्रौढ़ शिष्य रूप साधक की है, जो आचार्य बनता है। वह मन्त्र विधि के विना घटित नहीं होना चाहिये। यहाँ प्रथम पङ्क्ति में टूट ("") के स्थान पर 'न' होना चाहिये। अमन्त्रक अभिषेक निषिद्ध होता है। दूसरी पङ्क्ति में जो टूट है, उस स्थान पर अभिषेक शब्द ही प्रयुक्त होना चाहिये। शिष्य का अभिषेक इस प्रक्रिया के पहले अधिवास की शर्त पर ही किया जाना चाहिये ॥ ११ ॥

एवमेतत्पदं प्राप्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मनाम् ।
साधको मन्त्रसिद्ध्यर्थं मन्त्रव्रतमुपाचरेत् ॥ १२ ॥

एवं कृत्वाभिषेकोक्तं स्नात्वा विद्याधिपं जपेत् ।
लक्षमेकं द[शांशेन त]स्य तर्पणमाचरेत् ॥ १३ ॥

पूर्ववच्चाभिषेकं च कृत्वा ब्रह्मशिरो जपेत् ।
तल्लक्ष्यस्तन्मयो भूत्वा लक्षद्वयमतन्द्रितः ॥ १४ ॥

लक्षद्वयं च रुद्राणीं चतुष्कं तु पुरुष्टुतम् ।
लक्षाणां पञ्चकं देवि महापाशुपतं जपेत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार शास्त्रीय नियमों के पालन करने के फलस्वरूप वह महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व का धनी बन जाता है। अकृतात्मा पुरुषों के लिये वह एक तरह से दुष्प्राप्य ही माना जाता है। साधक-श्रेणी का शिष्य मन्त्रों की सिद्धि के लिये मन्त्रव्रत का आचरण करे ॥ १२ ॥

इस प्रकार अभिषेक विधि का अनुपालन करने के उपरान्त सामान्यतः नित्य क्रियानन्तर स्नान कर 'विद्याराज' मन्त्र[१] का जप करना चाहिये। इस मन्त्र में ह्, क्ष्, म्, ल्, व्, र्, य्, ऊ-ये ८ वर्ण और नादादिव्याप्तिक बिन्दु (ं) का अनुस्वार रूप नवम अर्ण का प्रयोग कर, इस प्रकार नवार्ण मन्त्र का उद्धार करते हैं। इसको जप संख्या १ लाख निर्धारित है। इसका दशांश तर्पण भी करना चाहिये ॥ १३ ॥

पूर्ववत् अभिषेक करने के बाद 'ब्रह्मशिरस्' मन्त्र[२] (एकादशाक्षर) का जप करना चाहिये। इसका लक्ष्य भी ब्रह्मशिरस्कता ही मानी जाती है। इस मन्त्र की जप संख्या दो लाख मानी गयी है। इसके जप के समय मन्त्रतादात्म्यस्थ रहना अत्यन्त आवश्यक है। नितान्त निस्तन्द्र भाव से सजग रहकर यह जप करना चाहिये ॥ १४ ॥

इसी तरह दो लाख 'रुद्राणी' मन्त्र,[३] चार लाख 'पुरुष्टुत्' मन्त्र[४] और पाँच लाख 'महापाशुपत' मन्त्र[५] का जप करना चाहिये ॥ १५ ॥

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र ११८४–८५;
२. श्रीत० ३०।३८;
३. श्रीत० ३०।३९-४० ;
४. तदेव ३०। पृ० ४७, मा० वि ३।६५;
५. मा० वि० ३।६३

सितरक्तपीतकृष्णविचित्राम्बरभूषणः ।
ततः संरक्षितो मन्त्रैरेभिरप्रतिमो भवेत् ॥ १६ ॥
अवाच्यः सर्वदुष्टानां मन्त्रतेजोपबृंहितः ।
एवं चीर्णव्रतो भूत्वा यं साधयितुमिच्छति ॥ १७ ॥
दत्त्वार्घं तस्य लक्षाणां जपेन्नवकमादरात् ।
उत्तमद्रव्यहोमाच्च तद्दशांशेन तर्पणम् ॥ १८ ॥
महाक्ष्मापपलान्याहुरुत्तमादीनि तद्विदः ।
मध्यमे द्विगुणं कृत्वा त्रिगुणं कन्यसेऽपि च ॥ १९ ॥
आज्यगुग्गुलनृस्नेहा महामांससमाः मताः ।
दधिबिल्वपयः पद्माः क्ष्मासमाः परिकीर्तिताः ॥ २० ॥

श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण और मिश्रित अनेक चित्र-विचित्र, छपे-छींट इत्यादि वस्त्रों और ऐसे ही चित्राकार नगजटित आभूषणों से भूषित साथ ही उक्त मन्त्रों से संरक्षित साधक शिष्य एक ऐसी स्तरीयता प्राप्त कर लेता है, जिसका कोई प्रतियोगी नहीं रहता। वह निरुपमेय बन जाता है ॥ १६ ॥

स्वभाव से दुष्ट और जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यवहार करने वाले लोग भी उसके विषय में आदर का ही व्यवहार रखते है। उनकी बुराई नहीं करते। वह मन्त्रों के तेज से तेजस्वी हो जाता है और उसकी प्रज्ञा और प्रतिभा का संवर्द्धन हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त व्रतों का आचरण करने वाला जिस वस्तु की पूर्णता सिद्धि करना चाहता है, उसमें सफल हो जाता है ॥ १७ ॥

कार्य सिद्धि के सन्दर्भ में कुछ बातें अवश्य पालनीय होती हैं, जैसे अर्घ्य और होम आदि। अर्घ्य देने के बाद आदर पूर्वक उत्तम द्रव्यों से होम करना भी सिद्धि का हेतु है। इसकी संख्या नौ लाख तक मानी गयी है ॥ १८ ॥

उत्तम द्रव्यों में जिन पदार्थों की गणना की जाती है, जानकार लोग कहते हैं कि, उन्हें महाक्ष्माप (मदिरा और मीन), पल (मांस) कहते हैं। मध्यश्रेणी में द्विगुण और कन्यस (छोटे या लघु स्तर पर) त्रिगुण प्रयोग अपेक्षित माने जाते हैं ॥ १९ ॥

आज्य (घी), गुग्गुलु और नृस्नेह—ये तीनों पदार्थ महामांस माने जाते हैं। उसके समान इनका प्रयोग करना चाहिये। इसी तरह दधि, बिल्व, दूध तथा पद्म का प्रयोग मदिरा के स्थान पर किया जाता हैं ॥ २० ॥

धात्रीदूर्वामृतामीनाः सम्यगाज्यसमा मताः ।
तिलाद्यैरथ कुर्वीत नवषट्त्रिगुणं क्रमात् ॥ २१ ॥

पूर्वमेवमिमं[1] कृत्वा सिद्धेरर्घं ददेद्बुधः ।
दत्त्वार्धं तु जपेत्तावद्यावत्सिद्धिरभीप्सिता ॥ २२ ॥

लक्षेणैकेन पृथ्वीशः सभृत्यबलवाहनः ।
वशमानीयते देवि द्वाभ्यां राज्यमवाप्नुयात् ॥ २३ ॥

त्रिभिर्निधानसंसिद्धिश्चतुर्भिर्बलसिद्धयः ।
पञ्चभिर्मेदिनी सर्वा षड्भिरप्सरसां गणः ॥ २४ ॥

सप्तभिः सप्त लोकाश्च दशभिस्तत्समो भवेत् ।
पञ्चाशद्भिस्ततो गच्छेदव्यक्तान्तं महेश्वरि ॥ २५ ॥

धात्री (आँवला), दूर्वा (दूब), अमृता (गुडुचि) और मीन—ये द्रव्य आज्यवत् मान्य हैं। इनसे हवन सम्पन्न किया जा सकता है। इनके अभाव में तिल और घी आदि हवनीय पदार्थों से ही नौ गुना, छह गुना, त्रिगुण मात्रात्मक प्रयोग, और जैसा अपेक्षित हो, करना चाहिये ॥ २१ ॥

सर्वप्रथम इन प्रक्रियाओं को सम्पन्न कर लेने के बाद ही विचक्षण आचार्य अर्घ्य प्रदान करे। अर्घ देने के उपरान्त जप की उतनी संख्या को पूरी करे, जितनी में सिद्धि मिले अथवा अपनी अभीप्सित सिद्धि की प्राप्ति हो सके ॥ २२ ॥

सिद्धि के लक्षण में साधक को पृथ्वी की प्राप्ति प्रथम लक्षण मानी गयी है। यदि नौकर-चाकर और वाहनों की उपलब्धि हो जाय तो और भी उत्तम लक्षण है। इससे भी दूने जप से सभी वशीभूत होते हैं और राज्यश्री को उपलब्धि हो जाती है ॥ २३ ॥

त्रिगुण प्रयोग से खजाने की प्राप्ति होती है और कोषाधिपतित्व प्राप्त हो जाता है। चतुर्गुण प्रयोग से सेनाधिपतित्व, पाँच गुने प्रयोग से सारी पृथ्वी, छः गुने प्रयोग से अप्सराओं की भी प्राप्ति हो जाती है ॥ २४ ॥

सात गुने प्रयोग से सातों लोक अपना हो जाता है। दशगुणित प्रयोग से वह स्वयं शिव के समान हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति !

१. ग० पु० पूर्वसेवामिमामिति पाठः

मायान्तं षष्टिभिर्लक्षैरीश्वरान्तमशीतिभिः ।
सकलावनिपर्यन्तं कोटिजप्तस्य सिद्धयति ॥ २६ ॥

अथवा वीरचित्तः स्यात्कृत्वा सेवां यथोदिताम् ।
कृष्णभूतदिने रात्रौ विधिमेनं समाचरेत् ॥ २७ ॥

कृत्वा पूर्वोदितं यागं हुत्वा द्रव्यमथोत्तरम् ।
ऊर्ध्वकायो जपेन्मन्त्री सुनिष्कम्पोत्तरामुखः ॥ २८ ॥

तावद्यावत्समायाता[1] योगेश्वर्यः समन्ततः ।
कृत्वा कलकलारावमतिघोरं सुदारुणम् ॥ २९ ॥

इस विधि के पचास गुने प्रयोग से अव्यक्त पुरुषत्व को उपलब्धि हो जाती है ॥ २५ ॥

साठ लाख हवन से मायान्त अर्थात् शुद्ध विद्या के क्षेत्र में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। यदि कहीं वह अस्सी लाख आहुतियों का प्रयोग कर सके, तो यह निश्चित है कि, वह ईश्वर पद का अधिकारी बन जाता है। एक करोड़ आहुतियों से छत्तीस तत्त्वों का अधिकारी हो जाता है ॥ २६ ॥

उपर्युक्त प्रयोगों को बड़े पैमाने पर सम्पन्न करने वाला पुरुष वीर भाव को प्राप्त कर लेता है। इन सारे कार्यक्रमों और कर्म काण्डों का प्रयोग कृष्ण पक्ष की रात्रियों में सम्पन्न करना अनिवार्यतः आवश्यक है ॥ २७ ॥

ऊपर निर्दिष्ट ये सभी याग महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी आहुतियों को सम्पन्न करने से और आहुतियों में उत्तम द्रव्यों के प्रयोग से उक्त सारी सिद्धियों के प्रयोग की चर्चा की जा चुकी है। इन्हें ऊर्ध्वकाय मुद्रा में प्रयुक्त करना चाहिये। निष्कम्प भाव से अचल रहकर और उत्तर दिशा की ओर मुँह करके सम्पन्न करना श्रेयस्कर होता है ॥ २८ ॥

योगेश्वरी शक्तियाँ साधकों से श्रद्धा की अपेक्षा रखती हैं। साधना के अवसर पर याग भूमि में वे स्वयं पहुँचतीं हैं। भगवान् यहाँ यह निर्देश दे रहे हैं कि, ऐसे अवसर पर साधक या आचार्य को क्या करना चाहिये—

जब तक योगिनी, योगेश्वरी शक्तियाँ वहाँ स्वयम् आकर चारों ओर से साधक या आचार्य को घेरकर बैठ न जाय, साधक शिरोमणि आचार्य की कुछ अपेक्षा

---

१ क० पु० समाख्याता इति पाठः

भूमौ निपत्य तिष्ठन्ति वेष्टयान्तः साधकेश्वरम् ।
तासां कृत्वा नमस्कारं भित्त्वा वामाङ्गमात्मनः ॥ ३० ॥

तद्वुत्थेन ततस्तासां दत्त्वार्घं तत्समो भवेत् ।
आचार्योऽपि च षण्मासं मौनी प्रतिदिनं[1] चरेत् ॥ ३१ ॥

दश पञ्च च ये मन्त्राः पूर्वमुक्ता मया तव ।
पूर्वंन्यासेन संनद्धस्त्रिकालं वह्निकार्यकृत् ॥ ३२ ॥

ध्यायेत्पूर्वोदितं शूलं ब्रह्मचर्यं समाश्रितः ।
कृत्वा पूर्वोदितं यागं त्रिशक्तिपरिमण्डलम् ॥ ३३ ॥

लिये भूमि पर आ न जाँय, साधक को उनकी सेवा में तैयार रहना चाहिये । वे कल-कल आराव (शब्द) करती हुई आती हैं । उनके इस सुदारुण आराव से साधक को सावधान हो जाना चाहिये । बस यह अनुभव होते ही तुरन्त उनका वन्दन मन ही मन कर लेना चाहिये । साथ ही अपना वामाङ्ग भेदन कर यह प्रकल्पन करना चाहिये कि, मेरे वामाङ्ग से सोमसुधा का प्रवाह प्रारम्भ हो गया है । उसी सोमसुधा से उन्हें अर्घ्य अर्पित करने में लग जाना चाहिये । इससे प्रसन्न होकर वे पुनः अपने स्थानों पर लौट जाती हैं । इसका परिणाम यह होता है कि, साधक भी 'योगेश्वर' होने का आशीर्वाद पाकर कृतार्थ हो जाता है । इस योगेश्वरता की प्रौढ़ि के लिये साधक को मौन व्रत धारण करना चाहिये । कम से कम छः माह तक उसे प्रतिदिन मौन रहना चाहिये ॥ २९-३१ ॥

हे पार्वति ! संख्या में दश या पाँच जो भी मैंने तुमको सुनाया था या, पञ्चदश मन्त्रों का जो उपदेश दिया था, उनकी सिद्धि के लिये पूर्ववत् न्यास करना आवश्यक है । न्यास से सन्नद्ध होकर त्रिकाल अग्निहोत्र करना चाहिये । साथ ही ब्रह्मचर्य व्रत के आचरण पूर्वक पूर्वकथित शूलों का स्मरण करना भी आवश्यक होता है । तीनों शक्तियों के प्रभामण्डल से प्रभावित याग का पहले की तरह ही सम्पादन करना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

---

१. ग० पु० प्रतिदिनं जपेदिति पाठः

अभिषिञ्चेत्तदात्मानमादावन्ते च दैशिकः ।
एवं चीर्णव्रतो भूत्वा मन्त्री मन्त्रविदुत्तमः ॥ ३४ ॥
निग्रहानुग्रहं कर्म कुर्वन्न प्रतिहन्यते[1] ।
शुद्धयोर्विन्यसेन्मूलमध्यादित्रितये त्रयम् ॥ ३५ ॥
वामाङ्गुष्ठे तले नेत्रे तर्जन्यामस्त्रमेव च ।
अक्षह्लीमिति[2] खण्डेन शब्दराशिं निवेशयेत् ॥ ३६ ॥
नफह्लीमित्यनेनापि शक्तिमूर्ति विचक्षणः ।
विपरीतमहामुद्राप्रयोगान्मूलमेव च ॥ ३७ ॥

याग के आदि में स्वात्म का सुधाभिषेचन जैसे देशिक अवधान पूर्वक सम्पन्न करता है, उसी तरह अन्त में भी कलश सुधा से स्वात्म को अभिषिञ्चित करना चाहिये। इस प्रकार व्रतस्थ होकर श्रद्धापूर्वक व्रत करने से मन्त्री उत्तम मन्त्रविद् हो जाता है अर्थात् वह पूर्ण व्रतचारी होने के कारण सिद्ध हो जाता है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार निग्रह और अनुग्रह रूप क्रिया योग में वह समर्थ हो जाता है। वह कभी विघ्नों के प्रतिघात से कुण्ठित नहीं होता। वह स्वयं परम शुद्ध दैशिक शिरोमणि होता ही है, उसके साथ उसके द्वारा साधक शिष्य भी कृतार्थ हो जाता है। साधक शिष्य और दैशिक आचार्य को स्वात्म देहसत्ता में मूल, मध्य आदि में तीनों शक्ति अपरा, परा और परापरा का विन्यास इस अवसर पर भी करना आवश्यक माना जाता है ॥ ३५ ॥

बायें अंगूठे, तल (करतल), नेत्र, तर्जनी प्रयुक्त अस्त्र मन्त्र रूप षड्जाति समन्वित प्रयोग में मातृका के 'ह्लीं अक्ष ह्लीं' इस पूर्व मन्त्र से स्वात्म को मन्त्रमय करना आवश्यक है ॥३६॥

अथवा शब्द राशि रूप मालिनी मन्त्र 'ह्लीं नफ ह्लीं' से ही स्वात्म को मन्त्रमय बना लेना चाहिये। इस प्रकार साधक और आचार्य दोनों मन्त्रमूर्त्ति हो जाते हैं।

१. क० पु० प्रतिपद्यतीति पाठः ; २. ख० नमो ह्लीमिति पाठः ।

स्वस्थानेषु तथाङ्गानि न्यासः सामान्य इत्ययम् ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रेऽभिषेकाधिकारो दशमः ॥ १० ॥

यदि यह न कर सके तो विपरीत इसके महामुद्रा का प्रयोग मूलमन्त्र से ही कर लेना चाहिये । इसके साथ ही सामान्य न्यास के रूप अपने स्थान प्रयुक्त आङ्गिक-न्यास भी श्रेयस्कर होता है ॥ ३७ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
अभिषेकाधिकार नामक दसवाँ आह्निक परिपूर्ण ॥ १० ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥



अथ एकादशोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि दीक्षां परमदुर्लभाम् ।
भुक्तिमुक्तिकरीं सम्यक्सद्यः प्रत्ययकारिकाम् ॥ १ ॥

नास्यां मण्डलकुण्डादि किञ्चिदप्युपयुज्यते ।
न च न्यासादिकं पूर्वं स्नानादि च यथेच्छया ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य-समन्वितम्

एकादशोऽधिकारः

[११]

परमेश्वर भगवान् शिव कह रहे हैं कि, देवि पार्वती ! इस आह्निक में मैं परमदुर्लभ दीक्षा के विषय में तुम्हें बताने का अनुग्रह करूँगा। यह दीक्षा भोग और मोक्ष दोनों को देने में समर्थ है। मैं ऐसे प्रयोगों के रहस्य भी उद्घाटित करूँगा, जिससे दीक्षा के प्रति दीक्ष्य और दर्शकवृन्द दोनों को सद्यः अर्थात् तत्काल विश्वास हो जाये। इसी लिये इसको 'सद्यःप्रत्ययकारिका' दीक्षा कहते हैं ॥ १ ॥

इसमें किसी मुख्य कर्मकाण्ड जैसे मण्डल-निर्माण, कुण्ड आदि की कोई उपयोगिता नहीं होती तथा जितने न्यास, महान्यास आदि हैं, वे भी अनुपयोगी हैं। जहाँ तक स्थानादि का प्रश्न है, इसका भी कोई बन्धन नहीं। अपने मानसिक संतोष के लिये केवल आवश्यक सफाई मात्र अपेक्षित है ॥ २ ॥

प्रविश्य यागसदनं सूपलिप्तं सुचर्चितम् ।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि सुपुष्पाम्बरभूषितः ॥ ३ ॥

दीप्तां शक्तिमनुस्मृत्य पादाग्रान्मस्तकावधि ।
महामुद्राप्रयोगेन निर्दग्धां चिन्तयेत्तनुम् ॥ ४ ॥

अनुलोमप्रयोगाच्च मालिनीममृतप्रभाम् ।
चिन्तयेत्तनुनिष्पत्त्यै तद्ध्यानगतमानसः ॥ ५ ॥

यागसदन में प्रवेशकर सुन्दर ढङ्ग से उपलिप्त और उसकी अच्छी तरह अल्पना आदि के प्रयोग से अर्चा का विषय बनी हुई एवं चन्दन से सुवासित सुगन्धमय भूमि में पूर्वाभिमुख बैठने की व्यवस्था करे। पूर्वाभिमुख के अतिरिक्त उत्तराभिमुख में भी बैठने की व्यवस्था की जा सकती है। उस समय शिष्य को आकर्षक वस्त्रों से सुन्दर फूलों की माला और आभूषण आदि धारण कर अपने को सुसज्जित रखना चाहिये ॥ ३ ॥

आसन पर विराजमान होकर सर्व प्रथम शिष्य महामुद्रा का प्रयोग करे। एक अत्यन्त प्रदीप्त शक्ति का स्मरण कर पैर के अग्रभाग से लेकर मस्तक पर्यन्त अपने शरीर को ज्वाला से जाज्वल्यमान दग्ध अनुभव करे।

महामुद्रा को परमीकरण मुद्रा भी कहते हैं। आगमरहस्य (पृ० ४३५) के अनुसार इसे ऋषि वसिष्ठ ने आविष्कृत किया था। बाँयें पैर की एड़ी से मूलाधार का संपीडन कर दाहिने पैर को सामने प्रसारित करे। ब्रह्मस्वर से मुख को आपूरित कर लेना चाहिये। दण्डाहत सर्प की तरह कुण्डलिनी का आश्रय लेकर प्राण को दण्डवत् लम्बायमान कर दे। उस समय द्विपुटी की मरणावस्था प्राप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

वैष्णवी महामुद्रा सम्पुटित अञ्जलि को शीर्ष प्रदेश में कर्ण प्रदेश तक ले जाने से भी बनती है। इसके अन्य कई भेद भी होते हैं। महामुद्रा में अवस्थित साधक का शरीर भस्मीभूत हो चुका है। उसके तत्काल बाद उसे स्वात्मशरीर की निष्पत्ति के प्रयोग में लग जाना चाहिये। इसके लिये अपने शरीर में अनुलोम मालिनी शब्दराशि का सदुपयोग अनुलोम-दृष्टि से शरीर पर करना चाहिये। मालिनी अमृतप्रभा शक्ति की प्रतीक होती है। उसके ध्यान में तन्मय होकर शिर से पैर तक 'न ॠ ऋ' क्रम से चलने पर पूरा शरीर निष्पन्न हो जाता है। इसमें अङ्गों पर

शोध्याध्वानं ततो देहे पूर्वोक्तमनुचिन्तयेत् ।
ततः संशोध्य वस्तूनि शक्त्यैवामृततां नयेत् ।। ६ ।।

परासंपुटमध्यस्थां मालिनीं सर्वकर्मसु ।
योजयेत्(सु)विधानज्ञः परां वा केवलां प्रिये ।। ७ ।।

गणेशं पूजयित्वा तु पुरा विघ्नप्रशान्तये ।
ततः स्वगुरुमारभ्य पूजयेद्गुरुपद्धतिम् ।। ८ ।।

गणेशाधः ततः सर्वं यजेन्मन्त्रकदम्बकम् ।
तत्पतीनां ततोऽधं च तत्रैव परिपूजयेत् ।। ९ ।।

अन्त्याधः पूजयेद्विद्यां तद्वद्विद्यां महेश्वरीम् ।
मन्त्रविद्यागणस्यान्तः कुलशक्तिं निवेशयेत् ।। १० ।।

निर्धारित वर्ण विन्यास ध्यान करते ही आङ्गिक निष्पत्ति शुरू हो जाती हैं और 'फ' तक आते आते स्वात्मदेह प्रतिष्ठित हो जाता है ।। ५ ।।

शरीर में षडध्व-शोधन प्रक्रिया का प्रयोग उसी समय करना चाहिये। शरीर निष्पत्ति के अनन्तर अध्वाशोधन का क्रम अपनाया जाना चाहिये। इस तरह शरीर ताप्तदिव्य काञ्चनवत् ऊर्जा से ओतप्रोत हो जाता है। इसका चिन्तन करने के बाद वहाँ प्रस्तुत वस्तुओं का शोधन कर उन्हें परमपवित्र बना लेना चाहिये । अपनी शक्ति से सब में अमृतत्व का आधान कर लेना चाहिये ।। ६ ।।

मालिनीविद्या को परा मन्त्र से सम्पुटित करने के उपरान्त ही प्रयोग में लाना चाहिये । विधान के ज्ञाता विचक्षण आचार्य इसका अवधानपूर्वक प्रयोग करे अथवा एक दूसरा पक्ष यह भी है कि, केवल परा विद्या का ही प्रयोग करे। प्रक्रिया की पूर्त्ति दोनों तरह से होती है ।। ७ ।।

कार्य के प्रारम्भ में विघ्नों की प्रशान्ति के लिये सर्वप्रथम गणेश का पूजन कर लेना श्रेयस्कर है । वे विघ्नेश्वर हैं । उनके अर्चन से विघ्न-राशि का विनाश हो जाता है । तत्पश्चात् गुरु क्रम आता है । गुरुपद्धति में सर्वप्रथम परमेष्ठि गुरु, फिर परम गुरु और तब दीक्षा गुरु का पूजन आवश्यक माना जाता है ।। ८ ।।

गणेश के पूजन के अधस्तात् क्रम से समस्त मन्त्र राशि का यजन करना चाहिये । पुनः मन्त्रेश्वरों का पूजन आवश्यक माना गया है । तदुपरान्त विद्याओं की पूजा करनी चाहिये । अन्य देवताओं की तरह ही माहेश्वरी आदि विद्याओं की

पूर्वयाम्यापरोदक्षु माहेश्यादिचतुष्टयम् ।
इन्द्राणीपूर्वकं तद्वदैशादिदल अन्तगम् ॥ ११ ॥
तत्रोपरि न्यसेद्देवं कूटरूपाणुनामुना ।
जीवं दण्डसमाक्रान्तं शूलस्योपरि संस्थितम् ॥ १२ ॥
दक्षाङ्गुलि ततोऽधस्तात्ततो वामपयोधरम् ।
नाभिकण्ठौ ततोऽधस्ताद्वामस्कन्धविभूषणौ ॥ १३ ॥
शिवजिह्वान्वितः पश्चात्तदूर्ध्वोष्ठेन चोपरि ।
सर्वयोगिनिचक्राणामधिपोऽयमुदाहृतः ॥ १४ ॥
अस्याप्युच्चारणादेव संवित्तिः स्यात्परोदिता ।
ततो वीराष्टकं पश्चाच्छक्त्युक्तविधिना[1] यजेत् ॥ १५ ॥

पूजा की जाती है। मन्त्रविद्याओं के साथ ही कुलेश्वरी की स्थापना और अर्चना का विधान है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में माहेशी आदि चार विद्यायें अर्चनीय हैं। ये चारों क्रमशः माहेशी, ब्रह्माणी, कौमारी और वैष्णवी है। इसी तरह ईशानकोण में इन्द्राणी, अग्निकोण में याम्या, नैऋत्यकोण में चामुण्डा और वायव्यकोण में योगेशी[2] का विन्यास कर उनका पूजन करना चाहिये ॥ ९-११ ॥

इसके बाद कूटरूप से अणु बने भगवान् शङ्कर की पूजा पूर्ण श्रद्धा और समादर के साथ करनी चाहिये। जहाँ तक जीव भाव का प्रश्न है, यह दण्डाकार अवस्था में उन्मना के शूलाब्ज पर पहुँचाया गया है ॥ १२ ॥

दक्षाङ्गुलि 'झ' वर्ण, वामपयोधर 'ल', इसके ही 'नाभि 'क्ष' और कण्ठ 'व' उनके नीचे बाँयें 'क'। शिवजिह्वा 'इ' वर्णों के संयोग से बने बीज-मन्त्र में ऊर्ध्व ओष्ठ 'ओं' लगाने से जो मन्त्र बनता है, वह समस्त योगिनी–चक्र का स्वामी माना जाता है ॥ १३-१४ ॥

यह इतना महत्त्वपूर्ण बीज मन्त्र है, जिसके उच्चारण मात्र से परा संवित्ति का उदय हो जाता है। इसके बाद वीराष्टक की पूजा होनी चाहिये। इसके बाद शक्ति के सन्दर्भ में निर्दिष्ट विधि के अनुसार सामुदायिक पूजा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

---

१. क० पु० शक्त्याक्तेति पाठः ;

२. श्रीमा० वि० अधिकार ३।१४

प्रभूतैर्विविधैरिष्ट्वा गन्धधूपैः स्रगादिभिः ।
श्रीकारपूर्वकं नाम पादान्तं परिकल्पयेत् ॥ १६ ॥

ततः शिष्यं समाहूय बहुधा सुपरीक्षितम् ।
रुद्रशक्त्या तु संप्रोक्ष्य देवाग्रे विनिवेशयेत् ॥ १७ ॥

भुजौ तस्य समालोक्य रुद्रशक्त्या प्रदीपयेत् ।
तथैवाप्यर्पयेत्पुष्पं करयोर्गन्धदिग्धयोः ॥ १८ ॥

निरालम्बौ तु तौ ध्यात्वा शक्त्याकृष्टौ विचिन्तयेत् ।
शक्तिमन्त्रितनेत्रेण बद्ध्वा नेत्रे तु पूर्ववत् ॥ १९ ॥

इस याग प्रक्रिया में वित्तशाठ्य नहीं अच्छा होता। प्रभूत द्रव्यों से समन्वित बृहद् रूप में इसका आयोजन होना चाहिये। गन्ध से सारा वातावरण सुगन्धित और सुरभित हो, साथ ही दीप सज्जा का उत्तम प्रबन्ध हो, सुन्दर आकर्षक कुसुमों की मालाओं से पूरा दीक्षा सदन दिव्यता का प्रतीक बन गया हो, तभी याग का महत्त्व सिद्ध होता है। इतना सब कुछ शोभाधायक कार्यक्रम पूरा कर आचार्य दीक्ष्य के नये नाम का प्रकल्पन करें। विशेष रूप से नाम में पहले 'श्री' का प्रयोग हो एवम् अन्त में 'पाद' का प्रयोग भी किया जाय, जैसे श्री माहेश्वर अभिनवगुप्तपाद ॥ १६ ॥

आचार्य शिष्य को अपने पास बुलाकर उसे कलश सुधा से सम्प्रोक्षित करें। सम्यक् रूप से सुपरिक्षित शिष्य को सम्प्रोक्षण के बाद देवाधिदेव महादेव के समक्ष ही उसे विनिविष्ट कराना शास्त्र सम्मत माना जाता है ॥ १७ ॥

शिष्य की दोनों भुजाओं का अवलोकन कर उनमें रुद्रशक्ति को उद्दीप्त करना चाहिये। गन्ध से सुरभित शिष्य के हाथों पर फूल रखकर विज्ञ आचार्य यह ध्यान करें कि, इन पवित्र और दिव्य हाथों का कोई रुद्रशक्ति के अतिरिक्त आश्रय नहीं है। ये रुद्रशक्ति की ओर ही आकृष्ट किये जा रहे हैं। वह अदृश्य शक्ति इन्हें अपनी ओर खींच सी रही है। यह चिन्तन करते हुए शक्ति से मन्त्रित नेत्रमन्त्र के द्वारा उसके दोनों नेत्रों को वस्त्र से आवृत्त कर देना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

ततः प्रक्षेपयेत्पुष्पं सा शक्तिस्तत्करस्थिता ।
यत्र[1] तत्पतते पुष्पं तत्कुलं तस्य लक्षयेत् ॥ २० ॥

मुखमुद्घाट्य[2] तं पश्चात्पादयोः प्रतिपातयेत् ।
ततोऽस्य मस्तके चक्रं हस्तयोश्चार्च्य योगवित् ॥ २१ ॥

तद्धस्तौ प्रेरयेच्छक्त्या यावन्मूर्धान्तमागतौ ।
शिवहस्तविधिः प्रोक्तः सद्यः प्रत्ययकारकः ॥ २२ ॥

चरुकं दापयेत्पश्चात् खर्जूरादिफलोद्भवम् ।
शक्त्यालम्बां तनुं कृत्वा स्थापयेदग्रतः शिशोः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् आचार्य उससे यह कहे कि, तुम्हारे इन शक्ति की ओर आकृष्ट हाथों में जो पुष्प रखा गया है, वह शक्ति स्वरूप है। यही सोचकर और हाथों में शक्ति की कृपा का अनुभव करते हुए इसे फेंको। साथ ही सावधान आचार्य यह देखें कि शिष्य की कर-स्थित शक्ति का प्रक्षेप कहाँ तक हो रहा है। वह फूल जहाँ जाकर भूपतित हो गया है, वही उसका कुलाङ्क है ॥ २० ॥

इसके बाद उसके आँखों की पट्टी खोल देनी चाहिये। उसे यह निर्देश देना चाहिये कि, वह कुलदेव और गुरुदेव के चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। इसके बाद योगवेत्ता विचक्षण आचार्य अपने दोनों हाथों में शिव का आवाहन और आराधन कर शिष्य के शिर पर रखें ॥ २१ ॥

उन हाथों के माध्यम से आचार्य शिष्य के शरीर को शक्तिमन्त बनाने की विधि का प्रयोग करें। शिर में उमा देवी का अधिष्ठान शास्त्र समर्थित तथ्य है। 'उमा मूर्ध्नि व्यवस्थिता' यह सप्तशती की उक्ति है। इस दृष्टि से गुरु उमादेवी का मूर्धान्त चिन्तन करे। हाथ मूर्धान्त पर्यन्त शिर का स्पर्श करते रहे। यह एक विधि के अन्तर्गत आता है। इसे शिवहस्त विधि कहते हैं। यह विधि सद्यः विश्वासप्रदा मानी जाती है ॥ २२ ॥

इसके बाद चरु प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। चरुसिद्धि करने के उपरान्त शिष्य के शरीर को शक्ति पर आश्रित समझ कर खर्जूर फलों के सम्मिलित परिपाक से तैयार उस चरु को उसके आगे लाकर रखे ॥ २३ ॥

---

१. क० पु० तत्र तत्पतनेति पाठः ;
२. क० पु० मुखं बद्धा युतं पश्चादिति पाठः

पुष्पक्षेपप्रयोगेन हस्तमाकृष्य दक्षिणम् ।
चरुकं ग्राहयेन्मन्त्री तद्ध्यानगतमानसः ॥ २४ ॥

शिवहस्तप्रयोगेन समारोप्य मुखं नयेत् ।
अनेनैव विधानेन क्षीरवृक्षसमुद्भवम् ॥ २५ ॥

दन्तकाष्ठं ददेद्देवि षोडशाङ्गुलमायतम् ।
एतेषां चालनान्मन्त्री शक्तिपातं परीक्षयेत् ॥ २६ ॥

मन्दतीव्रादिभेदेन मन्दतीव्रादिकाद्बुधः ।
इत्ययं समयी प्रोक्तः संस्थितोक्तेन वर्त्मना ॥ २७ ॥

चिकीर्षुश्च यदा दीक्षामस्यैवार्पितमानसः ।
तदिष्ट्वा पूर्ववद्योगी कुलेशं[1] तमनुक्रमात् ॥ २८ ॥

पुष्प के प्रक्षेप के इस प्रयोग से विरत शिष्य के दाहिने हाथ को अपनी ओर लेकर उसी से शिष्य को चरु ग्रहण कराये। गुरुदेव इस समय शिष्य के उत्कर्ष की कामना का ही प्रकर्षपूर्वक ध्यान करते पुनः फिर शिवहस्त प्रयोग से हाथ को उसके मुख की ओर ले आवें। इस तरह चरु प्रयोग और शिवहस्त का प्रयोग कर गुरुदेव दूध सदृश स्वरस वाले पेड़ से ली गयी दातून उसे दें। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि देवि! पार्वति! वह दातून १६ अङ्गुल लम्बी होनी चाहिये। दातून की चीरी फेंकने की विधि को बतायें। शिष्य के द्वारा चीरी फेंकने की दूरी से उसके ऊपर कितना शक्तिपात है, इसकी आनुपातिक परीक्षा गुरु कर लें॥ २४-२६ ॥

शक्तिपात मन्द, मध्य और तीव्र भेद-युक्त होता है। इन तीनों के भी तीन-तीन भेद होते हैं। इन मन्द-मन्द, मन्द-मध्य और मन्द-तीव्र आदि भेदों के अनुसार उसको मन्द आदि शक्तिपात सम्बन्धी स्तरीयता का ज्ञान गुरुदेव को हो जाता है। ऐसे शिष्य समयी होते हैं। वे इसी प्रयोग पथ के माध्यम से चर्या करते हैं ॥ २७ ॥

जब दीक्षा देने की आकांक्षा गुरुदेव के मन में उत्पन्न हो जाय और उसे यह विश्वास हो जाय कि, यह शिष्य मेरे प्रति पूर्ण समर्पित और श्रद्धा से समन्वित है, तो सर्वप्रथम गुरुदेव कुलेश्वर की पहले की तरह पूजा करें ॥ २८ ॥

---

१. क० पु० सुकुलोनमनुक्रमादिति पाठः

संपूज्य पूर्ववच्छिष्यमृजुदेहे विलोकयेत् ।
शक्तिं संचिन्त्य पादाग्रान्मस्तकान्तं विचक्षणः ॥ २९ ॥

शोध्याध्वानं ततो न्यस्य सर्वाध्वव्याप्तिभावनाम् ।
शक्तितत्त्वादिभेदेन पूर्वोक्तेन च वर्त्मना ॥ ३० ॥

उपविश्य ततस्तस्य विधानमिदमाचरेत् ।
मूलशोध्यात्समारभ्य शक्तिं दीप्तानलप्रभाम् ॥ ३१ ॥

योजयेच्छोध्यसंशुद्धिभावनागतमानसः ।
एवं सर्वाणि शोध्यानि निर्दहन्तीमनामयाम् ॥ ३२ ॥

शिवे संचिन्तयेल्लीनां निष्कले सकलेऽपि वा ।
योगिना योजिता मार्गे स्वजातीयस्य पोषणम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार समस्त पूजाविधान पूरा कर लेने पर शिष्य के ऋजु शरीर को कृपापूर्ण दृष्टि से देखकर उस पर कृपा की वर्षा करें। उसके पादाग्र भाग से शिरः पर्यन्त शक्ति का सञ्चयन सा करता हुआ उसे शक्ति से अनुप्राणित कर दें॥ २९॥

अध्वा शोधन कर, शिष्य के ऊपर उनका न्यास कर यह भावना करें कि, दीक्ष्य का शरीर समस्त अध्वावर्ग से व्याप्त है और इसकी शारीरिक व्याप्ति का परिवेश समस्त अध्वमण्डल में मण्डित है। इसी तरह पहले कहे गये शक्तितत्त्व आदि तत्त्व-भेद से भी शिष्य भावित है॥ ३०॥

आसन पर विराजमान होकर इन सारे विधानों का पालन आचार्य और शिष्य दोनों करें। मूलाधार से लेकर औन्मनस सामरस्य पर्यन्त शक्तितत्त्व का पूर्णतः समायोजन करें॥ ३१॥

संशोधन विधि के प्रति पूर्णतया दत्तावधान आचार्य सभी शोध्य प्रक्रिया को अपना कर पार्यन्तिक संशुद्धि भाव से स्वयं भावित होकर ऐसी दीप्त प्रभामयी शक्ति-मत्ता का वहाँ संचार कर दें जिससे यह प्रतीत होने लगे कि, सभी प्रकार के अनपेक्षितदुःस्तत्त्व दग्ध हो चुके हैं॥ ३२॥

साथ ही साथ यह अनुचिन्तन भी करें कि, सभी कुछ सकल-निष्कल शिवतत्त्व में विलीन हो गया है। अब सभी दृश्य-अदृश्य शिवमय हो गया है।

कुरुते निर्दहत्यन्यद्भिन्नजातिकदम्बकम् ।
अनया शोध्यमानस्य शिष्यस्यास्य महामतिः ॥ ३४ ॥

लक्षयेच्चिह्नसंघातमानन्दादिकमादरात् ।
आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च [1]पञ्चमी ॥ ३५ ॥

एवमाविष्टया शक्त्या मन्दतीव्रादिभेदतः ।
पाशस्तोभपशुग्राहौ प्रकुर्वीत यथेच्छया ॥ ३६ ॥

योगमार्ग के विशेषज्ञ विचक्षण आचार्य द्वारा इस प्रकार शैवसद्भाव में समायोजित कर देने के उपरान्त वहाँ स्वजातीय सत्कर्मों का पोषण हो रहा है—यह चिन्तन करना चाहिये ॥ ३३ ॥

साथ ही यह भी अनुभव करना चाहिये कि, अनपेक्षित अन्य जातीय पदार्थों का सर्वथा निराकरण हो चुका है। इस विधि से आचार्य द्वारा वहाँ का सर्वविध शोधन सम्पन्न हो जाता है। शिष्य पूरी तरह शुद्ध हो जाता है। अब आचार्य के लिये स्वाभाविक स्वारस्य उपलब्ध हो जाता है ॥ ३४ ॥

महाप्राज्ञ आचार्य गुरुदेव अब शिष्य में उत्पन्न और परिलक्ष्यमाण लक्षणों के ऊपर दृष्टिपात करें। वह देखें कि, शिष्य आनन्द से भर उठा है। वह ध्यान दें कि, उसमें सबके प्रति कितना आदर भाव उद्वेलित हो रहा है। वह इस पर विशेष ध्यान दें कि, आनन्द के साथ ही साथ वह मानों नयी सम्भावनाओं से उद्भासित सा हो उठा है। इसे ही शास्त्र में उद्भव कहते हैं। वह रह-रहकर रोमाञ्चित हो रहा है। इसे ही कम्प कहते हैं। आनन्द के अतिरेक के चलते वह शान्ति की नींद में निमग्न को तरह अनुभव कर रहा है। इसे निद्रा भाव कहते हैं। कभी-कभी उसको घूर्णि का अनुभव भी हो रहा है। ये लक्षण उसकी योग्यता के प्रमाण रूप हैं[2] ॥ ३५ ॥

इस प्रकार सुलक्षणों से लक्षित, शक्ति समावेश से सम्पन्न शिष्य शक्तिपात से पवित्रित हो जाता है। गुरु यह जानने में समर्थ होता है कि, इसके ऊपर मन्द-मन्द स्तर का शक्तिपात हो चुका है। आचार्य यथेच्छ उसके पाशों का त्वरित अवरोध कर दें, जिससे उसकी पशुता का ग्रास हो जाय ॥ ३६ ॥

१. क० पु० घूर्णिश्च पञ्चकमिति पाठः ।
२. श्रीत० २०।१२

गृहीतस्य पुनः कुर्यान्नियोगं शेषभुक्तये ।
अथवा कस्यचिन्नायमावेशः[1] संप्रजायते ॥ ३७ ॥

तदेनं युगपच्छक्त्या सबाह्याभ्यन्तरे[2] दहेत् ।
तया संदह्यमानोऽसौ च्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ ३८ ॥

पतते काश्यपीपृष्ठे आक्षेपं वा करोत्यसौ ।
यस्य त्वेवमपि स्यान्न तं चैवोपलवत्त्यजेत् ॥ ३९ ॥

पृथक्त्वविधौ दीक्षां योग्यतावश्यवर्तिनः ।
तत्त्वाभ्यासविधानेन वक्ष्यमाणेन कारयेत् ॥ ४० ॥

इसके अतिरिक्त भी यदि कोई जन्म-जन्मान्तरीय कुसंस्कार शेष रह जाय तो आचार्य उसका भी निरोध करें। उसे पूर्णता प्रदान कर दें। कुछ ऐसे भी शिष्य होते हैं, जिनमें ये कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। किसी प्रकार का आवेश नहीं होता। गुरुदेव इस अवस्था के साक्षी व स्वयं प्रमाण होते हैं ॥ ३७ ॥

आवेश न आने की स्थिति में गुरुदेव स्वात्मशक्ति की तैजसिकता को आग से बाह्य और आभ्यन्तर दोनों दृष्टियों से दग्ध करने का प्रयास करें। गुरु के तेज से आनन-फानन में दह्यमान होकर वह कटे पेड़ की तरह काश्यपी पृष्ठ पर लुढ़क जाता है, अथवा उछल-कूद करने लगता है, या तरल भाषा का प्रयोग कर अपशब्दों का प्रयोग करने लग जाता है। इसे ही आक्षेप करना कहते हैं। कुछ ऐसे भी शिष्य मिलते हैं, जिनमें इस प्रकार के कोई लक्षण नहीं मिलते। गुरुदेव को यह चाहिये कि, पाषाण खण्ड के रास्ते में पड़ने वाले छोटे बड़े सभी टुकड़ों की तरह उसका परित्याग कर देना चाहिये।। ३९ ॥

अपनी योग्यता के कारण गुरु के प्रति अपार श्रद्धा और आस्था के आधार पर वशवर्त्ती के समान आचरण करने वाले अनुशासित शिष्य को आचार्य पृथक् तत्त्वविधि में दीक्षित कराने की व्यवस्था करे। इस विधि के सम्बन्ध में अभी आगे मुझे कहना भी शेष है। इसमें तत्त्वों से सम्बन्धित अभ्यास का विधान प्रधानतया अपनाना पड़ता है ॥ ४० ॥

---

१. क० पु० कस्यचिद्वायमिति पाठः ;

२. ग० भ्यन्तरं दहेदिति पाठः ।

इति संदीक्षितस्यास्य मुमुक्षोः शेषवर्तनम् ।
कुलक्रमेष्टिरादेश्या पञ्चावस्थासमन्विता ॥ ४१ ॥
बुभुक्षोस्तु प्रकुर्वीत सम्यग्योगाभिषेचनम् ।
तत्रेष्ट्वा पूर्ववद्देहं विस्तीर्णैर्विबुधैर्बुधैः ॥ ४२ ॥
हेमादिदीपकानष्टौ घृतेनारुणवर्तिकान् ।
कुलाष्टकेन संबोध्य शिवं शङ्खे प्रपूजयेत् ॥ ४३ ॥
सर्वरत्नौषधीगर्भे गन्धाम्बुपरिपूरिते ।
तेनाभिषेचयेत्तं तु शिवहस्तोक्तवर्त्मना ॥ ४४ ॥
आचार्यस्याभिषेकोऽयमधिकारपदान्वितः ।
कुर्यात्पिण्डादिभिस्तद्वच्चतुःषष्टि प्रदीपकान् ॥ ४५ ॥

मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष का आकांक्षी शिष्य यदि अच्छी तरह दीक्षा प्राप्त करता है, उसका शेषवर्त्तन कैसा हो, उसकी दीक्षा के कुलक्रम और परम्परा में कौन याग-करणीय होता है, पञ्चावस्था समन्वित वह कौन मार्ग है ? इन तथ्यों के सम्बन्ध में शिष्य को पूरी जानकारी देनी चाहिये ॥ ४१ ॥

बुभुक्षु अर्थात् भोगवाद की भुक्ति के उपभोग के साथ-साथ साधना के प्रयोग में प्रवृत्त होने के आकांक्षी शिष्य को सम्यक् रूप से योगपद्धति के अनुकूल अभिषिक्त करना चाहिये। पूर्व में उक्त नियम के अनुसार विस्तारपूर्वक विविध प्रकार की याग-सामग्रियों से समन्वित सामान्य याग के साथ जानकार कर्मकाण्डियों और योगसिद्ध विद्वानों द्वारा देहाभिषेचन करना चाहिये ॥ ४२ ॥

स्वर्ण आदि से निर्मित आठ दीपकों में लाल रंग के तूल से वर्तिका निर्मित कर घी से भर कर उन्हें प्रज्वलित करना चाहिये। कुलाष्टक विधि से सम्यक्रूप से प्रज्वलित कर शङ्ख में शिव की पूजा करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

जिस पूजा कलश में समस्त याग योग्य औषधियों को डाला गया हो, जिसमें विविध प्रकार के सुगन्धित पदार्थों से पावन जल का प्रयोग किया गया हो, उसी कलश सुधा से अभिषिक्त करना चाहिये। इस प्रक्रिया में शिवहस्त की पूर्वोक्त विधि का भी प्रयोग करना चाहिये ॥ ४४ ॥

यह अभिषेक विधान उस योग्यतम साधक शिष्य से सम्बन्धित है, जिसे आचार्य पद पर अधिष्ठित और सर्वाधिकार समन्वित बनाया जाता है। इसमें पिण्ड सहित चौसठ दीपों के प्रयोग का विधान है ॥ ४५ ॥

अभिषिक्तविधावेव सर्वयोगिगणेन तु ।
विदितौ भवतस्तत्र गुरुर्मोक्षप्रदो भवेत् ॥ ४६ ॥

अनयोः [1]कथयेज्ज्ञानं त्रिविधं सर्वमप्यलम् ।
स्वकीयाज्ञां ददेद्योगी स्वक्रियाकरणं प्रति ॥ ४७ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे दीक्षाधिकार एकादशः ॥ ११ ॥

इसी अभिषेक विधि के सांदर्भिक महोत्सव में बुलाये गये सभी योगियों की सभा में इस तथ्य की घोषणा करनी चाहिये कि, अमुक विद्वत् शिरोमणि के आचार्यत्व में इस प्रकार की योग्यता से विभूषित शिष्य का अभिषेक सम्पन्न हुआ और आज से यह शिष्य सर्वाधिकार सम्पन्न आचार्य के प्रमुख पद पर अधिष्ठित किया गया। इस प्रकार दोनों सर्वविदित हो जाते हैं। यह भी सर्वविदित हो जाता है कि, गुरुदेव मोक्षप्रद, महाप्राज्ञ पुरुष हैं ॥ ४६ ॥

इस यौगिक संसद् के अधिवेशन में प्रमुख योगाचार्य इस अवसर के अनुकूल उन दोनों को विशिष्ट ज्ञानोपार्जन में संलग्न रहने के लिये संबोधित करें। त्रैविध-विज्ञान के रहस्य का भी उद्घाटन करें। विशेष रूप से उनके द्वारा अपनी आज्ञा देनी चाहिये, जो उनके जीवन को और भी उत्कर्ष के लिये अग्रसर करे। उन दोनों को अपनी-अपनी चर्या में क्या-क्या करना आवश्यक है, यह निर्देश भी देना चाहिये ॥ ४७ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
दीक्षाधिकार नामक ग्यारहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ ११ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

---

१. क० पु० कथयोर्ज्ञानमिति पाठः ।

अथ द्वादशोऽधिकारः

अथैतां देवदेवस्य श्रुत्वा वाचमतिस्फुटाम् ।
प्रहर्षोत्फुल्लनयना जगदानन्दकारिणी ॥ १ ॥

संतोषामृतसंतृप्ता देवी देवगणार्चिता ।
प्रणम्यान्धकहन्तारं पुनराहेति भारतीम् ॥ २ ॥

पूर्वमेव त्वया प्रोक्तं योगी योगं समभ्यसेत् ।
तस्याभ्यासः कथं कार्यः कथ्यतां त्रिपुरान्तक ॥ ३ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेक भाषा-भाष्य संवलितम्

द्वादशोऽधिकारः

[१२]

देवाधिदेव महादेव के इन स्फुट और अत्यन्त सरल विधि-विधानों से विशिष्ट वचनों को सुनकर देवी पार्वती परम आनन्द से विह्वल हो उठीं। वे स्वयं विश्व में आनन्द सुधा की वर्षा कर सबको तृप्त करने वाली वात्सल्यमयी माँ हैं। उनकी आँखें भी प्रसन्नता से खिल उठी थीं ॥ १ ॥

जैसे कोई भी अमृत पीकर तृप्त हो उठता है, उसी तरह वे भी संतोष के अमृत से परितृप्त हो उठीं थीं। दिव्य शक्ति सम्पन्न, सर्वोत्कर्षेण वर्त्तमान, सभी देववर्ग द्वारा समर्चनीय चरणारविन्दा माँ ने आनन्द विभोर होकर शङ्कर के चरणों में प्रणति अर्पित कर पुनः भारत की रहस्य विद्या के उद्घाटन के लिये सप्रश्रय यह निवेदन किया ॥ २ ॥

देवी ने कहा—भगवान् आपने सन्दर्भवश मुझसे कहा था कि, योगी लोग योग का अभ्यास करें अर्थात् योगी उसे ही कहा जा सकता है, जो योगाभ्यास में नियमित

एवमुक्तो जगद्धात्र्या भैरवो भयनाशनः ।
प्राह प्रसन्नगम्भीरां गिरमेतामुदारधीः ॥ ४ ॥

योगाभ्यासविधिं देवि कथ्यमानं मया शृणु ।
स्थिरीभूतेन येनेह योगी सिद्धिमवाप्स्यति ॥ ५ ॥

गुहायां भूगृहे वापि निःशब्दे सुमनोरमे ।
सर्वाबाधाविनिर्मुक्ते योगी योगं समभ्यसेत् ॥ ६ ॥

जितासनो जितमना जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
जितनिद्रो जितक्रोधो जितोद्वेगी गतव्यथः ॥ ७ ॥

प्रवृत्त रहता है। भगवान्! मेरी प्रार्थना है कि, योग का अभ्यास कैसे करना चाहिये, इस विधि का उपदेश देकर मुझे अनुगृहीत करें। आपने योगबल से ही त्रिपुर का अन्त किया था ॥ ३ ॥

त्रिपुरान्तक ने कहा—देवि! मैं योगाभ्यास विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। तुम ध्यानपूर्वक इसे सुनो। जगद्धात्री की प्रार्थना से प्रसन्न भगवान् भूतभावन जो जगत् की भीतियों को भगा देने में सर्वथा समर्थ हैं, उदारतापूर्वक इस प्रकार प्रसन्न वाणी में कहा तथा उनसे यह भी कहा कि, योगी जिस विधि से सिद्धि प्राप्त करते हैं, यह भी सविधि प्रकाशित करने जा रहा हूँ। तुम ध्यानपूर्वक इसे सुनो ॥ ४-५ ॥

योग सिद्धि के लिये योग्य भूमि 'गुहा' मानी जाती है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी के गर्भ में एक कक्ष का निर्माण करावें, जो ऊपर से तथा चारों ओर से सुरक्षित हो, उसे भूगृह, गर्भगृह तथा भाषा की बोली में भुइँधरा कहते हैं। वहाँ योगाभ्यास करना चाहिये। तीसरे प्रकार के स्थानों में एकान्त, निर्जन, निःशब्द, मनोरम स्थान भी योग के लिये उत्तम माना जाता है। इसमें सबसे अधिक ध्यान देने की बात है कि, वह स्थान सभी प्रकार की बाधाओं से रहित हो। वहीं योगी योग का अभ्यास करे ॥ ६ ॥

योगाभ्यास की कुछ शर्त्तें हैं, जैसे—योगी एक आसन पर नियमित बैठने में समर्थ हो, अर्थात् जितासन हो। उसकी दूसरी योग्यता यह है कि, वह मन को अपने वश में रखने में समर्थ अर्थात् 'जितमना' हो। वह श्वासजित् हो। जितेन्द्रियता में समर्थ हो। निद्रा को जीत चुका हो। वह कभी क्रोध न करे अर्थात्

लक्ष्यभेदेन वा सर्वमथवा चित्तभेदतः ।
धरादिशक्तिपर्यन्तं योगीशस्तु प्रसाधयेत् ॥ ८ ॥
व्योमविग्रहबिन्द्वर्णभुवनध्वनिभेदतः ।
[1]लक्ष्यभेदः स्मृतः षोढा यथावदुपदिश्यते ॥ ९ ॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन समुच्चयकृतेन च ।
त्रिविधं कीर्तितं व्योम दशधा बिन्दुरिष्यते ॥ १० ॥
कदम्बगोलकाकारः [3]स्फुरत्तारकसंनिभः ।
शुक्लादिभेदभेदेन एकोऽपि दशधा मतः ॥ ११ ॥

क्रोधजित् हो, उद्वेग रहित हो और दुःख में अनुद्विग्न रहने की शक्ति से सम्पन्न हो। ये सभी लक्षण योगी के हैं। ऐसा व्यक्ति ही योगाभ्यास में सफल होता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

लक्ष्यवेध अथवा चित्तभेद की दृष्टि से योगी धरादि शक्तिपर्यन्त भेदसाधन करे। लक्ष्य से तात्पर्य जिस तत्त्व को या अध्वा और व्योम आदि को लक्ष्य बनाकर योगी साधना करना चाहता है, उसमें विना भेद के अनुप्रवेश नहीं होता। जैसे सितेतर से सित परिवेश में प्रवेश के लिये निरोधिका भेद आवश्यक है, उसी तरह लक्ष्य भेद आवश्यक होता है ॥ ८ ॥

लक्ष्य भेद छह प्रकार के माने गये हैं—१. व्योम, २. विग्रह, ३. बिन्दु, ४. वर्ण, ५. भुवन और ६. ध्वनि। इनका क्रमिक विवरण स्वयं भगवान् ने यहाँ उपदिष्ट कर दिया है ॥ ९ ॥

१. व्योम—बाह्य, आभ्यन्तर और समुच्चय-रूप तीन भेदों से व्योम तीन प्रकार का माना जाता है। बाह्य व्योम का व्यापक आवरण व्यक्ति के व्यक्तित्व को घेरकर व्यक्ति-सीमा को नित्य कीलित कर रहा है। आन्तर व्योम का वृत्यात्मक आनन्त्य स्वात्म की पहचान से वंचित रखता है। समुच्चय भेद दोनों कार्यों का साथ-साथ सम्पादन करता है ॥ १० ॥

२. बिन्दु—बिन्दु दस प्रकार का माना जाता है। कदम्ब का पुष्प जैसे गोल होता है और उसकी गोलाई में जिस प्रकार के लघु अरे उत्पन्न रहते हैं,

---

१. ख० मुक्त्वा समावधे इति पाठः ; २. क० लक्षभेदो मत इति पाठः ;
३. क० पु० तारकसप्रभ इति पाठः

चिञ्चिनीचीरवाकादिप्रभेदाद् दशधा ध्वनिः ।
विग्रहः स्थाणुभेदाच्च द्विधा भिन्नोऽप्यनेकधा ॥ १२ ॥
भुवनानां न संख्यास्ति वर्णानां सा शताधिका ।
एकस्मिन्नपि साध्ये वै लक्षेदत्रानुषङ्गतः ॥ १३ ॥

साथ ही उनमें पुष्पायमानता का जो स्वरूप होता है, यह सब उसे चार भेद भिन्न बना देता है। स्फुरणशीलता के उन्मिषद्भाव की अवस्था में वर्त्तमान रहता है। यह बिन्दु की दूसरी विशेषता है। इसमें भी स्पष्ट, अस्पष्ट और लघुबृहत् तथा स्वतन्त्र एवम् आकृति के अङ्ग आदि भेद से यह तीन प्रकार का होता है।

इसी प्रकार शुक्ल, पीत, लाल आदि भेद की दृष्टि से तीन प्रकार का माना जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर यह दश प्रकार का है—यह शास्त्र कहता है ॥ ११ ॥

३. **ध्वनि—**मुख्य चिञ्चिनी, चीर और वाक् रूप तीन प्रकार की होती है। भेदों की अवान्तर भेद दृष्टि के आधार पर इसके कुल मिलाकर दश भेद होते हैं।

४. **विग्रह**—यह 'स्व' स्वरूप और संकुचित रूप अणु भेद से दो रूपों में व्यक्त रहते हुए भी अनेक अवान्तर भेदों से अनेक प्रकार का माना जाता है ॥ १२ ॥

५. भुवनों की कुल संख्या के विषय में भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि, इनकी कोई संख्या नहीं है। महामाहेश्वर अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि, 'अनन्ता भुवनावलीयम्'[१] अर्थात् भुवनों की कोई संख्या नहीं है। वे अनन्त हैं। ११८ मुख्य भुवन भी वर्णित हैं[२]।

६. वर्णों की संख्या सौ की आधी अर्थात् पचास होती है। अ से क्ष तक की आधी अर्थात् पचास होती है। अ से क्ष तक की वर्णमाला ५० वर्णों की होती है। एक के साध्य बना लेने पर प्रसङ्गतः सभी अनुसन्धातव्य हैं ॥ १३ ॥

---

१. श्रीत० ३७।३३;
२. श्रीत० ११।५१-५३, १९ पृ० २१४-२१९ स्व० तन्त्र १०।८६०, १०।११-२९, श्रीत० ६।१७१, मा० वि० २।५१-५७।

अन्यान्यपि फलानि स्युर्लक्ष्यभेदः स उच्यते ।
एकमेव फलं यत्र चित्तभेदस्त्वसौ मतः ॥ १४ ॥

होमदीक्षाविशुद्धात्मा [1]समावेशोपदेशवान् ।
यं सिषाधयिषुर्योगमादावेव समाचरेत् ॥ १५ ॥

हस्तयोस्तु पराबीजं न्यस्य शक्तिमनुस्मरेत् ।
महामुद्राप्रयोगेन विपरीतविधौ बुधः ॥ १६ ॥

ज्वलद्वह्निप्रतीकाशं पादाग्रान्मस्तकान्तिकम् ।
नमस्कारं ततः पश्चाद् बद्धा हृदि धृतानिलः ॥ १७ ॥

इस प्रक्रिया में ऐसे अन्यान्य सुपरिणाम मिलते हैं, जिनसे लक्ष्य भेद का महत्त्व बढ़ जाता है। यहाँ भेद शब्द भी बड़े महत्त्व का है। इसमें स्थूलता में विद्यमान सूक्ष्मता के रहस्य के उद्घाटन का भाव भरा हुआ है। लक्ष्य भेद से शक्ति की ऊर्जस्वलता का स्फोट हो जाता है।

इसी प्रकार चित्त भेद की प्रक्रिया का भी महत्त्व है। चित्त अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है। आप सभी परमाणु विस्फोट से परिचित हैं। यह भौतिक जगत् के सूक्ष्मता की एक इकाई मात्र है। इस विस्फोट की भयङ्करता का आकलन भी रोमहर्षक है। इस तरह का चित्तविस्फोट व्यक्ति सत्ता को परमात्मसत्ता में समाहित कर देता है। यदि कहीं पर इसका दुरुपयोग हुआ तो मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है। इसलिये सावधानी से समस्त तैजसिक न्यास मन्त्र न्यास से सन्नद्ध होकर क्षमतापूर्वक ही यह प्रक्रिया अपनानी चाहिये ॥ १४ ॥

होम और दीक्षा से अत्यन्त विशुद्ध चित्त बनकर अर्थात् चित्त भेद की दीक्षा से, समावेश दशा की उपलब्धि से दक्षता प्राप्त कर, और अन्यान्य उपदेशों के अनुसार अपने जीवन को ढाल कर तब जिस योग को सिद्ध करने की प्रबल इच्छा हो, उसको पूर्त्ति के प्रयत्न में संलग्न होना चाहिये। यह सब योगमार्ग के प्रवेश के प्रारम्भ में ही लगनपूर्वक कर लेना आवश्यक होता है ॥ १५ ॥

दोनों हाथों में परा बीज का न्यास करने के उपरान्त शक्ति का ध्यान करते हुए उसी में समाविष्ट हो जाना चाहिये। इसके उपरान्त महामुद्रा का प्रयोग विपरीत क्रमानुसार करना चाहिये। इसी क्रम में पादाङ्गुष्ठ से लेकर मस्तक-

1. क० पु० समादेशोपदेशवानिति पाठः

स्वरूपेण परावीजमतिदीप्तमनुस्मरेत् ।
तस्य मात्रात्रयं ध्यायेत्कखत्रयविनिर्गतम् ॥ १८ ॥

ततस्तालशताद्योगी समावेशमवाप्नुयात् ।
ब्रह्मघ्नोऽपि हि सप्ताहात्प्रतिवासरमभ्यसेत् ॥ १९ ॥

एवमाविष्टदेहस्तु यथोक्तं विधिमाचरेत् ।
यः पुनर्गुरुणैवादौ कृतावेशविधिक्रमः[1] ॥ २० ॥

स वासनानुभावेन भूमिकाजयमारभेत् ।
गणनाथं नमस्कृत्य संस्मृत्य त्रिगुरुक्रमम् ॥ २१ ॥

पर्यन्त शक्ति के जाज्वल्यमान स्वरूप का स्वात्म में ही अनुसन्धान करने से ऊर्जा का जागरण हो जाता है। इसी मुद्रा में नमस्कार करने से तत्काल शैव समावेश सिद्ध होता है। इसके तुरन्त बाद प्राणायाम के कुम्भक में अवस्थित हो जाना चाहिये। इसी कुम्भक मुद्रा में पराबीज की तेजस्विता से दीप्त भाव का अनुस्मरण करना चाहिये। पराबीज के क ख त्रय[2] विनिर्गत तीन मात्रामय स्वरूप का ध्यान यहाँ विहित है ॥ १६-१८ ॥

इतनी प्रक्रिया पूरी कर लेने पर 'तालशत' प्रयोग से योगी समावेश में अधिष्ठित हो जाता है। इसे सभी लोग प्रयोग में ला सकते हैं। भले ही वह प्रयोग करने वाला ब्रह्म हत्यारा ही क्यों न हो, उसे भी सप्ताह के प्रारम्भिक दिन से प्रारम्भ कर प्रतिदिन करना चाहिये। इससे उसको भी परमीकरण का लाभ मिलता है ॥ १९ ॥

यह प्रक्रिया इसी प्रकार समावेश सिद्ध होकर सम्पन्न करनी चाहिये। विधि पूर्वक इसे करते रहने से ही लाभ सम्भव है। जो शिष्य पहले से ही गुरु शरण में रहकर सीखता है, वह धन्य हो जाता है ॥ २० ॥

ऐसा शिष्य वासना अर्थात् एतद्विषयक दृढ़ इच्छा शक्ति के बल पर इस भूमिका रूप तादात्म्योपलब्धि की प्रक्रिया में पहले से ही विजयी होने लगता है और उसका लक्ष्यभेद सिद्ध हो जाता है।

---

१. क० पु० विधिक्रमात् इति पाठः।

२ मा० वि० ८।६१, श्रोत० १५।३०२ छदनद्वय; जयरथ के अनुसार दोनों के मध्य में तत्त्व का अनुचिन्तन होना चाहिये (श्रोत० भाग ५ पृ० २४१)

सम्यगाविष्टदेहः स्यादिति ध्यायेदनन्यधीः ।
स्वदेहं हेमसंकाशं तुर्याश्रं वज्रलाञ्छितम् ॥ २२ ॥
ततो गुरुत्वमायाति सप्तविंशतिभिर्दिनैः ।
दिवसात्सप्तमादूर्ध्वं जडता चास्य जायते ॥ २३ ॥
षड्भिर्मासैर्जितव्याधिर्द्रुतहेमनिभो भवेत् ।
वज्रदेहस्त्रिभिश्चाब्दैर्नवनागपराक्रमः ॥ २४ ॥

इस प्रक्रिया में गणनाथ (देवीसुत-प्राणतनु-दर्शनशताग्र पूज्य गणपति) के प्रति अपनी प्रणति प्रारम्भ में करनी चाहिये। तत्पश्चात् परमेष्ठी गुरु, परमगुरु और दीक्षा गुरु का स्मरण करना भी आवश्यक है ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् सम्यक्‌रूप से समावेश अर्थात् शैव महाभाव से भावित होकर अनन्य भाव से आराध्य का चिन्तन करना चाहिये। अपना शरीर ताप्त दिव्य-स्वर्ण के समान सोचते हुए तुरीया वृत्ति का समाश्रय लेकर विराजमान हो जाना चाहिये। इसमें वज्रासन का प्रयोग आवश्यक माना जाता है। उस समय शिष्य को स्वदेह-सीमा समाप्त हो जाती है और वह वज्रलाञ्छित विष्णु की भी व्यापकता को पा लेता है ॥ २२ ॥

यह प्रयोग यदि शिष्य तीन सप्ताह अर्थात् २१ दिन भी नियमतः सतत करता रहे, तो वह स्वयं गुरुत्व के पद पर प्रतिष्ठित होने योग्य हो जाता है। उसके कुछ लक्षण इस प्रकार परिलक्षित होते हैं—सर्वप्रथम निरन्तर सात दिनों तक यदि इसको शिष्य करता रहे तो, उसमें जड़ता अर्थात् घोर तल्लीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ॥ २३ ॥

लगातार छह मास यदि विधिपूर्वक इस प्रक्रिया का पालन कर लिया गया तो यह निश्चय है कि, यह योगमार्गी शिष्य सर्वरोग विनिर्मुक्त हो जाता है। उसकी कान्ति सोने के समान आकर्षक हो जाती है। उसका शरीर वज्रवत् परम पुष्ट हो जाता है। अधिक क्या कहा जाय, तीन वर्षों तक अनवरत इस प्रक्रिया में विधिपूर्वक परिनिष्ठित हो जाने पर उसमें नौ हाथियों का बल आ जाता है तथा तद्वत् पराक्रमी हो जाता है ॥ २४ ॥

एषा ते पार्थिवी शुद्धा धारणा परिकीर्तिता ।
आद्या पूर्वोदिते देवि भेदे पञ्चदशात्मके ॥ २५ ॥

सव्यापारं स्मरेद्देहं द्रुतहेमसमप्रभम् ।
उपविष्टं च तुर्याश्रे मण्डले वज्रभूषिते ॥ २६ ॥

सप्ताहाद् गुरुतामेति मासाद्व्याधिविवर्जितः ।
षड्भिर्मासैर्धरान्तःस्थं सर्वं जानाति तत्त्वतः ॥ २७ ॥

त्रिभिरब्दैर्महीं भुङ्क्ते सप्ताम्भोनिधिमेखलाम् ।
द्वितीयः कथितो भेदस्तृतीयमधुना शृणु ॥ २८ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि देवि पार्वति ! यह विशुद्ध रूप से पार्थिवी-धारणा[1] का प्रयोग तुमसे बतलाया गया है। इसे सभी १५ धारणाओं में आद्या धारणा मानी जाती है। सबसे पहले इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

अपने प्रक्रिया-व्यापार में लगातार लगे रहते हुये स्वात्म शरीर को ताप्त-दिव्य काञ्चनवत् स्मरण करना चाहिये। वज्रासन पर विराजमान तुर्याश्रित वृत्ति सद्भाव संभूति दशा में वज्र मण्डल में बैठकर इसे सम्पन्न करना चाहिये ॥ २६ ॥

एक सप्ताह अनवरत इस प्रयोग के करने का परिणाम यह होता है कि, साधक गुरुत्व को उपलब्ध हो जाता है। यह गुरुता शारीरिक और बौद्धिक दोनों स्तरों पर होती है। अनवरत एक मास करते रहने का सुपरिणाम और भी अच्छा होता है। साधक समस्त व्याधियों से छुटकारा पा लेता है। इसी तरह अनवरत छहः मास तक इसे लगन के साथ करते रहने से साधक को पृथ्वी के अन्तराल में कहाँ क्या है ? कहाँ द्रव्य है ? जल खारा, मीठा, स्वादिष्ट, भरपूर या अल्प मात्रा में हैं, हड्डी या कोई अशुद्ध पदार्थ है क्या ? इन सबका ज्ञान हो जाता है ॥ २७ ॥

तीन वर्षों तक लगातार इस व्यापार का निर्वाह करते हुये मनोयोगपूर्वक इसे सिद्ध कर लेने पर साधक पृथ्वी का अधिपति बन जाता है। वह सामान्य क्षेत्र का ही पृथ्वीपतित्व नहीं प्राप्त करता अपितु, सात समुद्रों की मेखला से घिरी

---

१. श्रीत० आ० २२।२

तद्वदेव स्मरेद्देहं किंतु व्यापारवर्जितम् ।
पूर्वोक्तं फलमाप्नोति तद्वत्पातालसंयुतम् ॥ २९ ॥
चतुर्थे हृद्गतं ध्यायेद्द्वादशाङ्गुलमायतम् ।
पूर्ववर्णस्वरूपेण सव्यापारमतन्द्रितः ॥ ३० ॥
प्राप्य पूर्वोदितं सर्वं पातालाधिपतिर्भवेत् ।
तदेव स्थिरमाप्नोति निर्व्यापारे तु पञ्चमे ॥ ३१ ॥

पृथ्वी का अधिकार प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार यह दूसरे प्रकार का भेद वर्णित किया गया । अब तीसरे प्रकार के भेद के विषय में कहने जा रहा हूँ । इसे सुनो ॥ २८ ॥

इस भेद के अनुसार शरीर को पूर्वोक्त रूप में ही स्मरण करना चाहिये । अन्तर यही है कि, कोई अन्य व्यापार इस अवस्था में नितान्त वर्जित है । जैसे पहले कहा गया है कि, धरा का अन्तःस्थ ज्ञान उसमें हो जाता है, उसी तरह इस भेद साधन के कारण पाताल का भी ज्ञान साधक को हो जाता है ॥ २९ ॥

चतुर्थ भेद में शरीर के स्थान पर हृदय का ध्यान किया जाना चाहिये । यह ध्यान १२ अङ्गुल चौड़ा अर्थात् सारे ध्यान को हृदय के केन्द्र में ही समाहित होना चाहिये । द्वादशाङ्गुल आयत चक्रसाधना से सम्बद्ध शब्द है । आयत शब्द लम्बाई-चौड़ाई बराबर होने का सङ्केत दे रहा है । अङ्गुल का माप अङ्गुलियों के अग्रपर्व से होना चाहिये । इतने भाग में १२ अङ्गुल का गोलक ही केन्द्र होता है । जिसमें क्रमशः 'क' से 'ठ' पर्यन्त १२ अक्षर विन्यस्त होते हैं । इसका पूर्ण वर्ण 'क' है । इसका स्वरूप 'अ'कार है । यह अनुत्तर शिवपद का ही वाचक है । यहाँ उसी का ध्यान अपेक्षित है । यहाँ सव्यापार अतन्द्रित ध्यान की बात पर भी ध्यान देना चाहिये ॥ ३० ॥

इस भेद के धारण कर लेने से पाताल का भी अधिपति होना स्वाभाविक हो जाता है । यह सव्यापार ध्यान में ही होता है । यही प्रक्रिया निर्व्यापार भाव में सम्पन्न की जाय, तो यही पाँचवाँ भेद सिद्ध हो जाता है ॥ ३१ ॥

स्फुरत्सूर्यनिभं पीतं षष्ठे कृष्णं घनावृतम् ।
निस्तरङ्गं स्मरेत्तद्वत्सप्तमेऽपि विचक्षणः ॥ ३२ ॥
द्वयेऽप्यत्र स्थिरीभूते भूर्भुवःस्वरिति त्रयम् ।
वेत्ति भुङ्क्ते च लोकानां पुरोक्तैरेव वत्सरैः ॥ ३३ ॥
सकलं हृदयान्तस्थमात्मानं कनकप्रभम् ।
स्वप्रभाद्योतिताशेषदेहान्तमनुचिन्तयेत् ॥ ३४ ॥
सव्यापारादिभेदेन सप्तलोकीं तु पूर्ववत् ।
वेत्ति भुङ्क्ते स्थिरीभूते भेदेऽस्मिन्नवमे बुधः ॥ ३५ ॥

पञ्चम भेद में स्वात्म को प्रातःकालीन पीत और आकर्षक प्रकाश समन्वित सूर्य के रूप में करना चाहिये । छठें भेद में अन्तर यह है कि, अपने को घनावृत्त भाद्र अष्टमी के कृष्ण के समान कृष्णवर्णी ध्यान में देखना चाहिये । इसी तरह सव्यापार ध्यान के बाद सातवें भेद से निर्व्यापार निस्तरङ्ग ध्यान होता है ॥ ३२ ॥

जो साधक छठें और सातवें दोनों भेदों को स्थिर भाव से सिद्ध कर लेता है, वही इस आठवें भेद को सिद्ध करने का अधिकारी होता है। इसके द्वारा भूर्भुवः और स्वर्लोक का ज्ञाता हो जाता है। ये तीनों लोक इसी शरीर में अवस्थित हैं। यह गायत्री मन्त्र सिद्धयोगी भी जान लेता है। इसका सुखपूर्वक उपभोग भी करता है। इसमें भी कम से कम तीन वर्ष का समय लगाना आवश्यक है ॥ ३३ ॥

आंठवां सव्यापार चिन्तन वाला भेद होता है। इसमें शिव को हृदय में प्रतिष्ठित करते हैं और 'स्व' को स्वर्णवर्णी प्रभा से भूषित रूप में ध्यान किया जाता है। साधक एक तरह से स्वप्रभामण्डल में विराजमान रहता है। यह प्रकिया निर्व्यापार रूप से सम्पन्न करने पर नवां भेद हो जाता है। इससे सातों लोकों को जानने की क्षमता प्राप्त हो जाती है और उनका उपभोग करने का अधिकार भी उन साधकों को प्राप्त हो जाता है ॥ ३४-३५ ॥

रविबिम्बनिभं पीतं पूर्ववद्द्वितयं स्मरेत् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥ ३६ ॥

अधः प्रकाशितं पीतं द्विरूपं पूर्ववन्महत् ।
चिन्तयेन्मत्समो भूत्वा मल्लोकमनुगच्छति ॥ ३७ ॥

सबाह्याभ्यन्तरं पीतं तेजः सर्वप्रकाशकम् ।
चिन्तयेच्छतरुद्राणामधिपत्वमवाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

इत्येवं पृथिवीतत्त्वमभ्यस्यं दशपञ्चधा ।
योगिभिर्योगसिद्ध्यर्थं तत्फलानां बुभुक्षया ॥ ३९ ॥

योग्यतावशसंजाता[1] यस्य यत्रैव वासना ।
स तत्रैव नियोक्तव्यो दीक्षाकाले विचक्षणैः ॥ ४० ॥

आठवीं और नवीं विधि को सिद्ध कर लेने पर आराधक स्वात्म को पीतवर्णी सूर्यबिम्ब के समान दृष्टि से ध्यान करे। इससे ब्रह्मलोक को प्राप्ति होती है। यह निश्चित है ॥ ३६ ॥

जिसको सूर्य का पीतवर्णी बिम्ब ऊर्ध्व और अधः सर्वत्र प्रकाशमान हो जाय और उक्त द्वितय की (अर्थात् ऊर्ध्व और अधः की) निर्व्यापार सिद्धि हो जाय देवि ! वह साधक मेरे समान हो जाता है और मेरे लोक को प्राप्त करता हैं, यह निश्चय है ॥ ३७ ॥

सबाह्यान्तर सर्वप्रकाशक पीततेज का चिन्तन सव्यापार और व्यापारवर्जित भेद से सम्पन्न करने पर शतरुद्रों के सदृश आधिपत्य का अधिकारी हो जाता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार १५ भेद भिन्न पृथ्वीतत्त्व का अभ्यास करने का निर्देश शास्त्र देता है। योगियों में ज्ञानसिद्धि की मुमुक्षा की दृष्टि हो, या सामान्य साधक की बुभुक्षा दृष्टि से उपभोग की आकांक्षामयी सिद्धि हो, सबके लिये यह लाभप्रद है ॥ ३९ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, विचक्षण आचार्य का यह कर्त्तव्य है कि, दीक्षा के प्रसङ्ग में वह इस विषय पर अवश्य विचार कर ले कि, जिस साधक की साधना और संस्कार-शुद्धि के आधार पर जिस स्तरीयता की योग्यता उसे प्राप्त हो गयी

---

1. क० पु० वशगा जातेति पाठः ।

योे यत्र योजितस्तत्त्वे स तस्मान्न निवर्तते ।
तत्फलं सर्वमासाद्य शिवयुक्तोऽपवृज्यते ॥ ४१ ॥
अयुक्तोऽप्यूर्ध्वसंशुद्धिसंप्राप्तभुवनेशतः ।
शुद्धाच्छिवत्वमायाति दग्धसंसारबन्धनः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे प्रथमधारणाधिकारो द्वादशः ॥ १२ ॥

है, और उसकी जिस तत्त्ववादिता की ओर वासना अर्थात् प्रवृत्तिमयी रुझान हो, उसी में उसको नियुक्त करे[1]। वह अपने अभिलषित लक्ष्य में लगाने के योग्य होता है। विपरीत व्यवहार से विपरीत फल की प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

इस प्रकार गुरु द्वारा तत्त्व में नियोजित कर देने पर वह वहाँ से निवर्त्तित नहीं होता। यह एक प्रकार का सिद्धान्त वाक्य ही है कि, "जो जहाँ नियुक्त कर दिया जाता है, वहाँ से निवर्त्तित नहीं हो पाता।"

जिस तत्त्व में वह नियोजित हो जाता है, वह श्रीशिव-भक्तियोग सम्पन्न साधक उस तत्त्व का पूरा फल भोग लेने के बाद ही निवृत्त होकर अपवर्ग की प्राप्ति के मार्ग का अधिकारी परिव्राजक[2] हो जाता है ॥ ४१ ॥

अयुक्त होने पर भी ऊर्ध्व श्रेणी को संशुद्धि के आधार पर किसी साधक का यह सौभाग्य होता है कि, वह भुवनेश पद का अधिकारी हो जाता है। उस अवस्था में भी अनवरत यदि वह साधक आराधना में संलग्न रहता है और अपना परिशुद्ध स्तर बनाये रखता है, तो इसका सुपरिणाम उसे अवश्य प्राप्त होता है। भगवान् कहते हैं कि, इस साधना से उसके संसार के सभी बन्धन ध्वस्त हो जाते हैं। शिवतत्व संप्राप्ति की यह पहली और अन्तिम भी यही शर्त्त है कि, उसे दग्ध संसार-बन्धन होना ही चाहिये। ऐसा साधक हो शिव के महासद्भाव को संभूति से भूषित होता है ॥ ४२ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
प्रथमधारणाधिकार नामक बारहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १२ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

---

१. श्रीत० २२।१ ; २. तदेव २२।१

अथ त्रयोदशोऽधिकारः

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणां वारुणीमिमाम् ।
यया संसिद्धयोगेन जलान्ताधिपतिर्भवेत् ॥ १ ॥

जलान्तःस्थं[1] स्मरेद्देहं सितं शीतं सुवर्तुलम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं योगी नान्यदस्तीति चिन्तयेत् ॥ २ ॥

त्रयोदशोऽधिकारः

[१३]

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, हे देवि पार्वति ! अब मैं यहाँ से नवीन वारुणी-धारणा के सम्बन्ध में वर्णन करूँगा। वारुणी धारणा के योग के सम्यक् रूप से सिद्ध हो जाने पर जल के आन्तर परिवेश का आधिपत्य योगी को प्राप्त हो जाता है, जैसे पार्थिव धारणा से पार्थिवतत्त्व का रहस्य योगी को ज्ञात हो जाता है, उसी तरह जलतत्त्व के परिज्ञान के साथ साधक जलीयधारणा सिद्ध हो जाने पर जलशक्ति में स्वात्म को धारित कर सकता है ॥ १ ॥

"मैं जल के भीतर हूँ" इस स्थिति में अपने शरीर को पीत, श्वेत, पीत और सुवर्त्तुल ध्यान करे। वह यह अनुचिन्तन करे कि, मेरे चतुर्दिक् बाह्य या आभ्यन्तर कोई दूसरा नहीं है अर्थात्, स्वात्म-प्राधान्य युक्त हूँ। मेरे अन्यत् कोई वस्तु नहीं है, इस अनुचिन्तन में निरत हो जाये ॥ २ ॥

---

१. जलात्मकं स्मरेदिति पाठः स्वच्छन्दे प्रमाणितः ।

एवमभ्यस्यतस्तस्य सप्ताहात् क्लिन्नता भवेत् ।
पित्तव्याधिपरित्यक्तो मासेन भवति ध्रुवम् ॥ ३ ॥

स्निग्धाङ्गः स्निग्धदृष्टिश्च नीलकुञ्चितमूर्धजः ।
भवत्यब्देन योगीन्द्रस्त्रिभिर्वर्षति मेघवत् ॥ ४ ॥

इत्येषा वारुणी प्रोक्ता प्रथमा शुद्धधारणा ।
अधुना संप्रवक्ष्यामि भेदैर्भिन्नामिमां पुनः ॥ ५ ॥

पूर्ववच्चिन्तयेद्देहं सव्यापारं सितं स्वकम् ।
जलोपरि स्थितं देवि तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ६ ॥

इस प्रकार लगातार एक सप्ताह तक अनुचिन्तनरत योगी को क्लिन्नता की अनुभूति होती है। क्लिन्नता एक प्रकार की आर्द्रता होती है। प्रतीत होता है कि, सर्वत्र गीलापन आ गया है। एक महीने तक लगातार इसी प्रकार चिन्तन करने से योगी पित्तदोष रहित हो जाता है। यह निश्चित सत्य है। संशय के लिये इस कथन में कोई अवकाश नहीं। यह होता ही है ॥ ३ ॥

एक वर्ष तक इसी ध्यान में निमग्न रहने का यह परिणाम होता है कि, योगी स्निग्ध-दृष्टि सम्पन्न हो जाता है। उसके सारे अंग भी स्निग्ध हो जाते हैं। उसकी केशराशि अँगूठिया और काली हो जाती है। ऐसा योगिराज यदि निरन्तर तीन वर्षों तक ऐसी ध्यानावस्था में निमग्न रहने की तपस्या में सिद्ध हो जाय, तो उसकी शक्ति का इस प्रकार संवर्धन हो जाता है कि, वह मेघ की तरह वर्षा करने में समर्थ हो जाता है ॥ ४ ॥

यह पहली शुद्ध वारुणी-धारणा मानी जाती है। इसके भी कई प्रकार के भेद होते हैं। भेद-भिन्नतामयी इस धारणा के सम्बन्ध में मैं यहाँ बतलाने जा रहा हूँ। इसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥ ५ ॥

पूर्व की तरह अपने शरीर को जिस समय योगी श्वेतवर्णी अनुभूत करने की प्रक्रिया में निरत रहता हो, उसी समय अपने शरीर को सव्यापार भी अनुभव करें। साथ ही यह भी सोचना प्रारम्भ कर दिया करें कि, मैं जल के ऊपर अवस्थित हूँ। योगसाधक की अन्तरात्मा भी जल तत्त्व गत हैं—ऐसी अनुभूति से भर उठे। यह उसकी जलीय धारणा का दूसरा रूप है ॥ ६ ॥

सप्ताहान्मुच्यते रोगैः सर्वैः पित्तसमुद्भवैः ।
षण्मासाज्जायते स्थैर्यं यदि तन्मयतां गतः ॥ ७ ॥

जलावरणविज्ञानमब्दैरस्य त्रिभिर्भवेत् ।
निर्व्यापारप्रभेदेऽपि सर्वत्र वरुणोपमः ॥ ८ ॥

स याति वारुणं तत्त्वं भूमिकां क्रमशोऽभ्यसेत् ।
पूर्ववत्कण्ठमध्यस्थमात्मानं द्वादशाङ्गुलम् ॥ ९ ॥

संस्मरञ्जलतत्त्वेशं प्रपश्यत्यचिराद्ध्रुवम् ।
तद्दृष्टिः स्थिरतामेति स्वरूपे पञ्चमे स्थिरे ॥ १० ॥

लगातार एक सप्ताह पर्यन्त इस धारणा में निरत रहने का यह सुपरिणाम होता है कि, पित्त से उत्पन्न समस्त रोगों का स्वतः निराकरण हो जाता है। रोग ग्रस्त पित्त रोगों से छुटकारा पा लेता है। छहः माह में स्थैर्य उपलब्ध हो जाता है। हाँ इसमें शर्त्त यह है कि, साधक योगी की तन्मयता हो। तन्मयता सिद्ध होने पर ही स्थिरता की उपलब्धि हो सकती है ॥ ७ ॥

जलावरण विज्ञता थोड़ी कठिन समस्या से संभव हो पाती है। इसमें तीन साल का तादात्म्य आवश्यक होता है। यह क्रिया भी सव्यापार और निर्व्यापार दो प्रकार की होती है। निर्व्यापार रूप से इसे साधित करने पर योगी वरुण के समान हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं ॥ ८ ॥

क्रमशः वारि सम्बन्धिनी वारुणी धारणा का अभ्यास करना योगी के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि कहीं तनिक भी लापरवाही या प्रमाद वा उपेक्षा हुई तो प्रतिकूल प्रभाव की सम्भावना भी की जा सकती है। इसीलिये जलीय धारणा में क्रमिकता पर निरन्तर बल प्रदान किया गया है। इस प्रकार निरन्तर नियमित रूप से अभ्यासरत योगी के विषय में भगवान् कहते हैं कि, इसके अभ्यास से सिद्धयोगी वारुण तत्त्व के रहस्य का विशेषज्ञ और रसज्ञ हो जाता है।

इसके साथ एक दूसरे रहस्य का भी उद्घाटन कर रहे हैं। उनका कहना है कि, पूर्वोक्त विधि का अनुसरण करते रहने से और कण्ठमध्यस्थ अर्थात् विशुद्ध चक्र में द्वादशाङ्गुल प्रमाण जलतत्त्वेश वरुण का दर्शन निश्चय रूप से प्राप्त हो जाता है। इस पञ्चम चक्र में स्वरूप सद्भाव का स्थैर्य सिद्ध हो जाता है। साथ ही दृष्टिस्थैर्य भी सिद्ध हो जाता है ॥ ९-१० ॥

द्विभेदेऽपि स्थिरीभूते चन्द्रबिम्बे घनावृते ।
तत्समानत्वमभ्येति ततः सकलरूपिणी ॥ ११ ॥

चिन्त्यते देहमापूर्य सितवर्णेन तेजसा ।
तदेव स्थिरतामेति तत्र सुस्थिरतां गते ॥ १२ ॥

घनमुक्तेन्दुबिम्बाभस्ततः समनुचिन्तयेत् ।
तत्पतित्वं समभ्येति द्वितीयं स्थिरतां व्रजेत् ॥ १३ ॥

अतः प्रकाशकं शुक्लं ततस्तेजो विचिन्तयेत् ।
विद्येश्वरत्वमाप्नोति जलावरणसंभवम् ॥ १४ ॥

यह प्रक्रिया भी सव्यापार और निर्व्यापार रूप से दो रूपों वाली मानी जाती है। दोनों दृष्टियों से सिद्ध स्थैर्य योगी घनावृत चन्द्रबिम्ब में भी चन्द्रबिम्ब को घनावरण का वेधन कर देख पाने में ही समर्थ नहीं होता, वरन् उसमें दृष्टि-स्थैर्य प्राप्त कर लेता है। इस शक्ति के कारण वह चन्द्रमरीचि-रोचिष्णु हो जाता है।

इतनी प्रक्रिया पूरी कर लेने और इन सिद्धियों से समन्वित हो जाने पर अपने शरीर को सितवर्णी तेजस्विता से ओत-प्रोत कर लेने पर सकलरूपिणी चान्द्र-स्थिरता का अनुचिन्तन होने लगता है। यह ध्यातव्य है कि, वरुण तत्त्व सोमतत्त्वसे ही सर्वथा सम्बद्ध है।

इस प्रकार वहाँ सुस्थिरता प्राप्त कर लेने पर अब घनमुक्तचन्द्र बिम्ब का आभासिक अनुभव और अनुचिन्तन करना चाहिये। इस तरह चन्द्रेश्वर पदवी को वह योगी प्राप्त कर लेता है। यह उसकी दूसरे प्रकार की स्थिरता की उपलब्धि होती है ॥ ११-१३ ॥

इसके बाद अत्यन्त प्रकाशमान शुक्ल तेज का चिन्तन करना चाहिये। इससे विद्येश्वरत्व की उपलब्धि होती है। इस सिद्धि का यही क्रम है। पहले वारुणतत्त्वानुभूति, फिर चान्द्रतत्त्व की उपलब्धि और अन्त में विद्येश्वर की भी की उपलब्धि। वारुणी जलावरण-धारणा का यह क्रमिक चमत्कार है॥ १४ ॥

स्वदेहव्यापिनि ध्याते तत्रस्थे शुक्लतेजसि ।
सर्वाधिपत्यमाप्नोति सुस्थिरे तत्र सुस्थिरम् ॥ १५ ॥

ध्येयतत्त्वसमानत्वमवस्थात्रितये स्थिरे ।
द्वितीये च तदीशानसंवित्तिरुपजायते ॥ १६ ॥

द्वितीयेऽन्यत्र तत्तुल्यः स्थिरो भवति योगवित् ।
षट्के सर्वेशतामेति द्वितीयेऽन्यत्र तु च्युतिः ॥ १७ ॥

उस स्थिति में ही शुक्ल तेजस्विता को स्वदेह में व्याप्त अनुभव करना चाहिये। इस प्रकार देह और तैजस् आलोक का समरस ध्यान यदि सिद्ध हो जाये और स्थिरता में भी सम्यक् रूप की सुस्थिरता सिद्ध हो जाती है, तो ऐसा सिद्धयोगी सर्वाधिपत्य विभूषित हो जाता है ॥ १५ ॥

सर्वोच्च ध्येय तत्त्व की भी इस प्रक्रिया में सिद्धि होती है। तीनों अवस्थाओं की सिद्धि के उपरान्त ही यह सिद्धि मिलती है। ध्येततत्त्व की समानता की उपलब्धि कोई साधारण दशा नहीं होती वरन् इसका आध्यात्मिक महत्त्व भी है। यद्यपि ये सिद्धियाँ भौतिक जगत् के स्तर की ही हैं और बुभुक्षु साधकों की साधना के विषय हैं फिर भी, श्रेयः की ओर भी प्रवृत्त करने की सामर्थ्य रखती हैं। ध्येयतत्त्व की इस द्वितीय स्थिति में इस तत्त्व के ईशानत्व की सिद्धि मिलती हैं ॥ १६ ॥

द्वितीय अर्थात् निर्व्यापार दशा में योगी ईशानतुल्य और स्थिर हो जाता है। इस क्रम में योगी सर्वेश्वर भाव की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। (मेरी दृष्टि से त्रितय के बाद चतुर्थ और पञ्चम का उल्लेख होना चाहिये। जबकि यहाँ लेखक की गलती से श्लोक १६ की दूसरी अर्धाली में भी द्वितीय और श्लोक १७ की प्रथम अर्धाली के आदि में भी द्वितीय छपा है। षट्क शब्द के प्रयोग की चरितार्थता तभी हो सकती है। १६वें श्लोक के द्वितीय स्थान पर चतुर्थ और १७वें स्थान पर पञ्चम होना चाहिये)।

एक दूसरा पक्ष यह भी है कि, अवस्था त्रितय में—१. जलतत्त्वेश्वरत्व प्राप्ति, २. चन्द्रेश्वरत्व प्राप्ति और ३. सर्वाधिपत्य प्राप्ति मानी जा सकतीं हैं। ये तीनों अवस्थायें निर्व्यापार और सव्यापार भेद से अवस्था षट्क कही जाती हैं। पहली जलतत्त्वेश्वरत्व की संवित्तिरूपा निर्व्यापार दशा श्लोक १६ में प्रयुक्त द्वितीय

इत्ययं सर्वतत्त्वेषु भेदे पञ्चदशात्मके ।
ज्ञेयो विधिर्विधानज्ञैः फलपञ्चकसिद्धिदः ॥ १८ ॥
तत्फलान्तरमेतस्मादुक्तं यच्चापि वक्ष्यते ।
अनुषङ्गफलं ज्ञेयं तत्सर्वमविचारतः ॥ १९ ॥
इत्येवं वारुणी प्रोक्ता प्रभेदैर्दशपञ्चभिः ।
योगिनां योगसिद्ध्यर्थमाग्नेयीमधुना शृणु ॥ २० ॥

दशा है। चन्द्रेश्वरत्व श्लोक १७ में प्रयुक्त द्वितीय का अर्थ है। इस तरह अवस्था षट्क में सर्वेश्वरता की उपलब्धि होती है। इसके बाद पुनः द्वितीय शब्द प्रयुक्त है। इस दशा में च्युति होती है। इसका तात्पर्य है कि, सर्वेश्वरत्व में सव्यापारता ही माध्यम है और स्वाभाविक है। इसमें निर्व्यापारता से सर्वेश्वरत्व अखण्डित हो जाता है ॥ १७ ॥

इस तरह वारुणी धारणा भी पार्थिव धारणा की तरह पाञ्चदश्य अवस्थामयी होती है—यह सिद्ध हो जाता है। यह पन्द्रह भेदमयता और इसकी विधियाँ विधानज्ञ विचक्षण आचार्यों को ज्ञात होती हैं। इनसे पाँच सुपरिणाम (सुफल) प्राप्त होते हैं। छठीं निर्व्यापारता से च्युति कुफलरूपा ही है। इस तरह पाँच सुफलों को इस तरह विभाजित किया जा सकता है—१. जलतत्त्वेश्वरत्व, २. तत्संवित्ति, ३. चन्द्रेश्वरत्व, ४. तत्संवित्ति और ५. सर्वाधिपत्य। सर्वाधिपत्य में स्वभावतः संवित्ति भी निहित होती है। इसके अतिरिक्त फलान्तर भी विचारणीय हैं ॥ १८-१९ ॥

पन्द्रह भेद भिन्न यह वारुणी नामक महत्त्वपूर्ण धारणा यहाँ तक वर्णित की गयी है। महाभारत काल में दुर्योधन को यह विद्या सिद्ध थी। उसका वर्णन महाभारत में सम्बद्ध पर्व में वर्णित है। यह आज भी है। अभी विगत वर्ष ब्रह्मलीन हुए देवरहा बाबा नाम के महात्मा को यह विद्या सिद्ध थी। प्रयाग कल्पवास के समय अपने आश्रम शिविर से तीन किलोमीटर दूर वारुणी विद्या के बल पर त्रिवेणी संगम का स्नान कर लेते और पुनः आश्रम में चले जाते थे। आज कल इन धारणाओं का प्रचार नहीं है। योगी चाहें, तो इसे स्वयं सिद्ध कर सकते हैं। अब यहाँ से आग्नेयी धारणा के सम्बन्ध में भगवान् अपने विचार व्यक्त करेंगे ॥ २० ॥

त्रिकोणं चिन्तयेद्देहं रक्तज्वालावलीधरम् ।
सप्तभिर्दिवसैर्देवि तैक्ष्ण्यमस्योपजायते ।। २१ ।।
वातश्लेष्मभवैः सर्वैर्मासान्मुच्यति साधकः ।
निद्राहीनश्च बह्वाशो स्वल्पविण्मूत्रकृद्भवेत् ।। २२ ।।
इच्छया निर्दहत्यन्यत्स्पृष्टवस्तु ऋतुक्षयात् ।
अब्दादग्निसमो भूत्वा क्रीडत्यग्निर्यथेच्छया ।। २३ ।।

आग्नेयी धारणा के आयोजन का सबसे पहला काम शरीर को त्रिकोण रूप में चिन्तन करने का है। वह त्रिकोणात्म चिन्तन लाल लपटों से सुशोभित लग रहा होता है। लगातार वज्रासन पर बैठकर इसका अभ्यास करना आवश्यक है। इस प्रक्रिया में रत रहकर निरन्तर नियमित अभ्यास करने वाले साधक को सात दिनों के अभ्यास के बाद ही सामान्यतया यह अनुभूति होने लग जाती है कि, मुझमें तीक्ष्णता का उद्रेक हो रहा है ।। २१ ।।

इसी तरह एक मास पर्यन्त निरन्तर आग्नेयी साधना संलग्न साधक वात रोग से उत्पन्न दोषों से छुटकारा पा जाता है। वात रोग ८० प्रकार के होते हैं, यह आयुर्वेद में कहा गया है। यों तो प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान मरुत् से क्रमशः पूरण, धारण, प्रस्पन्दन, उद्वहन और विवेचन क्रिया की विकृति से यह रोग उत्पन्न होता है। आग्नेयी धारणा में इन पाँचों स्थितियों में उत्पन्न विकार शान्त हो जाते है।

इसी तरह श्लेष्मा अर्थात् कफ शरीर में—१. सन्धिकृत्, २. स्नेहकृत्, ३. रोपणकृत् (घाव भरने से सम्बद्ध), ४. बोधकृत् और ५. पूरणकृत् पाँच प्रकार के होते हैं। यह शरीर का बड़ा उपकार करता है। इसमें आये दोष भी आग्नेयी धारणा से शान्त हो जाते हैं। केवल इतना ही नहीं अपितु साधक निद्राजित् हो जाता है। वह जो कुछ भोजन करेगा, तुरत परिपाक होगा। परिणामतः बहुत अधिक मात्रा में भोजन करने लगता है। उसके मल-मूत्र में भी कमी आ जाती है ।। २२ ।।

इसी तरह एक वर्ष अनवरत आग्नेयी धारणा में संलग्न साधक इतना तेजस्वी हो जाता है और उसकी इच्छा शक्ति इतनी आग्नेय हो जाती है कि, उसकी इच्छा मात्र से ही अन्य स्पष्ट वस्तु में आग लग जाती है। उसके सामने किसी ऋतु का कोई प्रभाव नहीं रहता। ग्रीष्म की तो कोई बात ही नहीं, वर्षा और शीत भी निष्प्रभावी सिद्ध होते हैं। इसे ही ऋतु का क्षय कहते हैं। मानो वह

सर्वं निर्दहति क्रुद्धः सशैलवनकाननम् ।
त्रिकोणमण्डलारूढमात्मानमनुचिन्तयेत् ॥ २४ ॥
सव्यापारादिभेदेन सर्वत्रापि विचक्षणः ।
साप्ताहाद्व्याधिभिर्हीनः षण्मासादग्निसाद्भवेत्[1] ॥ २५ ॥
त्रिभिरब्दैः स संपूर्णं तेजस्तत्त्वं प्रपश्यति ।
यच्छक्तिभेदे यद्दृष्टं तत्तद्भेदे स्थिरीभवेत् ॥ २६ ॥
पूर्ववत्तालुमध्यस्थमात्मानं ज्वलनप्रभम् ।
ध्यायन्प्रपश्यते तेजस्तत्त्वेशानखिलान्क्रमात् ॥ २७ ॥

व्यक्ति अग्नितुल्य ही हो जाता है। हिन्दी में एक मुहावरा है, "वह आग से खेलता है"। यह उक्ति उसमें अन्वर्थ रूप में चरितार्थ हो जाती है। वह स्वेच्छा से जिस तरह चाहे, आग से खेलने में समर्थ हो जाता है ॥ २३ ॥

उसके क्रुद्ध हो जाने की कल्पना भी रोमाञ्च पैदा करती है। उसकी भौंहों की कौंध में ज्वाला ताण्डव करती है। वह चाहे तो पहाड़ों में दाह भरे दावानल का रौद्र रोष भर दे, जङ्गलों को जला डाले और काननों को कृपीटयोनि (अग्नि) का रूप दे दे।

स्वात्म को त्रिकोण मण्डल में अधिष्ठित मानकर ऐसा आग्नेय पुरुष अग्नि के अनुचिन्तन में रत रहते हुए अग्निबीज के समावेश में सिद्ध होता है।

वह निर्व्यापार और सव्यापार किसी अवस्था में रहे, सर्वत्र अपने तेज की ऊर्जा का प्रसार करता है। एक सप्ताह में रोग रहित और छह मास में अग्नि बन जाता है ॥ २४-२५ ॥

तीन वर्षों में उसकी योग्यता का इतना विकास हो जाता है कि, वह तेजस्तत्त्व का यथार्थ दर्शन पा जाता है। भौतिक तेज तो तेजस्तत्त्व के बाह्य और स्थूल रूप हैं। इसके सूक्ष्म आन्तर मूलतत्त्व का दर्शन परम दुर्लभ होता है। उस स्तर पर पहुँच जाता है। जिस शक्ति के भेद अर्थात् विस्फोट में वह समर्थ होता है, उसके आन्तर रूप के दर्शन से वह कृतार्थ होता है। इसके बाद वहीं स्थिर भी होने की शक्ति से संवलित हो जाता है ॥ २६ ॥

इसी क्रम में जब वह तालुमध्य देश में अवस्थित होता है, तो उसका स्वरूप और भी विकास को प्राप्त हो जाता है। वह वहाँ स्वात्म का अग्नि के समान

---

1. ग० पु० अग्निवद्भवेदिति पाठः।

धूमाक्रान्ताग्निसंकाशं रविबिम्बसमाकृतिम् ।
ध्यायंस्तन्मध्यतस्तेजस्तत्त्वेशसमतां व्रजेत् ॥ २८ ॥

प्रभाहततमोजालं विधूमाग्निसमप्रभम् ।
तत्रैव सकलं ध्यायेत्तत्पतित्वमवाप्नुयात् ॥ २९ ॥

दिवसाग्निप्रभाकारं तत्र तेजो विचिन्तयेत् ।
तन्मन्त्रेश्वरतामेति[1] तत्र सुस्थिरतां गते ॥ ३० ॥

ही अनुचिन्तन करता है। उस अवस्था में वह अग्नितत्त्व के अधिष्ठाता अग्नीश्वर का दर्शन पाकर कृतार्थ होता है। अग्नितत्त्व के जितने भेद और स्वरूप हैं, उन के स्वामियों का दर्शन करने में समर्थ हो जाता है ॥ २७ ॥

अग्नि है। वह धुएँ से आक्रान्त है। यह एक शब्द चित्र है। इसके अनुसार ध्यान करने पर धूम गौण रहता है। अग्नि का ही प्राधान्य अनुभूत होता है। सोचते हम अग्नि को ही हैं। भले ही धूमाधिक्य से उसका दीख पड़ना प्रभावित रहता है।

इसी प्रकार रविबिम्ब का ध्यान करते समय उसके चारों ओर कुहासे से आच्छन्न भी होने पर ध्यान रविबिम्ब पर ही रहता है।

ये दो परिस्थितियाँ समान रूप से अनुभूत होती हैं। दोनों में धूमावृत या धूसरतावृत तेज का ही दर्शन होता है। इस प्रकार के दर्शन का अभ्यास करते-करते साधक तत्त्वेश्वर की समानता प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

इसी ध्यान क्रम में तेजस्विता की विशिष्ट चमक से सारा आच्छादक अन्धकार मण्डल विखण्डित होकर खत्म हो जाता है। अग्नि का निर्धूम तप्त विग्रह दृष्ट हो जाता है। इन्हीं दो उदाहरणों की तरह तैजसिक तत्त्वदर्शन के निरवच्छिन्न और अनाच्छादित मूल तेज का दर्शन अभ्यास से सिद्ध हो जाता है। भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, साधक को इसी तरह का अभ्यास करना चाहिये। इससे वह तेज के स्वामी मूल अग्नितत्त्व की तात्त्विकता प्राप्त कर लेता है ॥ २९ ॥

तेज के ध्यान के अन्यान्य प्रकारों के प्रसङ्ग में भगवान् यहाँ दिवसाग्नि प्रभा के भास्वर स्वरूपवान् तैजस् पुरुष के अनुचिन्तन का निर्देश कर रहे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, साधक इस चिन्तन साधना से तन्मात्रामयी समता प्राप्त कर लेता है। तन्मात्रायें पदार्थ की वास्तविक मौलिकता मानी जाती हैं। मन की

१. ग० पु० तन्मन्त्रसमतामिति पाठः

मणिप्रदीपसंकाशं तेजस्तत्र प्रकाशयेत् ।
मन्त्रेशेशत्वमभ्येति योगी तन्मयतां गतः ॥ ३१ ॥

सबाह्याभ्यन्तरं तेजो ध्यायन्सर्वत्र तद्गतम् ।
तस्मान्न च्यवते स्थानादासंहारमखण्डितः ॥ ३२ ॥

संहारे तु परं शान्तं पदमभ्येति शाङ्करम् ।
इत्येषा पञ्चदशधा कथिता वह्निधारणा ॥ ३३ ॥

आश्रय भी कहलाती हैं। यहाँ मात्रा के स्थान पर मन्त्र पाठ भी मिलता है। इस पक्ष में मन्त्र समता भी अर्थ किया जा सकता है। चाहे तन्मात्र समता हो या मन्त्रसाम्य हो, दोनों अवस्थायें सूक्ष्मता की प्राप्ति के साथ परम चरम तेजस्विता की ओर अग्रसर होने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। हाँ शर्त्त यह है कि, उस प्रभा में स्थिरता पूर्वक प्रतिष्ठित होकर स्थिर चिन्तनरत हो जाय ॥ ३० ॥

उस अवस्था में मणि प्रदीप के समान तेज का प्रकाशन करना चाहिये। अर्थात् मणिप्रदीप के प्रकाश के समान प्रकाश का अनुचिन्तन होना चाहिये। इस प्रक्रिया में परिनिष्ठित हो जाने पर योगी यदि उसकी तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तो मन्त्रेश्वर के समान हो जाता है। यहाँ मन्त्रेश्वर की चर्चा यह सिद्ध करती है कि, श्लोक ३० में मात्रा के स्थान पर 'मन्त्र' पाठ ही उपयुक्त और प्रासङ्गिक है ॥ ३१ ॥

अपने भीतर और चारों ओर बाहर सर्वत्र तेज के ध्यान में निमग्न हो जाना चाहिये। यह एक पृथक् साधना का विधान है। इसी में समाविष्ट सा हो जाय। समाविष्ट या तन्मय हो जाना ही 'तद्गत' अवस्था मानी जाती है। इस ध्यान और तन्मयत्व का फल महत्त्वपूर्ण होता है। भगवान् कहते हैं कि, ऐसा साधक उस तैजस् स्तर से कभी भी प्रच्याव प्राप्त नहीं करना। मृत्यु पर्यन्त अखण्ड सद्भाव पूर्वक वहीं पर प्रतिष्ठित रहता है ॥ ३२ ॥

मृत्यु के उपरान्त साधक परमशान्त शाङ्कर पद को प्राप्त कर लेता है। जीवन का यही लक्ष्य है कि, अन्त में शैवी गति उपलब्ध हो जाय। इस लक्ष्य को पा लेने में यह आग्नेय साधक सफल हो जाता है। इस प्रकार १५ प्रकार की यह आग्नेयी धारणा जो आगम में मान्य है, यहाँ वर्णन का विषय बनायी गयी है ॥ ३३ ॥

स्वदेहं चिन्तयेत्कृष्णं वृत्तं [1]षट्बिन्दुलाञ्छितम् ।
चलं सचूचूशब्दं च वायवीं धारणां श्रितः ।। ३४ ।।

चलत्वं कफजव्याधिविच्छेदाद्वायुवद्भवेत् ।
षण्मासमभ्यसेद्योगी[2] तद्गतेनान्तरात्मना ।। ३५ ।।

योजनानां शतं गत्वा मुहूर्तादित्यखेदतः[3] ।
वत्सरैस्तु त्रिभिः साक्षाद्वायुरूपधरो भवेत् ।। ३६ ।।

यहाँ से वायवी धारणा का वर्णन किया जा रहा है। वायवी धारणा भी योगियों की महत्त्वपूर्ण धारणा है। पहले के महान् योगी इस धारणा में भी सिद्ध होते थे। आजकल इसका प्रचार नहीं के बराबर है। शास्त्र इसके समर्थक हैं और आदेश देते हैं कि, योगमार्ग के पथिक इस पद्धति को भी अपनायें। इस धारणा के वर्णन प्रसङ्ग में सर्वं प्रथम षड्बिन्दु सदृश आकार के सदृश कृष्ण वृत्त के ध्यान की बात कही गयी है। अपना शरीर ही षड्बिन्दु सदृश कृष्णवृत्त सदृश मानकर यह ध्यान होता है। यहाँ षड्बिन्दु शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। वर्षा ऋतु मे विभिन्न प्रकार के कीट दिखायी पड़ते हैं। इन में काले रंग के एक गोल कीट को भोजपुरी भाषा में 'छबुन्ना' कहते हैं। छबुन्ना षड्बिन्दु का ही अपभ्रंश रूप है। यह काला, जहरीला, कृष्ण पीठकमठ पर छह बिन्दु वाला और गोल कीट होता है। यह दब जाने पर जहरीला धुआँ फेंकते हुए चँ-चूँ शब्द भी बोलता है। वृत्त षट्पञ्च लाञ्छन पाठ के अनुसार छह या पाँच रेखाओं से युक्त गोल कीट अर्थ किया जा सकता है।

योगी अपने शरीर को काले रंग वृत्ताकार तथा उसके समान चू-चू शब्द करता हुआ चञ्चल कीट के रूप ध्यान करे। कुम्भक लगा कर बैठे और ध्यान कृष्णवृत्तवत् हो, तो एक चमत्कार घटित होता है। यह वायवी धारणा की पहली प्रक्रिया मानी जाती है ।। ३४ ।।

इस चञ्चलात्मक स्पन्दमानता में वायवीय गतिशीलता की सुगन्ध आ जाती है। इससे कफ जन्य व्याधियों का विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है। परिणामतः साधक वायु की तरह भारहीन हो जाता है। इसको छह मास तक लगातार

१. क० पु० वृत्तषट्पञ्चलाञ्छनमिति पाठः ;
२. ग० पु० अभ्यसन्योगीति पाठः ;
३. क० पु० मुहूर्तादेव खेदत इति पाठः

चूर्णयत्यद्रिसंघातं[1] वृक्षानुन्मूलयत्यपि ।
क्रुद्धश्चानयते[2] शक्रं सभृत्यबलवाहनम् ॥ ३७ ॥
नीलाञ्जननिभं देहमात्मीयमनुचिन्तयेत् ।
पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति षण्मासान्नात्र संशयः ॥ ३८ ॥
त्र्यब्दात्प्रपश्यते वायुतत्त्वं तन्मयतां गतः ।
भ्रुवोर्मध्ये स्मरेद्रूपमात्मनाऽञ्जनसंनिभम् ॥ ३९ ॥
पश्यते वायुतत्त्वेशानशुद्धानखिलानपि ।

संलग्नता पूर्वक लग कर अभ्यास करने से चमत्कार हो जाता है। ऐसा साधक क्षण भर में सौ योजन दूर जा और आ सकता है। उसके इस आने जाने में कोई आयास नहीं होता। आयास जन्य खेद की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। तीन साल तक इस धारणा की धृति से साधक स्वयं वायुरूप ही हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

उसमें अद्भुत शक्ति का आधान हो जाता है। वह चाहे तो पहाड़ों में हड़कम्प मचा सकता है। उन्हें चाहे तो तोड़ फोड़ कर चूर्ण कर सकता है। बड़े-बड़े वृक्षों को चुटकी बजाते उखाड़ सकता है। यदि वह क्रोध से भर जाये तो इन्द्र को स्वर्ग से भूतल पर लाकर उनकी बलवत्ता को माप कर दे। यही नहीं कि, केवल इन्द्र को ही ला दे, उनके वाहन ऐरावत, उनके देव सेवकों और बल को भी प्रस्तुत कर दे ॥३७॥

अपना शरीर नील अञ्जन के सदृश कृष्णवर्ण का अनुचिन्तन करना चाहिये। इस अभ्यास से छः मास में ही वह इतना शक्तिशाली हो जाता है कि, जो चाहे वही पूरा कर दिखाये। पहले कहीं सारी शक्तियाँ उसे उपलब्ध हो जाती हैं। इसके लिये मात्र छह मास का ही अभ्यास अपेक्षित होता है। इसमें संशय के लिये कोई अवकाश नहीं ॥ ३८ ॥

तीन वर्ष लगातार इस अभ्यास को करने मात्र से और तन्मय भाव से साधना-रत रहने से, वह वायुतत्त्व का दर्शन पाने में समर्थ हो जाता है। एक अन्य प्रक्रिया विधि के अनुसार भ्रूमध्य में अपना अञ्जन सदृश कृष्णरूप ध्यान करना चाहिये। इसके परिणामस्वरूप वह वायुतत्त्वेश्वरों का दर्शन करने में समर्थ हो

१. क० पु० चूर्णयन्पत्रसंवातमिति पाठः ।
२. क० पु० क्रुद्धश्च जयति शत्रुमिति पाठः ।

घनावृतेन्द्रनीलाभो रविबिम्बसमाकृतिम् ॥ ४० ॥

ध्यायंस्तत्समतामेति तत्संलीनो यदा भवेत् ।
भिन्नेन्द्रनीलसंकाशं सकलं तत्र चिन्तयेत् ॥ ४१ ॥

तन्मन्त्रेशत्वमाप्नोति ततस्तस्येशतामपि ।
सर्वव्यापिनि तद्वर्णे ध्याते तेजस्यवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

तदाप्रधृष्यतामेति तत्रोर्ध्वाधोविसर्पिणि ।
इत्येवं कथिता दिव्या धारणा वायुसंभवा ॥ ४३ ॥

स्वदेहं वायुवद्ध्यात्वा तदभावमनुस्मरन् ।
दिवसैः सप्तभिर्योगी शून्यतां प्रतिपद्यते ॥ ४४ ॥

जाता है। उसे अखिल अशुद्ध भी दृष्ट हो जाते हैं। एक दूसरी प्रक्रिया के अनुसार साधक द्वारा बादलों से आच्छन्न इन्द्रनील की आभा से आवृत रविबिम्ब के समान आकृति का ध्यान किया जाता है। कोई साधक इस प्रक्रिया के सिद्ध कर लेने पर उसी के समान तेज और बल से समन्वित हो जाता है॥ ३९-४०½ ॥

उसी के समान तेज और बल से समन्वित होने के बाद ही उसी अवस्था में चतुर्दिक् समिद्ध इन्द्रनील की नीलिमा का ध्यान सकल अर्थात् सर्वत्र करना चाहिये। इस प्रक्रिया में सिद्ध हो जाने पर अग्निमन्त्रेश्वरत्व की उपलब्धि हो जाती है। साधक इसी क्रम में मन्त्रेश्वर से मन्त्रमहेश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है। मन्त्र-महेश्वरत्व की सर्वव्यापकता की भावना सिद्ध कर लेने पर और उसके ताप्तवर्ण का ध्यान करने पर तेज की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है॥ ४१-४२ ॥

इस उच्च स्तर पर पहुँच कर व्यक्ति इतना सामर्थ्यवान् हो जाता है कि, ऊर्ध्व और अधः व्यापी किसी शक्ति को विशेष रूप प्रधर्षित कर सकता है। भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, यहाँ तक वायु से सम्बन्धित वायवी धारणा का वर्णन किया गया। जीवन में ऐसी धारणाओं की साधनायें साधक को मोक्ष तो नहीं देतीं, भोग के अनन्त साधनों को उपलब्ध करा देती हैं और कीर्त्तिलता का प्रसार करती हैं॥ ४३ ॥

अपने शरीर को वायु के समान कर और देहभाव का विस्मरण कर वायुवत् अनुस्मरण करते हुये सात दिन के अभ्यास से शून्यता में समाहित होने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह व्योमधारणा की पहली विधा मानी जाती है॥ ४४ ॥

मासमात्रेण भोगीन्द्रैरपि दष्टो न मुह्यति ।
सर्वव्याधिपरित्यक्तो वलीपलितवर्जितः ॥ ४५ ॥

षण्मासाद्गगनाकारः सूक्ष्मरन्ध्रैरपि व्रजेत् ।
वत्सरत्रितयात्सार्धाद्व्योमवच्च[1] भविष्यति ॥ ४६ ॥

इच्छयैव महाकायः सूक्ष्मदेहस्तथेच्छया ।
अच्छेद्यश्चाप्यभेद्यश्च च्छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥ ४७ ॥

शतपुष्परसोच्छिष्टमूषागर्भखवन्निजम् ।
देहं चिन्तयतस्त्र्यब्दाद्व्योमज्ञानं प्रजायते ॥ ४८ ॥

एक मास पर्यन्त इसी साधना में संलग्न रहने वाला योगी तक्षक सदृश सर्पराजों से भी दंशित होने पर विष के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता। यही नहीं वह समस्त अन्य व्याधियों से भी विमुक्त हो जाता है। उसके शिर के बाल पककर विद्रूप नहीं होते। बाल गिरने के रोग भी उसे नहीं होते ॥ ४५ ॥

छह मास लगातार इस प्रक्रिया में रत रहने का सुपरिणाम यह होता है कि, वह आकाशवत् हो जाता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म छिद्रों से भी साधक निकल जाता है। इसी प्रकार लगातार साढ़े तीन वर्ष यदि इस प्रक्रिया में लगा रहे तो, उसमें और व्योम में कोई अन्तर नहीं रह जाता है ॥ ४६ ॥

स्वेच्छा से वह कनक भूधराकार शरीर वाला महाकाय पुरुष के रूप में परिवर्तित हो सकता है। चाहने पर मशक समान रूप धारण करने में समर्थ हो जाता है। आत्मा की तरह अछेद्य और उसी तरह अभेद्य हो सकता है। उसके लिये मेदिनी अब कर्कश और कठोर नहीं रह जाती है। उसके छिद्र उसे दीख पड़ने लगते हैं। अब वह जहाँ से चाहे मेदिनी में समा सकता है। भूप्रवेश कराने के लिये सीता की तरह जमीन को फटना नहीं पड़ता ॥ ४७ ॥

शतपुष्प सौंफ को कहते हैं। सौंफ के रस से भावित स्वर्ण तपाने वाली अंगीठी में अभ्रक का जो रङ्ग उभरता है, उसके समान अपने शरीर का चिन्तन करना चाहिये। यह क्रिया यदि अनवरत तीन वर्ष तक योगी करता रहे, तो उस साधक को व्योम का ज्ञान हो जाता है। इस प्रथा में शतपुष्प, मूषा और ख ये तीन शब्द अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं और पुराकालिक रसायन विज्ञान के

1. व्योम एवेति स्वच्छन्दतन्त्रे प्रमाणितः पाठः ।

पूर्वोक्तं च फलं सर्वं सप्ताहादिकमाप्नुयात् ।
ललाटे चिन्तयेत्तद्वद्द्वादशाङ्गुलमायतम् ॥ ४९ ॥
तत्तत्त्वेशान्क्रमात्सर्वान्प्रपश्यत्यग्रतः स्थितान् ।
राहुग्रस्तेन्दुबिम्बाभं ध्यायंस्तत्समतां व्रजेत् ॥ ५० ॥
सकलं चन्द्रबिम्बाभं तत्रस्थमनुचिन्तयेत् ।
तन्मन्त्रेशत्वमाप्नोति ज्योत्स्नया चन्द्रतामपि ॥ ५१ ॥

प्रतिपादक शास्त्र इसके प्रमाण हैं। जिस पात्र में साँचा तपाया जाता है, उसे बोली में 'घरिया' कहते हैं। उसमें अभ्रक (ख) डालकर ऊपर से शतपुष्पा (सौंफ) के रस का यदि भावन दिया जाय, तो उसके समाहार में जो रङ्ग आता है, वह भी योगमार्गियों के लिये आदर्श रूप हो जाता है ॥ ४८ ॥

पहले सप्ताह पर्यन्त अभ्यास से लेकर तीन साल तक के अभ्यास से जितने फल प्राप्त होने की बात कही गयी है, वे सभी फल एक विशिष्ट अभ्यास से प्राप्त किये जा सकते हैं। उसी की चर्चा करते हुये भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, ललाट में १२ अङ्गुल आयत उसी तेज का चिन्तन साधक को अनवरत करना चाहिये। इस विधि से ही उक्त फलों की प्राप्ति हो जाती है ॥ ४९ ॥

इस विधि के पालन का एक और सुपरिणाम भगवान् घोषित कर रहे हैं। उनके अनुसार इस अभ्यास से समस्त तत्त्वेश्वरों को सामने ही उपस्थित देखने की शक्ति उसे प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक अन्य नयी विधि की ओर भी ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। उनका कहना है कि, एक ऐसे तेज का ललाट में ध्यान करे, जिसकी उपमा उस चन्द्र बिम्ब से की जा सके, जो पूर्णतया 'राहु' से ग्रस्त हो गया हो। राहुग्रस्तता की अवस्था में भी चन्द्रबिम्ब से एक प्रकार का प्रकाश छिटकता ही रहता है। इसके ध्यान से साधक उसकी समता प्राप्त कर लेता है ॥ ५० ॥

एक अन्य विधि के अनुसार राहुमुक्त समस्त कलाओं से कलित चन्द्रबिम्ब का ध्यान किया जाता है। इस पूर्णबिम्ब के ललाट में भ्रूमध्य में अनुचिन्तन करने से, उसके अर्थात् वायु के मन्त्रेश्वर की प्राप्ति अवश्य होती है। वहीं ज्योत्स्ना से उज्ज्वल जैवातृकता पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही चन्द्रता है, जिसे पाने के लिये योगी प्रयासरत रहते हैं ॥ ५१ ॥

तथैवाधोविसर्पिण्या सबाह्याभ्यन्तरं बुधः ।
मन्त्रेश्वरेशतामाप्य विज्ञानमतुलं लभेत् ॥ ५२ ॥

तया चोर्ध्वविसर्पिण्या ज्योत्स्नयामृतरूपया ।
स्वतन्त्रत्वमनुप्राप्य न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥ ५३ ॥

इत्येवं पञ्चतत्त्वानां धारणा परिकीर्तिता ।
शुद्धाध्वस्था तु संवित्तिर्भूतावेशोऽत्र पञ्चधा ॥ ५४ ॥

तास्वेव संदधच्चित्तं विषादिक्षयमात्मनः ।
अन्यस्यामपि संवित्तौ यस्यामेव निजेच्छया ॥ ५५ ॥

उसी को बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र ध्यान का विषय बनाने पर और अधःविसर्पिणी अर्थात् समग्र शरीर परिवेश को ज्योत्स्ना को उज्ज्वल बनाने वाली उस तेजस्विता का भी अनुचिन्तन इस विधि में किया जाता है। इसके सुपरिणाम स्वरूप मन्त्रमहेश्वरत्व की उपलब्धि विद्वान् साधक कर लेता है। इसके साथ ही अतुलनीय विज्ञानविज्ञ हो जाता है ॥ ५२ ॥

उसी अधोविसर्पिणी, शक्ति को यदि विचक्षण योगी ऊर्ध्वप्रसरणशील ध्यान करने की भी एक अलग विधि है। इस प्रचलित पृथक् प्रक्रिया के अनुसार उस अमृतमयी चाँदनी में चमत्कार घटित होता है। ऐसा योगी स्वच्छन्द भैरव की स्वातन्त्र्य शक्ति से समन्वित हो जाता है। वह किसी के प्रतिघात से घातित नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

यहाँ तक पाँच तत्त्वों (पृथ्व्यप्तेजोवाय्वाकाशरूप) की धारणाओं की विधियों का निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त साधना की ऐसी विधियाँ भी सिद्धों द्वारा विकसित की गयी हैं। भगवान् कहते हैं कि, शुद्ध अध्वा में संवित्ति का परिष्कार भी स्वभावतः सम्पन्न हो जाता है। उसी परिष्कृतिमयी संवित्ति से भावित भूत तत्त्वों के आवेश की अनुभूतिमयी साधनायें पाँच प्रकार की होती हैं ॥ ५४ ॥

इनमें चित्त को सम्यक् प्रकार से धारित करने वाला साधक ऐसी शक्ति से सम्पन्न हो जाता है, कि, उसके ऊपर विष आदि प्रयोग भी निष्फल हो जाता है। यह संवित्ति-साधना का ही माहात्म्य है। इसी तरह किसी प्रकार की संवित्ति का आवेश, जिसे वह स्वेच्छा से स्वीकार करता है, उसके लिये वरदान सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

चेतः सम्यक्स्थिरीकुर्यात्तया तत्फलमश्नुते ।
एकापि भाव्यमानेयमवान्तरविभेदतः ॥ ५६ ॥

अन्तरायत्वमभ्येति तत्र कुर्यान्न संस्थितिम् ।
संस्थितिं तत्र कुर्वन्तो न प्राप्स्यन्त्युत्तमं फलम् ॥ ५७ ॥

धारणापञ्चके सिद्धे पिशाचानां गुणाष्टकम् ।
ऐन्द्रान्ताः पञ्च सिद्ध्यन्ति योगिनां भेदतोऽपि वा ॥ ५८ ॥

इष्टाः पञ्चदशावस्थाः क्रमेणैव समभ्यसन् ।
त्र्यब्दादाद्यां प्रसाध्यान्यां द्वाभ्यामेकेन चापराम् ॥ ५९ ॥

यदि स्वेच्छावश किसी संवित्ति में वह समाविष्ट हुआ और गुरुदेव के अनुसार उसमें उसकी मानसिकता उससे जुट गयी, तो वहाँ स्थिरता प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है तथा साधक इस साधना के समग्र सुपरिणामों से समन्वित हो जाता है। एक प्रक्रिया को सिद्ध करने में ऐसे सुन्दर परिणाम यदि प्राप्त होते हैं, तो कई साधनाओं को सिद्धि से अन्य अवान्तर भेदानुसार अवश्य सिद्धियाँ मिलती हैं ॥ ५६ ॥

कई सिद्धियों के चक्कर में साधक को नहीं पड़ना चाहिये। इससे विघ्नों का भय रहता है। कभी अन्तराय उपस्थित हो सकते हैं। इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि, उनमें अवस्थिति प्राप्त करने के प्रयत्न का परित्याग कर देना चाहिये। इस व्यर्थ के प्रयास का कोई सुपरिणाम नहीं होता ॥ ५७ ॥

इस प्रकार पञ्चकमयी इन धारणाओं के सिद्ध कर लेने से ऐसी सिद्धियाँ आती हैं, जिनसे पिशाचों से अठगुनी शक्ति प्राप्त हो जाती है। साधक इन्द्र, वरुण, कुबेर, ईशान आदि की आधिकारिकता को पा लेता है। इनसे देवों की कृपा भी प्राप्त हो जाती है। इसके साथ ही अन्य अवान्तर भेद भिन्न कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

जो भी अभीप्सित हो, वही अभीष्ट मार्ग मार्ग माना जाता है। इन पन्द्रह भेद भिन्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धारणाओं की कोई प्रक्रिया अपनानी चाहिये। सभी शाङ्कर अनुग्रह रूप हैं। इनका क्रमिक अभ्यास करना चाहिये। एक-एक साधना तीन तीन वर्ष की निर्धारित है। पहले पहली साधना की प्रक्रिया क्रमिक रूप से पूरा करनी चाहिये। एक के पूरी करने पर दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी

षण्मासात्पञ्चभिश्चान्यां चतुर्भिस्त्रिभिरेव च ।
द्वाभ्यामेकेन पक्षेण दशभिः पञ्चभिर्दिनैः ॥ ६० ॥

त्रिभिर्द्वाभ्यामथैकेन व्यस्तैश्छोः पूर्ववत्क्रमः ।
शाश्वतं पदमाप्नोति भुक्त्वा सिद्धि यथेप्सिताम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे भूतजयाधिकारस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

क्रम से इन्हें सिद्ध करने में सरलता होती है, और समय भी कम लगता है। पहली यदि तीन वर्ष में पूरी होती है तो दूसरी दो वर्ष में ही पूरी हो सकती है और तीसरी को सिद्ध करने में एक वर्ष का समय ही पर्याप्त होता है ॥ ५९ ॥

इसी तरह समय सीमा कम होती जाती है। तीन साल के बाद दो वर्ष में, दो वर्ष की सिद्धि के बाद तीसरी एक वर्ष में पाँचवीं छः माह में छठी पाँच माह में सातवीं चार माह में आठवीं तीन माह में नवीं दो माह में दशवीं एक माह में ११वीं पक्ष में पन्द्रहवीं २ दिन या एक दिन में ही सिद्ध हो सकती हैं। यह समय-सीमा सभी प्रकार की धारणाओं में लगती है।

यह क्रम चाह रखने वाले साधकों के कौशल पर निर्भर करता है। इसमें इसके विपरीत क्रमों में अस्तव्यस्तता भी हो सकती है। समय सीमा के उलट फेर में चिन्ता की कोई बात नहीं होती। कार्य की सिद्धि में निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। इन सिद्धियों के बाद साधक का मन इनसे ऊपर भी उठ सकता है और वे शाश्वत पद के अधिकारी हो सकते हैं। सिद्धियों के भोग के बाद मोक्ष की प्राप्ति भी उनकी इच्छा शक्ति पर ही निर्भर है ॥ ६०-६१ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
भूतजयाधिकार नामक तेरहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १३ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ चतुर्दशोऽधिकारः

अथ गन्धादिपूर्वाणां तन्मात्राणामनुक्रमात् ।
धारणाः संप्रवक्ष्यामि तत्फलानां प्रसिद्धये ।। १ ।।

पीतकं गन्धतन्मात्रं तुर्याश्रं सर्वसंमितम्[1] ।
नासारन्ध्राग्रगं[2] ध्यायेद्वज्रलाञ्छनलाञ्छितम् ।। २ ।।

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेकनामकभाषाभाष्यसमन्वितम्

चतुर्दशोऽधिकारः

[१४]

विश्व की माङ्गलिक भावनाओं और साधक के उत्कर्ष हेतु नयी धारणाओं के उपदेश की आरम्भिक आकाङ्क्षा को व्यक्त करने वाला 'अथ' अव्यय ही इस अधिकार के महत्त्व की सूचना दे रहा है। अब यहाँ तन्मात्राओं से सम्बन्धित धारणाओं का वर्णन किया जा रहा है। इसके पहले पञ्चमहाभूत की सभी धारणाओं की विस्तृत जानकारी दी जा चुकी है। तन्मात्राओं में गन्ध सर्वप्रथम वर्णन करने योग्य है। उसके बाद अनुक्रम से सारी धारणाओं का क्रमिक उपदेश भगवान् स्वयम् करेंगे। इसके क्या फल हैं, उनसे किस प्रकार की सिद्धियाँ साधकों को प्राप्त होती हैं, उनके सम्बन्ध में सबको ज्ञान होना चाहिये। प्रवृत्ति के अनुसार ज्ञान रहने पर ही उसकी प्रसिद्धि के लिये व्यक्ति प्रयत्नशील होता है ॥ १ ॥

गन्ध तन्मात्र का रूप पीतवर्ण का माना जाता है। यह चतुष्कोण परिवेश में व्याप्त होता है। अंश-अंश अर्थात् गन्ध परमाणु समूह के राशि राशि रूप में व्याप्त

---

१. स्वच्छ० पञ्चसंमितमिति पाठः ; २. क० पु० रन्ध्रान्तकमिति पाठः ।

दशमाद्दिवसादूर्ध्वं योगिनोऽनन्यचेतसः ।
कोऽपि[1] गन्धः समायाति द्विधाभूतोऽप्यनेकधा ।। ३ ।।

ततोऽस्य ऋतुमात्रेण शुद्धो गन्धः स्थिरोभवेत् ।
षड्भिर्मासैः स्वयं गन्धमयमेव भविष्यति ।। ४ ।।

यो यत्र रोचते गन्धस्तं तत्र कुरुते भृशम् ।
त्र्यब्दात्सिद्धिमवाप्नोति प्रेरितां पाञ्चभौतिकीम् ।। ५ ।।

रहता है। इसकी अनुभूति नासिका के अग्रभाग में ही होती है। यह वज्रलाञ्छन से लाञ्छित होता है। जैसे शितिकण्ठलाञ्छन शङ्कर को कहते हैं, उसी तरह वज्र-लाञ्छन विष्णु को कहते हैं। विष्णु की तरह व्यापक तत्त्व का तरह यह भी व्यापकता से समन्वित है। ऐसे गन्ध तन्मात्र का ध्यान नासिका के अग्रभाग में करना चाहिये ॥ २ ॥

अनन्य भावना से भक्त साधक लगातार इसी तरह नासिका के अग्रभाग में गन्ध तन्मात्र का अनुचिन्तन करता रहे, तो दशवें दिन कोई विशेष गन्ध किसी अद्भुत विशिष्टता और दिव्यता से समन्वित अनुभूत होती है। नासिकाग्र में वह द्विधाभूत होती प्रतीत होती है किन्तु उसमें अनेकता का मूल भी विद्यमान रहता है ॥ ३ ॥

इसी प्रकार एक ऋतु पर्यन्त अर्थात् दो मास अनवरत अनन्य भाव से अभ्यास करते रहने से अत्यन्त शुद्ध और दिव्य गन्ध उसके नासिकाग्र में स्थिर हो जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि, वह उसे हमेशा अनुभूत होती रहती है। छः मास अर्थात् तीन ऋतुओं में जैसे यदि साधक ने हेमन्त के प्रारम्भ में यह अभ्यास करना आरम्भ किया हो, ता हेमन्त, शिशिर और बसन्त के अन्त में छः मास पूरा हो जाता है। अतः ग्रीष्म के आरम्भ में वह स्वयं गन्धमय हो जाता है। वाराणसी में स्वामी विशुद्धानन्द महाराज नामक योगिवर्य भी गन्धमय महात्मा थे। उनके शरीर से निरन्तर सुगन्ध निकला करती थी। उन्हें गन्धबाबा कहते भी थे। श्रीगोपीनाथ कविराज के गुरु थे। आज भी उनका विशुद्धानन्द आश्रम वाराणसी में मलदहिया क्षेत्र में है ॥ ४ ॥

तीन वर्षों तक निरन्तर इस तरह के अभ्यास में संलग्न रहने के बाद साधक में पाञ्चभौतिक गन्ध-सिद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वह जिस गन्ध को,

---

१. ख० पु० क्वापि गन्ध इति, द्विधाभूतस्य नैकधा, इति च पाठः ।

तदूर्ध्वमात्मनो रूपं तत्र संचिन्तयेद्धृदि ।
गन्धावरणविज्ञानं त्रिभिरब्दैरवाप्नुयात् ॥ ६ ॥
ईषद्दीप्तियुतं तत्र तन्मण्डलविवर्जितम् ।
ध्यायन्प्रपश्यते सर्वागन्धावरणवासिनः ॥ ७ ॥
धरातत्त्वोक्तबिम्बाभं[1] तत्रैवमनुचिन्तयन् ।
तत्समानत्वमभ्येति पूर्ववद्द्वितये स्थिरे ॥ ८ ॥
स्वरूपं तत्र संचिन्त्य भासयन्तमधःस्थितम् ।
तदीशत्वमवाप्नोति पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥ ९ ॥

जब चाहे, जहाँ पर, अपनी इच्छा के अनुसार उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है ॥ ५ ॥

इससे ऊर्ध्व अर्थात् चतुर्थ वर्ष के प्रारम्भ से साधक अपने अभ्यास को इसी तरह बढ़ाते हुए स्वात्म रूप को यदि हृदय में चिन्तन करता हुआ गन्ध के वातावरण में अवस्थित रहे, तो वह गन्धावरण विज्ञान का ज्ञाता बन जाता है। इस प्रक्रिया के लिये तीन वर्ष का समय अपेक्षित है। इतनी सिद्धि प्राप्त करने में अब तक साधक का साढ़े छः वर्ष का समय लग जाता है ॥ ६ ॥

हृदय में अपने रूप को स्वात्मज्योति से ही श्रीसमन्वित करे। उस दीप्तिमें ईषत् ज्योतिष्मन्त ध्यान में साधक संलग्न रहे और गन्धमय रहते हुए भी उसकी आवरण की माण्डलिता का अनुभव करे। सर्वथा अपेक्षा रहित भाव से साधना में रत रहते हुए उसे गन्धावरण विज्ञान के साथ ही गन्धावरण में रहने वाले जीव जगत् का भी विज्ञान उपलब्ध हो जाता है ॥ ७ ॥

गन्ध जगत् है क्या ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है, धरातत्त्व का बिम्ब। इस अतिसूक्ष्म बिम्बात्मक गन्ध रूप विश्व की आभामयता का अनुचिन्तन करते हुये तन्मय भाव से उसी में रत रहने पर उसकी समानता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार से गन्धावरण विज्ञान और बिम्ब की समानता प्राप्त कर लेने पर उसी स्वरूप में चिन्तनरत रहते हुये और इस बिम्ब भाव के अधःस्थित आत्मावस्थान से गन्ध-विश्व की ईशात्मकता प्राप्त हो जाती है। इस रूप में साधक पूरी तरह स्वात्मविभा से भासमान रहता है। इस साधना का मार्ग भी हृदय से चलकर नासिकाग्र तक ही सीमित है किन्तु इसकी फलवत्ता अनन्त है ॥ ८-९ ॥

---

१. क० बिम्बान्तमिति पाठः

धरातत्त्वोक्तवत्सर्वमत ऊर्ध्वमनुस्मरन् ।
तद्रूपं फलमाप्नोति गन्धावरणसंस्थितम् ॥ १० ॥

रसरूपामतो वक्ष्ये धारणां योगिसेविताम् ।
यया सर्वरसावाप्तिर्योगिनः संप्रजायते ॥ ११ ॥

जलबुद्बुदसंकाशं जिह्वायां[1] चाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयेद्रसतन्मात्रं जिह्वाग्राधारमात्मनः ॥ १२ ॥

सुशीतं षड्रसं चिन्त्यं[2] तद्गतेनान्तरात्मना ।
ततोऽस्य मासमात्रेण रसास्वादः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

गन्ध जगत् धरातत्त्व का ही बिम्ब है। अतः जिस तरह धरातत्त्व का अनुचिन्तन होता है और इसमें भी ऊर्ध्वानुचिन्तन आवश्यक होता है, उसी तरह ऊर्ध्व-अनुचिन्तन करने से उसी प्रकार का फल साधक को प्राप्त होता है। गन्धावरण में भी अधः अवस्थान और ऊर्ध्वावस्थान के पृथक्-पृथक् सुपरिणामों की अनुभूतियों से साधक प्रभावित होता है॥ १० ॥

यहाँ तक गन्ध तत्त्व की धारणा का वर्णन किया गया है। यहाँ से रस-तन्मात्र की धारणा का वर्णन किया जा रहा है। यह धारणा भी योगियों की महत्त्वपूर्ण धारणा मानी जाती है। इस धारणा का सबसे बड़ा फल यह होता है कि, इसकी सिद्धि से समस्त रसों की अवाप्ति योगी को हो जाती है। सर्वरसावाप्ति रस धारणा की सिद्धि से ही सम्भव है ॥ ११ ॥

सर्वप्रथम आसन पर विराजमान साधक एकाग्रभाव से अपनी जिह्वा के अग्रभाग पर ध्यान लगावे। वह रस तन्मात्र का अनुचिन्तन करे। रस तन्मात्र जल के बुद्बुद के समान होता है। जिह्वाग्र में रस तन्मात्र का भी बुद्बुदवत् अनुचिन्तन करना चाहिये। वही रसतन्मात्र का आश्रय स्थान है ॥ १२ ॥

रस की शीतल अनुभूतियों की आनन्दमयता में डूबना योगीवर्ग की साधना का विषय है। इसमें षट् रसों का ही अनुचिन्तन करने की प्रक्रिया अपनायी जाती है। एक-एक रस की आनन्दमयता में तन्मय होने और आन्तर दर्शन करने से उस रस की अनुभूति करने में जो आनन्द मिलता है, उसे वर्णन का विषय नहीं

---

१. ग० पु० राजनाड्यग्रसंस्थितमिति पाठः
२. क० पु० षड्रसं स्निग्धमिति पाठः

लवणादीन्परित्यज्य यदा मधुरतां गतः ।
तदा तन्निगिरन्योगी षण्मासान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ १४ ॥

जराव्याधिविनिर्मुक्तः कृष्णकेशोऽच्युतद्युतिः ।
जीवेदाचन्द्रताराकर्मभ्यस्यंश्च क्वचित्क्वचित् ॥ १५ ॥

पूर्वोक्तबुद्बुदाकारं[1] स्वरूपमनुचिन्तयन् ।
निरावरणविज्ञानमाप्नोतीति किमद्भुतम् ॥ १६ ॥

तमेव द्युतिसंयुक्तं ध्यायन्नाधारवर्जितम् ।
पश्यते[2] वत्सरैः सर्वं रसावरणमाश्रितम् ॥ १७ ॥

बनाया जा सकता। इस प्रकार एक मास पर्यन्त प्रयासरत रहने से वास्तविक रसास्वाद होता है ॥ १३ ॥

इस रसास्वाद में अन्य रसों को आन्तरित करते हुए मधुर रस के उदित होते ही उसमें डूब जाना चाहिये। उसको बार-बार जिह्वाग्र पर अनुभव करते हुये बराबर उसे घोंटते रहना चाहिये। गले के नीचे इस अमृत मधुर रस को यदि छः मास तक साधक उतारता और पीता रहे तो, वह परिणामस्वरूप मृत्युजित् हो जाता है ॥ १४ ॥

जरावस्था से उसकी मुक्ति हो जाती है। जरा रूप व्याधि अथवा जीवन को जर्जर बनाने वाली बीमारियों से उसे छुटकारा मिल जाता है। अर्थात् उस अमृतपान के फलस्वरूप वह अजर और निरोग ही नहीं वरन् अमरता को भी प्राप्त कर सकता है ॥ १५ ॥

पहले यह कहा जा चुका है कि, जलबुद्बुद के समान जिह्वाग्र पर रसानुभूति में निमग्न होना चाहिये। उसी बुद्बुद के समान स्वात्म रूप का अनुचिन्तन एक नयी प्रक्रिया है। इसमें स्वयं रसरूपता में डूबना होता है। इस रसमयता का आश्चर्यजनक फल है, निरावरण विज्ञान। निरावरण विज्ञान योग के उच्च स्तर पर ही प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

इस स्थिति का ध्यान दो प्रकार से इस नयी प्रक्रिया में करते हैं। १. स्वात्म को दीप्तिमन्त अनुभव करते हुये और २. आधार वर्जित रूप में। आधार

---

१. ग० पु० बहुधाकारमिति पाठ।
२. ग० पु० पश्यते वत्सरैरिति पाठः

जलतत्त्वोक्तबिम्बादि तदूर्ध्वमनुचिन्तयन् ।
पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति रसावरणजं स्फुटम् ॥ १८ ॥

अतो रूपवतीं वक्ष्ये दिव्यदृष्टिप्रदां शुभाम् ।
धारणां सर्वसिद्धयर्थं रूपतन्मात्रमाश्रिताम् ॥ १९ ॥

एकान्तस्थो यदा योगी विनिमीलितलोचनः[1] ।
शरत्संध्याभ्रसंकाशं यत्तु [2]किंचित्प्रपश्यति ॥ २० ॥

तत्र चेतः समाधाय यावदास्ते [3]दशाहकम् ।
तावत्प्रपश्यते तत्र बिन्दून्सूक्ष्मतमानपि[4] ॥ २१ ॥

केचित्तत्र सिता रक्ताः पीता नीलास्तथा परे ।
तान्दृष्ट्वा तत्र[5] संदध्यान्मनोऽत्यन्तमनन्यधीः ॥ २२ ॥

तो जिह्वाग्र ही होता है । इस प्रक्रिया में जिह्वाग्र को छोड़कर रसतादात्म्य सार्वत्रिक और सामरस्यमय होता है । इस अवस्था में एक वर्ष व्यतीत करने पर साधक एक साल में ही रसावरण में अवस्थित समस्त विज्ञानवाद की उपलब्धि कर लेता है । 'पश्यते' पाठ की जगह इसका अर्थ होता है—एक वर्ष की इस साधना से रसतत्त्व का दर्शन पाने में समर्थ हो जाता है ॥ १७ ॥

रस जलतत्त्व का बिम्ब है । इस रसमयता के परिवेश में रहते हुए ऊर्ध्व दर्शन की प्रक्रिया यदि अपनायी जाय तो, इससे भी रसावरण विज्ञान से उत्पन्न सभी सिद्धियों का अधिकारी वह हो जाता है ॥ १८ ॥

इसके बाद रूपवती धारणा का वर्णन भगवान् कर रहे हैं । इससे अत्यन्त कल्याण कारिणी दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है । यह रूपतन्मात्र की आश्रिता धारणा है । इससे सारी सिद्धियाँ हस्तामलकवत् सरल हो जाती हैं ॥ १९ ॥

रूप तन्मात्र में चित्त को समाहित कर दश दिन पर्यन्त अनवरत अभ्यासरत रहने से उसमें सूक्ष्मतम बिन्दुओं के दर्शन होने लगते हैं । इनमें कुछ श्वेत, कुछ लाल, कुछ पीत और नीलवर्णी बिन्दु भी दीख पड़ते हैं । उनको देखकर मन को

---

१. क० पु० बहिर्मीलितलोचन इति पाठः
२. क० पु० यत्तत्किंचिदिति पाठः
३. क० पु० दशाह्निकमिति पाठः
४. क० पु० तमानितोति पाठः
५. क० पु० तेषु इति पाठः

षण्मासात्पश्यते तेषु रूपाणि सुबहून्यपि ।
त्र्यब्दात्तान्येव तेजोभिः प्रदीप्तानि स्थिराणि च ॥ २३ ॥

तान्यभ्यस्यंस्ततो द्व्यब्दाद्बिम्बाकाराणि पश्यति ।
ततोऽब्दात्पश्यते तेजः षण्मासात्पुरुषाकृति ॥ २४ ॥

त्रिमासाद्व्यापकं तेजो मासात्सर्वं विसर्पितम् ।
कालक्रमाच्च पूर्वोक्तं रूपावरणमाश्रितम् ॥ २५ ॥

तत्सर्वं फलमाप्नोति दिव्यदृष्टिश्च जायते ।
इतीयं कल्पनाशून्या धारणा कृतकोदिता ॥ २६ ॥

उन्हीं में डुबो देने का प्रयत्न करना चाहिये । इसमें तनिक शिथिलता, उपेक्षा या तन्मयता की टूट नहीं चाहिये । एकनिष्ठ भावना से अनन्त चिन्तन होना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

छः माह पर्यन्त इस प्रक्रिया को अपनाने का परिणाम यह होता है कि, उनमें बहुत से रूप उतर आते और दृष्टिगोचर होते रहते हैं। लगातार तीन वर्ष तक इसे करने से उन रूपों में विचित्र दीप्तिमत्ता के भी दर्शन होने लगते हैं। उनमें कुछ चल और कुछ अचल बिन्दु भी होते हैं। इन्हें भी दो वर्षों तक अभ्यास करने से उनके बिम्बों के दर्शन होने लगते हैं। एक वर्ष और प्रयत्न करने पर तेज और छः माह और अभ्यास बढ़ाने उन रूपतन्मात्र के दीप्तिमन्त बिन्दुओं का रूप बदल जाता है और वे पुरुष की आकृति में व्यक्त होकर दीख पड़ने लगते हैं ॥ २३-२४ ॥

तीन माह उपरान्त व्यापक रूप से तेज के दर्शन होते हैं। उसके एक माह बाद वह तेज और भी विस्तार प्राप्त करने लगता है। क्रमशः अभ्यास के बल पर समस्त रूपावरण तेजोमण्डलमय उद्दीप्त रूप से दीख पड़ने लग जाता है ॥२५॥

काल क्रम से रूपावरण पर आश्रित इस धारणा को सिद्ध करने से अनन्त फलों की प्राप्ति होती है। सबसे बड़ी तो इसकी यह विशेषता है कि, श्लोक संख्या १९ से २४ पर्यन्त जितने भी फल कहे गये हैं, वे अकेले इस प्रक्रिया से प्राप्त हो जाते हैं। दूसरी इसकी विशेषता यह है कि, इसके सिद्ध कर लेने से साधक को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यह ऐसी धारणा है, जिसमें कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं।

दशपञ्चविधो भेदः स्वयमेवात्र जायते ।
यतोऽस्यां निश्चयं कुर्यात्किमन्यैः शास्त्रडम्बरैः ॥ २७ ॥
अतः स्पर्शवतीमन्यां कथयामि तवाधुना ।
धारणां तु यया योगी वज्रदेहः प्रजायते ॥ २८ ॥

इसमें प्रयुक्त कृतक शब्द के कई अर्थ व्यवहार में लाये जाते है। जैसे व्याजपूर्ण, बहानाबाजी, चतुर्थ, किया हुआ और दत्तक आदि अनेक अर्थों में इसका प्रयोग साहित्य में उपलब्ध है। यहाँ पर केवल 'स्वयं किया हुआ अनुभूत' अर्थ ही अभिप्रेत है। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, पार्वति ! यह योगियों द्वारा अनुभूत धारणा मैंने तुम्हारे समक्ष कही है।

स्वयम् कहने से यह अपने आप अनुभव हो जाता है कि, यह रूपवती धारणा पन्द्रह प्रकार की होती है। इसकी महत्ता को समझते हुए यह निर्णय साधक को लेना चाहिये कि, यह अवश्य करणीय एवम् आचरणीय धारणा है। इसके करने का निश्चय कर लेने वाले योगी के लिये किन्हीं शास्त्रों के स्वाध्याय आदि आडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस धारणा के धनी योग विद्याविज्ञ यह कहा करते हैं कि, इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के विस्तार में क्यों जाया जाय ? ॥ २६-२७ ॥

अतः अर्थात् शास्त्र के वर्णन क्रम में यहाँ से अर्थात् रूपावरण साधना के बाद अब स्पर्शवती धारणा का वर्णन करने की प्रतिज्ञा भगवान् शङ्कर कर रहे हैं। यह चौथी धारणा है। इसमें केवल स्पर्श धारणा की प्रक्रिया से सम्बन्धित बातों पर ही विचार किया जा रहा है। पार्वती बड़े मनोयोग से इसके श्रवण के लिये उद्यत हैं। यह धारणा बड़ी उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। इसके सिद्ध कर लेने का सबसे बड़ा सुपरिणाम यह होता है कि, सिद्ध साधक वज्रदेह हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि, जब तक यह जीवन है, दुर्बलता को पास न फटकने दिया जाय। वज्रवत् देह से हनुमान् की तरह रामरूपी जगन्नियन्ता के कार्यों का सम्पादन करते हुये उसी की सेवा में इसे अर्पित कर दिया जाय, इसी भावना से भावित साधक इसमें प्रवृत्त होता है ॥ २८ ॥

षट्कोणमण्डलान्तःस्थमात्मानं परिभावयेत् ।
रूक्षमञ्जनसंकाशं प्रत्यंक्षं[1] स्फुरिताकुलम् ॥ २९ ॥
ततोऽस्य दशभिर्देवि दिवसैस्त्वचि सर्वतः ।
भवेत्पिपीलिकास्पर्शस्ततस्तमनुचिन्तयन् ॥ ३० ॥
वज्रदेहत्वमासाद्य पूर्वोक्तं पूर्ववल्लभेत् ।
पूर्वोक्तमण्डलाकारं पूर्वरूपं विचिन्तयन् ॥ ३१ ॥
स्पर्शतत्त्वावृतिज्ञानं लभन्केन निवार्यते ।
हीनमण्डलमात्मानं ध्यायेत्तत्पतिसिद्धये ॥ ३२ ॥

सर्वप्रथम आसन पर विराजमान साधक स्वयं को षट्कोण मण्डल में अधिष्ठित हूँ, यह अनुभव करे। शरीर प्रत्यंश अर्थात् प्रत्यङ्ग रुक्ष अर्थात् कुछ सूखा सूखा सा लग रहा है और कृष्ण वर्ण का अञ्जन के सदृश पूरा शरीर एक दिव्य स्फुरण से व्याप्त हो रहा है, इस तरह भावना से भावित होता रहे। इस श्लोक में प्रत्यङ्गच्छुरिता कुल पाठ में कोई वैशिष्ट्य नहीं हैं।

यह प्रयोग साधक लगातार दश दिन तक करता रहे। इस सक्रियता में लगातार लगे रहने के अनन्तर यह प्रतीत होता है कि, शरीर में चीटियाँ रेङ् रही हैं। एक तरह की खुजलाहट भरी आनन्द दायिनी गुदगुदी प्रत्यङ्ग में प्रतीत होती हैं। इसी तरह की अनुभूति के आनन्द का आस्वाद लेते हुये साधनारत रहना चाहिये ॥ २९-३० ॥

उक्त प्रकार के अनुचिन्तन का परिणाम भी यही होता है कि, साधक वज्र-देहत्व को प्राप्त कर लेता है। वज्रदेहत्व की प्राप्ति का उल्लेख रूपवती धारणा के अन्त में आया हुआ है। उसी तरह के सुपरिणाम की प्राप्ति इसमें भी होती है। यह इस धारणा की पहली महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

इसी तरह षट्कोण मण्डल में रहते हुए ही पूर्व की तरह अपने अङ्गों के विषय में अनुचिन्तनरत रहना चाहिये। उस समय स्पर्श तत्त्व के आवरण का जो ज्ञान होता है, यह इस साधना की उपलब्धि है। इसका निवारण कोई नहीं कर सकता। स्पर्शावरण के पतित्व की उपलब्धि भी इसी सन्दर्भ में हो जाती है। यह दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें षट्कोण मण्डल ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं रहती ॥ ३१-३२ ॥

१. क० पु० प्रत्यङ्गच्छुरिताकुलमिति पाठः ।

यया संसिद्धया सर्वस्पर्शवेदी भविष्यति ।
कर्णौ पिधाय यत्नेन निमीलितविलोचनः ॥ ३३ ॥
यं शृणोति महाघोषं चेतस्तत्रानुसन्धयेत् ।
दीप्यते जाठरो वह्निस्ततोऽस्य दशभिर्दिनैः ॥ ३४ ॥

दूराच्छ्रवणविज्ञानं षण्मासादुपजायते ।
यस्तस्यान्ते ध्वनिर्मन्दः किंचित्किंचिद्विभाव्यते ॥ ३५ ॥
सकलात्मा स विज्ञेयस्तदभ्यासादनन्यधीः ।
शब्दावरणविज्ञानमाप्नोति स्थिरतां गतम् ॥ ३६ ॥
यः पुनः श्रूयते शब्दस्तदन्ते शंखनादवत् ।
प्रलयाकलरूपं तदभ्यस्यं तत्फलेप्सुभिः ॥ ३७ ॥

जिस स्पर्श धारणा की सिद्धि होने पर सभी प्रकार के स्पर्शों की सिद्धि हो जाती है, वही यह प्रमाणित करती है कि, स्पर्शावरण का पतित्व इसे प्राप्त हो गया है। इसके बाद शाब्दी धारणा का वर्णन कर रहे हैं।

इसकी दूसरी प्रक्रिया के अनुसार कानों को ढककर और दोनों आँखों को बन्द कर देने पर जो महाघोष सुनायी पड़ता है, उसी के अनुसन्धान में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये। इसका परिणाम यह होता है कि, दश दिनों में ही उसकी जठराग्नि अत्यन्त तीव्र हो जाती है ॥ ३३-३४ ॥

छः मास के अनवरत अभ्यास से दूर की ध्वनियों को सुन लेने का विज्ञान उक्त साधक को प्राप्त हो जाता है। इस ध्वनि के अन्त में अनुरणन की तरह जो मन्द-मन्द ध्वनि सुनायी पड़ती है और उसका विशेष से भासन होता है, ऐसा पुरुष सकलात्मा पुरुष माना जाता है। अनन्य भावना से इस प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसके सतत अभ्यास से शब्दावरण विज्ञान अवश्य सिद्ध हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

इसके बाद शंखनाद की तरह की ध्वनियाँ भी सुन पड़ती हैं। उस अवस्था में साधक प्रलयाकल अवस्था का अधिकारी हो जाता है। उत्तम फल की चाह रखने वाले साधकों का यह कर्त्तव्य है कि, इसकी सिद्धि का प्रयत्न करें ॥ ३७ ॥

स एवातितरामन्यशब्दप्रच्छादको यदा ।
विज्ञानाकल इत्युक्तस्तदासावपराजिते ॥ ३८ ॥
मनोह्लादकरो योऽन्यस्तदन्ते संविभाव्यते ।
स मन्त्र इति विज्ञेयो योगिभिर्योगकाङ्क्षिभिः ॥ ३९ ॥
ततस्तु श्रूयते योऽन्यः शान्तघण्टानिनादवत् ।
स मन्त्रेश इति प्रोक्तः[1] सर्वसिद्धिफलप्रदः ॥ ४० ॥
घण्टानादविरामान्ते यः शब्दः संप्रजायते ।
मन्त्रेशेशपदं तद्धि सिद्धीनां कारणं महत् ॥ ४१ ॥

इसके बाद ही विज्ञानाकल अवस्था की सिद्धि का क्रम आता है। इस अवस्था में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो अन्य ध्वनियों को अतिक्रान्त कर उन्हें आच्छादित कर लेती है। भगवान् कहते हैं कि, किसी के द्वारा पराजित न होने वाली अपराजिता संज्ञा से विभूषित देवि! यह विज्ञानाकल सिद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है ॥ ३८ ॥

इस साधना में संलग्न साधक को बाद में ऐसी ध्वनि भी सुनायी पड़ती है, जिसे सुनकर मन मयूर नृत्य करने लगते हैं। एक प्रकार के मानसिक आह्लाद का अनुभव होने लगता है। योगमार्ग में प्रावीण्य प्राप्त करने वाले साधकों द्वारा यह ज्ञातव्य है कि, ऐसे साधक को 'मन्त्र' की संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥ ३९ ॥

यह सारा का सारा चमत्कार और सभी स्तर कानों को बन्द करने पर ही और आँखों को निमीलित रखने की दशा में ही प्राप्त होते हैं। इस तरह श्लोक तैंतीस का अन्वय सबमें होता है। मन्त्र स्तर के उपरान्त शान्त घण्टानिनाद सुन पड़ता है। इस ध्वनि का सुपरिणाम सर्वसिद्धिप्रद माना जाता है। ऐसा योगी मन्त्रेश्वर कहलाता है ॥ ४० ॥

शान्त घण्टाध्वनि के उपरान्त एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें एक महत्त्व पूर्ण अनिवर्चनीय ध्वनि सुनायी पड़ने लगती है। वह बड़ी ही मधुर और चामत्कारिक ध्वनि होती है। इस ध्वनि को सुनने वाला सौभाग्यशाली योगी मन्त्रमहेश्वर होता है। यह मन्त्रेश्वरों का भी स्वामी हो जाता है। मन्त्रेश से उच्च इस स्तर की इस सिद्धि से अन्य सिद्धियाँ भी सरलता से प्राप्त होने लगती हैं ॥ ४१ ॥

---

१. क० पु० मन्त्रेश इति मन्त्र इति पाठः ।

अनिलेनाहता वीणा यादृङ्नादं विमुञ्चति ।
तादृशो यो ध्वनिस्तत्र तं विद्याच्छांभवं पदम् ॥ ४२ ॥

पृथग्वा क्रमशो वापि सर्वानितान्समभ्यसेत् ।
प्राप्नोति सर्वंवित्सिद्धीः शब्दावरणमाश्रिताः ॥ ४३ ॥

इत्येताः कथिताः पञ्च तन्मात्राणां तु धारणा ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे तन्मात्रधारणाधिकारश्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

सुन्दर सी वीणा का यन्त्र एक स्थान पर रख दिया गया है। संयोगवश हवा के कुछ ऐसे प्रवाह वहाँ प्रवाहित होने लगते हैं, जिनसे उस वीणा के तार झङ्कृत होने लगते हैं । इस दिव्य स्वाभाविक ध्वनि का भाग्यशाली श्रोता महान् होता है। यह शाम्भव पद ही होता है, जिसमें ऐसी ध्वनि सुन पड़ने लगती है ॥ ४२ ॥

भगवान् शङ्कर यह निर्देश कर रहे हैं कि, योगी अपनी इच्छा के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप से या चाहे तो क्रमिक रूप से इन ध्वनियों के सुनने का अभ्यास कर सकता है । शब्दावरण से सम्बन्धित सभी प्रकार की सिद्धियों का वह अधिकारी हो जाता है, जो इन ध्वनियों के श्रवण से उत्पन्न स्तरीयता प्राप्त करता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि, वह योगी सर्वज्ञ ही हो जाता है। इस प्रकार से शाब्दी धारणा के वर्णन के साथ पञ्चतन्मात्र धारणाओं की सिद्धि का यह प्रकरण पूर्णता को प्राप्त हो गया है। इसमें सारी सिद्धियों का क्रमिक निर्देश है ॥ ४३ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ॰ परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य संवलित
तन्मात्राधारणाधिकार नामक चौदहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १४ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ पञ्चदशोऽधिकारः

अथ वागिन्द्रियादीनां मनोन्तानामनुक्रमात् ।
धारणाः संप्रवक्ष्यामि दशैकां च समासतः ॥ १ ॥

वदनान्तं नमः शब्दमात्मनश्चिन्तयेद्बुधः ।
गृहीतवाक्त्वमभ्येति मौनेन मधुसूदनि ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेक भाषा-भाष्य संवलितम्

पञ्चदशोऽधिकारः

[१५]

इस अधिकार के अन्तर्गत ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों और ग्यारहवें मन की एकादश धारणाओं का क्रमिक रूप से और संक्षेप रूप से कथन करने की प्रतिज्ञा भगवान् स्वयम् अपने मुखारविन्द से कर रहे हैं। इन्द्रियों की धारणायें सूक्ष्म हैं। अतः यह कह कर देवी को सावधान कर रहे हैं। देवी ग्राहिका शक्ति होती है। इस वागात्मक तत्त्व को धारण कर विश्व को ज्यों का त्यों वरन् और भी सुन्दर रूप में लौटाने की क्षमता देवी माँ में ही होती है। इसी दृष्टि से सावधान कर भगवान् शिव अपनी दिव्य वाक् का प्रयोग कर रहे हैं ॥ १ ॥

भगवान् केवल उपदेश नहीं देते। वे तुरत विधि में उतार कर वैसा करने का निर्देश भी देते हैं। विधि में तुरत सक्रिय साधक लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो जाता है। यहाँ वे यही कर रहे हैं। उनका कहना है कि, वाक् तत्त्व भाव संप्रेषण का सर्वोत्तम माध्यम है। इस तत्त्व की धारणा के लिये बुद्धिमान् साधक साधना-निष्ठ होकर आसन पर मौन भाव से परिनिष्ठित होकर बैठा है। उसे स्वयं अपने प्रति उचित वचन का नमः के साथ प्रयोगात्मक चिन्तन करना चाहिये। नमः के

सर्वत्रास्खलिता वाणी षड्भिर्मासैः प्रवर्तते ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वं वत्सरादुपजायते ॥ ३ ॥
वागेवास्य प्रवर्तेत काव्यालङ्कारभूषिता ।
त्रिभिरब्दैः स्वयं कर्ता शास्त्राणां संप्रजायते ॥ ४ ॥

साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग व्याकरण सम्मत है। अतः मौन 'आत्मने नमः' इस वाक् का अनुचिन्तन करना चाहिये। इससे भगवान् कहते हैं कि, पार्वति ! तुरत वाक् के भावात्मक स्वरूप में प्रवेश हो जाता है। यहाँ आत्मने नमः यह मौन वाक् प्रयोग अनुचिन्तन की अवस्था में मन्त्रात्मक बन जाता है और तुरत प्रभावोत्पादक बन जाता है ॥ २ ॥

इस वागात्मक चिन्तन की उपाय-समय-सीमा के अनुरूप प्रयोग से परिणाम में स्पष्ट अन्तर अनुभूति का विषय है। भगवान् के आदेशानुसार अनवरत छः मास तक यह प्रक्रिया वह प्रयोग में लाता रहे तो, उसे वाक् शक्ति सिद्ध हो जाती है कि, वह सर्वत्र त्रुटिरहित वाणी का प्रयोग करने में सफल हो जाता है। यह सिद्धि उसे छः मास में हो जाती है।

यदि इसी तरह लगातार एक वर्ष तक लगे रहकर यह साधना करता रहता है, तो एक चमत्कार हो जैसा घटित हो जाता है। इस प्रयोग से साधक सारे शास्त्रों के रहस्यार्थ का वेत्ता बन जाता है। अर्थात् वाक् तत्त्व से अर्थ तत्त्व में उसका प्रकाशमय प्रवेश हो जाता है ॥ ३ ॥

उस साधक की पहली सिद्धि वाक् तत्त्व में अनुप्रवेश, दूसरी अस्खलित वाणी, तीसरी सर्वशास्त्रार्थ वेत्तृत्व के साथ ही वह जहाँ जिस रूप में वाणी का प्रयोग करता है, उसमें काव्य की कमनीयता और अलङ्कारों की आकर्षणशीलता भी स्वतः उत्पन्न होती रहती है। इस तरह सारस्वत वरदान से विभूषित हो जाता है।

इसी तरह साधक यदि इस प्रक्रिया को लगातार तीन साल तक पूरा करता रहता है, तो वाणी का वर्चस्व उसे प्राप्त हो जाता है। वह स्वयं शास्त्र निर्माता बन जाता है। शास्त्रकार के रूप में उसकी प्रतिभा का वैशद्य विश्व पर छा जाता है ॥ ४ ॥

तत्रैव चिन्तयेद्देहं स्वकीयमनुरूपतः ।
भूयस्तमेव धवलीषत्तेजोवभासितम् ॥ ५ ॥

रसान्तः सोमबिम्बादितेजोन्तं तमनुस्मरेत् ।
सर्वं फलमवाप्नोति वागावरणजं क्रमात् ॥ ६ ॥

पाणौ च तं समादाय षण्मासाद् दूरसंस्थितम् ।
वस्तु गृह्णात्यसंदेहात्प्रबद्धात्पारेऽपि वारिधेः ॥ ७ ॥

अब उक्त प्रयोग कुछ विशेषता लाने की बात भगवान् कह रहे हैं। उनके अनुसार अभी तक 'वाक्' का मौन अनुचिन्तन 'आत्मने नमः' मन्त्र रूप था। अब उसमें अपने शरीर का साकार अनुचिन्तन साधक करने लगता है। कुछ दिनों के बाद कुछ तेजस्कता से समन्वित शरीर को श्वैत्य से समन्वित अनुभव करना प्रारम्भ करता है। इसमें धवलता का अवभासन होता रहता है॥ ५ ॥

इसी क्रम में उसे दो तत्त्वों का अनुचिन्तन करने का उपदेश भगवान् विधि क्रिया के प्रयोग के माध्यम से कर रहे हैं।

१—पहली प्रक्रिया के अनुसार श्वेत शरीर की धवलता के सन्दर्भ में सोमतत्त्व का अनुचिन्तन करना चाहिये। सोमतत्त्व और सूर्य तत्त्वों का समुच्छलन ही इस शरीर में निरन्तर हो रहा है। इसे ही जीवन कहते है। सोमतत्त्व सोम रस प्रधान होता है। शरोर का रस भाग सोमतत्त्व से ओत प्रोत है। इसके भी अन्तराल में आन्तर रूप से अनुस्मरण इस प्रयोग को महत्त्वपूर्ण बना देता है। साधक को सोम बिम्ब की अनुभूति उसमें स्वभावतः होने लगती है।

२—दूसरी प्रक्रिया में तेज का अनुचिन्तन करना होता है। तेज सूर्य तत्त्व है। प्राणतत्त्व ही सूर्य तत्त्व है। उसी प्राणात्मक तेजस्विता से समन्वित शरीर का भी साथ ही अनुस्मरण करना चाहिये।

इस तरह शरीर का केवल पार्थिव स्वरूप ही वहाँ स्मृति का विषय नहीं बनता, वरन् उसका सोमसूर्यात्मक समन्वय मय महत्त्वपूर्ण अनुचिन्तन होता है। इस प्रक्रिया से वागात्मक आवरण के जितने रहस्य हैं, वे सभी इस प्रमुख प्रयोग से आविष्कृत हो जाते हैं। यह जीवन का महाफल माना जाता है॥ ६ ॥

यह एक चमत्कार ही है कि, हाथ बढ़ाकर किसी दूरस्थ वस्तु को प्रत्यक्ष ग्रहण कर लिया जाय। वस्तु तो वहाँ है, नहीं किन्तु हाथ बढ़ाते ही उसमें आ जाती

तत्रात्मदेहं पूर्वं तु पद्माभमनुचिन्तयन् ।
सव्यापारादिभेदेन चतुर्दशकमादरात् ॥ ८ ॥
पूर्वोक्तकालनियमात्पूर्वोक्तेनैव[1] वर्त्मना ।
सर्वं फलमवाप्नोति हस्तावृतिसमाश्रितम् ॥ ९ ॥

है। यह कैसे होता है, इस सम्बन्ध में भगवान् शङ्कर उसकी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। सर्व प्रथम उक्त रूप में वर्णित शरीर को हाथ बढ़ाकर पाणि प्रदेश में ही स्मरण किया जाय। यह प्रयोग लगातार छः माह तक करना चाहिये। छः माह में मनोयोग पूर्वक इस साधना में रत रहने से दूरस्थ वस्तु के अधिग्रहण की बात ध्रुव सत्य रूप में व्यक्त हो जाती है।

इसी श्लोक में एक दूसरी प्रक्रिया का भी उल्लेख है। इसके अनुसार वहीं तत्काल निर्दिष्ट फलों की सिद्धि होती है। उक्त पहली क्रिया में हाथ पर उस शरीर का ध्यान करने से दूर की वस्तु किन्तु एक वर्ष इसी क्रिया के करने पर समुद्र पार की वस्तु भी हाथ बढ़ाकर मँगायी जा सकती है ॥ ७ ॥

इसी परिवेश में साधक अपने शरीर को पद्म की तरह प्रियता के प्रकर्ष के साथ प्रविकसमान मानकर उसी तरह अनुचिन्तन करे। इस अनुसन्धान की दो अवस्थायें भी ध्यातव्य हैं। १. सव्यापार पद्माभ अनुचिन्तन और २. दूसरे निर्व्यापार पद्माभ अनुचिन्तन। इस श्लोक तक १२ भेदमयी यह धारणा कुल चौदह प्रकार की होती है। इसका वर्णन श्लोक ११ तक किया गया है। वहाँ चौदह भेद पूरे हो जाते हैं। ऐसी दशा में भी चौदहों भेदों के प्रति आदर की बात यहाँ संकेतित कर दी गयी है। इसका संकेत चौदह भेदों में भी सव्यापार और निर्व्यापार चिन्तन के लिये भी गृहीत किया जा सकता है ॥ ८ ॥

पहले कहे गये काल के नियम साधना की सीमा का निर्धारण करते हैं। इन्हें यथावत् मानकर उसी क्रम से धारणाओं को सिद्धि के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इसी अनुशासन में रहकर सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं और उनके फल से लाभान्वित हुआ जा सकता है। इसमें एक नयी बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। श्लोक सात में हाथ में देहानुसन्धान का निर्देश किया गया है। यहाँ हस्तावृत्ति का उल्लेख किया गया है। इससे दाहिने और बाँयें हाथों में परिवृत्ति क्रम से इस प्रक्रिया को पूरी करने का निर्देश है। इससे भी उसी प्रकार के फलों की प्राप्ति की जा सकती है ॥ ९ ॥

१. ग० पु० पुरोक्तेति पाठः

पादावेवंविधो ध्यायन्वत्सरत्रयमादरात् ।
मुहूर्तेन समुद्रान्ताश्रान्तो भ्रमति क्षितिम् ।। १० ।।
चतुर्दश समभ्यचर्य स्वदेहादिकमभ्यसन् ।
प्राप्नोति पूर्ववत्सर्वं फलं पादावृतिस्थितम् ।। ११ ।।
पायावपि [1]मनस्तत्त्वं स्थिरीकुर्वन्नवाप्स्यति ।
वासेन तद्भवव्याधिविमुक्तिमवलम्बितः ।। १२ ।।

तीन वर्ष तक हाथों की तरह पैरों में ही ध्यान करने की प्रक्रिया का निर्देश है। इसमें भी परिवृत्ति की जा सकती है। इसका परिणाम अप्रकल्पनीय हैं। इस प्रक्रिया में सिद्धि प्राप्त कर लेने पर आसमुद्रान्त समस्त भूमण्डल का चंक्रमण मुहूर्त्त मात्र में ही किया जा सकता है। इसमें श्रान्ति या थकावट भी नहीं होती। इसलिये अश्रान्त अर्थात् अनवरत रूप से आने जाने का काम किया जा सकता है। प्राचीन काल के पौराणिक आख्यानों में इस प्रकार के कथानक आते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि, ऋषियों, महर्षियों, सिद्धों नाथपंथियों और शैव वैष्णव साधकों में यह प्रक्रिया पूरी तरह प्रचलित थी। आज इसके प्रयोक्ता दीख नहीं पड़ते ।। १० ।।

इस प्रकार साधना में रत साधक यथा निर्देश इन चौदह विधियों का सम्यक् रूप से अभ्यर्चन अर्थात् श्रद्धापूर्वक सम्पादन करते हुये और उक्त प्रकार से स्वशरीर सम्बन्धित अभ्यास करते हुये, पैरों की आवृति पर्यन्त समस्त साधनाओं को करते हुये निर्दिष्ट सभी सुपरिणामों से प्राप्त यशस्विता से समन्वित हो जाता है। इसमें एक रहस्यात्मक संकेत भी निहित है। चतुर्दशधाम शैव धाम माना जाता है। चतुर्दश की अभ्यर्चना में इस साधना के साथ शैवसद्भाव अनिवार्यतः अपेक्षित है, यह अर्थ भी लगाना आवश्यक है ।। ११ ।।

विषयान्तर की तरह यहाँ वायु से सम्बन्धित विषय का निर्देश कर रहे हैं। यदि 'मन' से सम्बन्धित नहीं होता, तो विशुद्ध विषयान्तर होता किन्तु मनतत्त्व की बात होने के कारण वर्ण्य विषय के रूप में ग्रहणीय है। इसके अनुसार पायु में मनस्तत्त्व को समाहित कर बल्कि एकदम स्थिर कर पायु सम्बन्धी समस्त रोगों से छुटकारा मिल जाता है। इसकी समय सीमा एक माह है। लगातार एक माह इस साधना में रत रहना चाहिये ।। १२ ।।

१. ग० पु० मनस्तद्वदिति पाठः

पुण्यश्लोकत्वमाप्नोति त्रिभिरब्दैरनादरात् ।
चतुर्दशविधं चात्र पूर्ववत्फलमाप्स्यति ॥ १३ ॥

स्वरूपतः स्मरेल्लिङ्गं मासमात्राज्जितेन्द्रियः ।
षड्भिर्मासैरनायासादिच्छाकामित्वमाप्नुयात्[1] ॥ १४ ॥

चतुर्दशविधे भेदे तत्राभ्यस्ते महामतिः ।
लिङ्गावरणजं सर्वं पूर्ववल्लभते फलम् ॥ १५ ॥

यदि तीन वर्षों तक लगातार मानसिक स्थैर्य की यह साधना की जाय तो आनन फानन में उसे कीर्त्ति प्राप्त हो जाती है। यहाँ अनात् अरात् एक निपात की तरह प्रयुक्त हैं। अनात् अरात् हजारों साल पहले आनन-फानन अर्थ में प्रचलित निपात शब्द हैं। इन्हें अनादर अर्थ में यहाँ नहीं लेना चाहिये। इसके भी चौदह भेद हैं, रहस्यात्मक हैं। वास्तव में पायु में ही मूलाधार चक्र है। इसके पाँच बीजाक्षर, ब्रह्मा और डाकिनी शक्ति इनके सव्यापार और निर्व्यापार भेद चतुर्दश प्रकारता का संकेत करते हैं। इससे पूर्ववत् सुन्दर परिणामों की प्राप्ति होती है॥ १३ ॥

इस श्लोक में लिङ्ग विषयक साधना का निर्देश हैं। इस अद्भुत दिव्य देह के संयोजन में अदृश्य शक्ति में विविध प्रकार की अनिर्वचनीय संरचना को आधार और आकृति दी है। इसमें लिङ्ग नामक अवयव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका 'स्व' रूप रहस्यमय प्रकल्पनाओं से ओत-प्रोत है। इसमें मन को स्थिर करना एक साधना है। इच्छा कामित्व इसका सुफल है। इसमें समय सीमा छः मास है। इसी समय सीमा में यह सिद्ध हो जाता है॥ १४॥

इसमें स्वाधिष्ठान चक्र का महाप्रभाव है। कूर्चबीज के द्वारा लिङ्ग मूल में संकोच विकोच का अनुभव योगी करते हैं। इसमें इन सब तथ्यों का मानसिक स्मरण करने का निर्देश भगवान् कर रहे हैं। जितेन्द्रिय भाव से अर्थात् इस विशेष साधना समय में मैथुन आदि से पृथक् ब्रह्मचर्य भाव में रहते हुये यह क्रिया करनी चाहिये। इसके भी चौदह भेद होते हैं। महाप्राज्ञ योगिवर्य ही इसके अभ्यास में प्रवृत्त होते हैं और लिङ्गावरण विजय प्राप्त करते हैं तथा पूर्व में कहे गये समस्त फलों का लाभ प्राप्त करते हैं॥ १५ ॥

---

१. क० पु० इच्छासिद्धिमवाप्नुयादिति पाठः

स्वजिह्वामिन्दुवर्णाभां चिन्तयेद्दशभिर्दिनैः ।
प्राप्नोत्यनुभवं योगी जिह्वाभवमिवात्मनः ॥ १६ ॥

आस्वादयति दूरस्थं षण्मासादेकमानसः ।
वत्सरैस्तु त्रिभिः साक्षाल्लेढ्यसौ परमामृतम् ॥ १७ ॥

येनासौ भवति योगी जरामरणवर्जितः ।
अपेयादिप्रसक्तोऽपि न पापैः परिभूयते ॥ १८ ॥

पूर्ववत्सर्वमन्यच्च स्वदेहाद्यनुचिन्तयन् ।
फलमाप्नोत्यसंदेहाद्रसनावृत्तिसंभवम् ॥ १९ ॥

यहाँ से रसनारूप ज्ञानेन्द्रिय जन्य साधना के सम्बन्ध में बतलाया जा रहा है। सर्व प्रथम अपनी जीभ को चन्द्र के समान श्वेतवर्ण वाली आभा से भास्वर रूप में चित्तन करना चाहिये। इसकी समय सीमा मात्र दश दिन की है। दश दिन के बाद योगी अपनी रसना से उत्पन्न अनुभवों से विविध प्रकार की प्रेरणा प्राप्त करता है। इस श्लोक में प्रयुक्त 'इव' अव्यय अनुभूति के विविध आयामों का प्रकल्पन करने को प्रेरित सा कर रहा है। अपने जिह्वा-सम्भूत रूप की कल्पना में इन्द्रिय जन्य दिव्यता का भी संकेत मिलता है ॥ १६ ॥

यदि छः मास लगातार रसनेन्द्रिय के अधिष्ठान को एकाग्रचित से एक निष्ठ भाव से तथा जिह्वाग्र को श्वेतचन्द्र की विभा से भास्वर देखता या अनुभव करता रहे तो, दूरस्थ पदार्थों के आस्वाद का सामर्थ्य उसे प्राप्त हो जाता है। तीन वर्ष तक लगातार इस प्रक्रिया का अनुसरण करने पर योगी साक्षात् परम अमृत का रसा-स्वादन कर लेता है। परमामृत सोमतत्त्व होता है। इसी से विश्व का अस्तित्त्व सुरक्षित रहता है। इस लेहन व्यापार से योगी के अमरत्व का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

योगी जरा और मरण रूप जीवन की महाकष्टप्रद अवस्थाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। विधिनिषेध की बन्धेज से और वर्जनाओं से ऊपर उसकी स्तरीयता का परिवेश प्रशस्त हो जाता है। यदि अपेय का भी वह पान करे तो, उसके पाप के प्रतिफल उसे स्पर्श नहीं करते ॥ १७-१८ ॥

पूर्ववत् रसना को, रसना के अतिरिक्त समस्त वस्तु मात्र को और इसी तरह अपने शरीर को भी यदि वह अनुचिन्तित करता है, तो इनके अलग-अलग दिव्य

कनकाभं स्वकं [1]घ्राणमनुचिन्तयतः शनैः ।
दिवसैर्दशभिर्घ्राणशून्यतानुभवो भवेत् ॥ २० ॥
षण्मासाद्गन्धमाघ्राति दूरस्थस्यापि वस्तुनः ।
घातयेद्गन्धमाघ्राय यस्य दुष्टो भविष्यति ॥ २१ ॥
वत्सरैस्तु त्रिभिर्दिव्यं गन्धमासाद्य योगवित् ।
जरामरणनैर्गुण्ययुक्तो दिव्यत्वमर्हति ॥ २२ ॥

फलों से वह अवश्य लाभान्वित होता है। इस सब में रसनावृत्ति सम्भूत शक्ति का प्रभाव प्रधानतया परिलक्षित होता है ॥ १९ ॥

यहाँ से घ्राणेन्द्रिय धारणा का सन्दर्भ भगवान् शङ्कर के उपदेशों में प्रारब्ध है। अपने घ्राणेन्द्रिय के ध्यानगत अनुष्ठान से ही यह सम्पन्न होता है। इसमें सर्वप्रथम अपने घ्राण को स्वर्ण के समान पाण्डुर प्रधान पीलाभ रूप में शनैः शनैः अनुचिन्तित करना चाहिये। दश दिन में साधक को यह अनुभव होने लगता है कि, नासिका है ही नहीं ॥ २० ॥

इस प्रक्रिया में लगार छः मास का समय लगाने से अर्थात् अशिथिल भाव से एकनिष्ठता और आस्था पूर्वक इस साधना के करने से किसी गन्धवद् वस्तु का गन्ध, दूर अवस्थित रहने पर भी वह साधक ग्रहण कर लेता है। साधक में ऐसी शक्ति का उल्लास हो जाता है कि, जो व्यक्ति दुष्ट होता है, अथवा साधक से शत्रुभाव रखता है, द्वेषरत रहता है, उसका गन्ध दूर से ही सूँघकर उसके ऊपर आघात कर सकता है, उसका प्रतिकार कर सकता है और यदि द्वेष रखने वाला घात करता है, तो उसका उत्तर वह घात से दे सकता है ॥ २१ ॥

तीन वर्षों तक अनवरत साधना संलग्न रखने वाला साधक दिव्य अर्थात् देवों और दैवी शक्तियों के गन्ध ग्रहण में समर्थ हो जाता है। दूसरा महत्त्व पूर्ण परिणाम यह होता है कि, जन्म और मरण के गुणों अर्थात् प्रभाव से वह रहित हो जाता है। यही जरा-मरण नैर्गुण्य है। इससे रहित होने का अर्थ है, जरा रहित अवस्था युवा की तरह जीवनी शक्ति से समन्वित हो जाता है।

दूसरी अद्भुत बात यह होती है कि, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। शरीर से ही कालजयी हो जाता है। मृत्यु को मृत्युजित योगी ही जीत सकता है। मरण नैर्गुण्य युक्त अर्थात् अमरता को उपलब्ध योगी हो जाता है। तीसरी उसकी विशेषता दिव्यता की उपलब्धि है। वह उसी के योग्य हो जाता है ॥ २२ ॥

१. क० पु० स्वकं ज्ञानमिति पाठः ।

सर्वमन्यद्यथोद्दिष्टं तथैव च विचिन्तयेत् ।
क्रमिकं फलमाप्नोति घ्राणावरणमास्थितम् ॥ २३ ॥

उदयादित्यसंकाशे चिन्तयंश्चक्षुषी निजे ।
दशाहाच्चक्षुषो रक्तस्रावानुभवमाप्स्यति ॥ २४ ॥

वेदना महती चास्य ललाटे संप्रजायते ।
न भेतव्यं महादेवि न चाभ्यासं परित्यजेत् ॥ २५ ॥

संत्यजन्नन्धतामेति तेन यत्नात्समभ्यसेत् ।
षड्भिर्मासैर्महायोगी दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ २६ ॥

ऊपर इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वही यथोद्दिष्ट उपदेश हैं। भगवद्वाक्य रूप में यह शिव का वरदान है। उसी उपदेश रूप वरदान का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। वैसा ही आचरण और वैसा ही चिन्तन करना चाहिये। इससे फल क्रमशः साधक को उपलब्ध हो जाते हैं। साधक घ्राणेन्द्रिय के आवरण में अवस्थित हो जाता है ॥ २३ ॥

यहाँ से चक्षु इन्द्रिय की धारणा की अवधारणा में सिद्धि के अभिलाषी साधकों के लिये ऐसा ही उपदेश किया जा रहा है। इसमें सर्वप्रथम साधक अपनी दोनों आँखों को अरुणिमा से युक्त उषः कालीन तत्त्व में उदित हो रहे सूर्य बिम्ब के सदृश अनुचिन्तन करें। इस अनुभूति में रत रहने का परिणाम यह होता है कि, दश दिन में साधक को लगता है कि, आँखों से रक्तस्राव हो सकता है ॥ २४ ॥

दश दिन के इस साधारण से अभ्यास से साधक के सामने कठिनाइयाँ सी आती जान पड़ने लगती हैं। उसे ऐसा आभास होता है कि, मेरे ललाट में भयङ्कर वेदना हो रही है। उस महती वेदना से वह घबड़ाने सा लगता है। वह साधना विरत होने की सोचने लगता है। भगवान् विश्वनाथ कह रहे हैं कि, इस अवस्था में भी साधकों को तनिक भी घबराहट नहीं होनी चाहिये, न डरना ही चाहिये। किसी दशा में भी अभ्यास का परित्याग करना चाहिये। वरन् मनोयोग पूर्वक और भी प्रवृत्त होकर निर्भीक भाव से साधना में प्रवृत्त रहना चाहिये ॥ २५ ॥

इस अवस्था में दुर्भाग्य वश यदि साधक इस साधना प्रक्रिया से विरत हो जाता है, तो उसे भयङ्कर परिणाम भुगतना पड़ता है। सर्वप्रथम उसकी आँखों के

छिद्रां प्रपश्यते भूमिं कटाहान्तामतन्द्रितः ।
आध्रुवान्तमथोर्ध्वं च करामलकवद्बुधः ॥ २७ ॥
वत्सरैस्तु त्रिभिर्योगी ब्रह्माण्डान्तं प्रपश्यति ।
तदन्तर्योगिनीज्ञानं शरीरस्थं प्रजायते ॥ २८ ॥
स्वदेहादिकमन्यच्च पूर्वोक्तं पूर्ववत्स्मरन् ।
नयनावृतिजं सर्वमाप्नोतीति किमद्भुतम् ॥ २९ ॥

जाने का भय रहता है और अन्धेपन का भोग भोगना पड़ सकता है। किन्तु कार्य न छोड़ने वाले साधक को कोई भय नहीं रहता। यदि लगातार वह छः माह तक इस प्रक्रिया में मनोयोग पूर्वक लगा रहता है, तो वह महायोगी दिव्य दृष्टि सम्पन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

प्रक्रिया में सविधि सन्निरत और सावधानी पूर्व साधना में संलग्न साधक आकटाहान्त भूमण्डल के छिद्रों को प्रत्यक्ष देखने की शक्ति से समन्वित हो जाता है। उस दृष्टि के प्रभाव से ध्रुवपर्यन्त सब कुछ देख सकता है। उसे अधः ऊर्ध्व सब कुछ हाथ में आँवले की तरह दिखायी देने लगता है। यह दृष्टि का ही महा-प्रभाव माना जाता है ॥ २७ ॥

तीन वर्ष तक लगातार इसी साधना में लगा रहने का महाफल उसे प्राप्त होता है। वह समग्र ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अन्तिम चतुर्दिक् छोरों के देखने में समर्थ हो जाता है। ब्रह्माण्ड की आन्तरिक यौगिक क्रियाओं, उसकी योगिनी शक्तियों और उसके निर्माण की सारी प्रक्रियाओं का समग्र दर्शन हो जाता है। इसी प्रकार शरीर की संरचना का सारा स्वरूप उसे दिखायी पड़ जाता है ॥ २८ ॥

अपने शरीर और शरीर संरचना से सम्बन्धित समग्र विषयों का स्मरण करते हुये नेत्रेन्द्रिय के आवरण विज्ञान का पूर्ण जानकार हो जाता है। इस आश्चर्य जनक ज्ञान से सम्पन्न होने के अतिरिक्त भी वह अद्भुत दर्शन में समर्थ हो जाता है। यहाँ नेत्रेन्द्रिय धारणा के विषय में विभिन्न प्रकार के काल जन्य भेदों का निर्देश भगवान् ने दिया है ॥ २९ ॥

सर्वत्राञ्जनपत्राभां निस्तरङ्गां त्वचं स्मरन् ।
शस्त्रैरपि न मासेन [1]हन्तुं शक्यो भविष्यति ॥ ३० ॥
षण्मासादतितीव्रेण नाग्निनाप्येष दह्यते ।
वत्सरत्रितयाद्योगी वज्रोपलविषादिभिः ॥ ३१ ॥
पीड्यते न कदाचित्स्यादजरामरतां गतः ।
स्पर्शावृतिजविज्ञानगोतवच्च चतुर्दश ॥ ३२ ॥

शरीर स्थित ज्ञानेन्द्रियों में त्वगिन्द्रिय का विशिष्ट महत्त्व है। यहाँ से त्वगिन्द्रिय सम्बन्धी धारणाओं का निर्देश कर रहे हैं। सर्वप्रथम सर्व शरीर में चर्म में अधिष्ठित त्वक् कृष्ण अञ्जन पत्र-सदृश आभा से युक्त त्वक् का स्मरण साधक को करना चाहिये। इसे कृष्णाञ्जन त्वक् धारणा कहते हैं। साधक को अनवरत एक मास तक इसे नित्य और नियमित रूप से करने का निर्देश शास्त्र देता है। इस धारणा से त्वगिन्द्रिय इतनी कर्कश हो जाती है कि, उस पर कोई प्रहार काम नहीं करता। यहाँ तक कि, कोई तीक्ष्ण शस्त्र से प्रहार कर भी उसे मार नहीं सकता। इसमें सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं ॥ ३० ॥

इस प्रक्रिया को एक मास तक अनवरत करने का इतना सुन्दर परिणाम बताने के बाद भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, यही क्रम यदि लगातार छः मास तक साधक अपनाता रहे और अपने त्वगाधार का उसी तरह चिन्तन करता रहे, तो भयङ्कर ज्वालाओं से जाज्वल्यमान अग्नि के द्वारा भी वह भस्म करना तो दूर, झुलसाया भी नहीं जा सकता।

इसी क्रम को लगातार यदि साधक तीन वर्षों तक चलाता रहे, तो वज्रोपम उपल और विष आदि का भी कोई दुष्प्रभाव उसके ऊपर नहीं पड़ता। इन विपरीत पदार्थों के दुष्प्रभाव से वह सुरक्षित रहता है ॥ ३१ ॥

उक्त प्रकार की इस तान्त्रिक साधना की प्रक्रिया में अनन्य भाव से लगे रहना भौतिकता पर विजय प्राप्त करने की तरह एक भोगेच्छु साधना ही है। इससे जरावस्था पास नहीं फटक पाती। जैसे अमरता में शरीर में विकार नहीं आते, उसी तरह इस साधना में पीड़ा और स्पर्श विकार नहीं होते, यही इसकी अमरता का तात्पर्य है। पहले कही गयीं धारणाओं के समान इसमें भी स्पर्शा-वरण विज्ञान की सारी चौदह पार्थक्य प्रथायें अर्थात् भेद ज्ञात हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

१. ग० पु० च्छेत्तुं शक्य इति पाठः ।

भेदाः सह फलैर्ज्ञेयाः पूर्वकालानुसारतः ।
किन्त्वत्र चिन्तयेद्देहं स्वदेहादिभिरावृतम् ॥ ३३ ॥

संदधानः स्वकं चेतः श्रोत्राकाशे विचक्षणः ।
दूराच्छ्रवणविज्ञानं षण्मासादुपजायते ॥ ३४ ॥

त्रिभिःसंवत्सरैर्देवि ब्रह्माण्डान्तरुदीरितम् ।
शृणोति स[1] स्फुटं सर्वं जरामरणवर्जितः ॥ ३५ ॥

यहाँ ऐसे रहस्य का उपदेश भगवान् शङ्कर कर रहे हैं जो साधना के महत्त्वपूर्ण प्रकारों में से एक है। ऊपर जितने भेद प्रख्यापित किये गये हैं, सभी कालानुसारी भेद हैं। दिन, मास, वर्ष पर्यन्त जो साधनायें की जाती हैं, उनके भेद और फल उसी क्रम से जान लिये जाते हैं और जान लेना भी चाहिये। इस साधना की अन्तिम परिणति स्वशरीर को स्वशरीरों से आवृत अनुभव करना है, इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिये। देह को देह इत्यादि आवृत्त समझना ही नहीं अनुभव भी करना चाहिये ॥ ३३ ॥

यहाँ से श्रोत्रेन्द्रिय साधना का उपदेश कर रहे हैं। उनका कहना है कि, सर्वप्रथम अपने चित्त को विचक्षण साधकाचार्य अपने श्रोत्राकाश में स्थिर करने का प्रयत्न करे। इस अनुसन्धान में रहे कि, मेरा चित्त यहाँ क्या अनुभव कर रहा है? वह यह देखेगा अर्थात् अनुभव करेगा कि, मुझे क्रमशः दूर की बातें भी सुनायी देने लगी हैं। छः मास बीतते-बीतते वह इस विज्ञान का कालानुसारी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवि पार्वति! साधक यदि तीन वर्ष पर्यन्त लगातार इस साधना में संलग्न रहता है, तो उसका अद्भुत फल मिलता है। साधक ब्रह्माण्ड में जहाँ भी जिस प्रकार के शब्द हो रहे हैं, उनका यथेच्छ श्रवण कर सकता है। सारी बातें वह ज्यों की त्यों सुन सकता है। साथ ही वह जरा और मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ॥ ३५ ॥

---

१. क० पु० स्फुटं सर्वमिति पाठः ;

तत्राकाशोक्तवत्सर्वं स्वदेहाद्यनुचिन्तयेत् ।
श्रोत्रावरणं सर्वं फलमाप्नोति पूर्ववत् ॥ ३६ ॥

मनोवतीमतो वक्ष्ये धारणां सर्वसिद्धिदाम् ।
यया संसिद्धया देवि सर्वसिद्धिफलं लभेत् ॥ ३७ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
तस्मात्तदभ्यसेन्मन्त्री यदीच्छेन्मोक्षमव्ययम्[1] ॥ ३८ ॥

तदर्धचन्द्रसंकाशमधोवक्त्रं हृदि स्थितम् ।
चिन्तयन्मासमात्रेण प्रतिभां[2] प्रतिपत्स्यते ॥ ३९ ॥

इस साधना के क्रम में अपने शरीर को आकाशवत् चिन्तन का भी विधान है। जैसे आकाश सूक्ष्म, सर्वव्यापी और श्रोत्र गुण वाला है, उसी तरह अपने शरीर का भी चिन्तन करे। इसमें पाँचों तत्त्व पाँचों में व्याप्त करते हुए अन्त में आकाश में व्याप्त आकाशवत् चिन्तन करने से देह के आकाशवत् अनुभव की सिद्धि मिल जाती है। परिणामतः श्रोत्रावरण विज्ञान में वह पूर्णतया दक्ष बन जाता है॥ ३६ ॥

यहाँ से मनोवती साधना का उपदेश कर रहे हैं। इस साधना से सारी सिद्धियाँ हस्तामलकवत् सिद्ध हो जाती हैं। इसके अर्थात् एकमात्र मनोवती धारणा सिद्धि से सारी सिद्धियों के सुफल प्राप्त हो जाते हैं। यह ध्रुव सत्य है कि, मन ही सभी मनुष्यों के आवागमन रूप बन्ध और बन्ध से छुटकारा रूप मोक्ष, इन दोनों का एकमात्र साधन है। इसलिये भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, मन्त्रोपासक या अन्य किसी प्रकार का साधक मनोवती धारणा की साधना में अवश्य लगे और इसे सिद्ध करे। यदि साधक के हृदय में अव्यय पद रूप मोक्ष को उपलब्ध होने की तनिक भी इच्छा हो तो, इस साधना को अवश्य करे॥ ३७-३८ ॥

इसी क्रम में एक ऐसी आकृति का प्रकल्पन स्वयम् अपने हृदय-देश में करे, जो अर्धचन्द्र के समान हो, उसका मुख नीचे की ओर का हो और चन्द्रवत् प्रकाश से परिपूर्ण हो। इस आकृतिमय प्रकल्पित विग्रह का चिन्तन यदि लगातार

---

१. ग० पु० मक्षमिति पाठः   २. क० पु० पतितां प्रतीति पाठः ।

अकस्मात्पश्यते किञ्चिदकस्माच्छृणुते तथा ।
सर्वेन्द्रियात्मकं ज्ञानमकस्माच्च क्वचित्क्वचित् ॥ ४० ॥

स्वस्वकेन्द्रियविज्ञानं संपश्येद्वत्सरत्रयात् ।
भवते योगयुक्तस्य योगिनः सुपरिस्फुटम् ॥ ४१ ॥

स्वदेहादिकमप्यत्र पूर्वोक्तवदनुस्मरन् ।
चित्तावरणविज्ञानं प्राप्य सोमगुणं लभेत् ॥ ४२ ॥

एक मास पर्यन्त करता रहे तो, इसका अद्भुत लाभ साधक को उपलब्ध होता है। वह नवनव उन्मेष शालिनी प्रतिभा की प्रतिपत्ति से सम्पन्न हो जाता है अर्थात् उसमें प्रातिभज्ञान का प्रकाश विस्फुरित हो जाता है ॥ ३९ ॥

उसे अकस्मात् रहस्यमयी शक्तियों के दर्शन हो जाते हैं। इसी तरह कहीं अचानक आश्चर्यमयी वाणी का श्रावण प्रत्यक्ष होने लगता है अर्थात् सुनायी पड़ने लगता है। यही नहीं कि, केवल नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रियों से ही ऐसा होता है। उसकी अन्य इन्द्रियों से भी इसी तरह ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष होने लगते हैं। अर्थात् सारी इन्द्रियाँ इसी तरह अपने-अपने विषयों के प्रत्यक्षीकरण में समर्थ हो जाती हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि, इन्द्रिय जन्य इस प्रकार के ज्ञान उसे हमेशा होते रहने से उसे कोई बाधा नहीं होती है। यह ज्ञान क्वाचित्क रूप से जहाँ आवश्यक होता है, वहीं होता है ॥ ४० ॥

इसी साधना को साधक लगातार तीन साल तक करता रहे, तो उसे विचित्र इन्द्रिय सम्बन्धी शक्तियाँ मिलती हैं। अपनी सभी इन्द्रियों का विज्ञान उसे स्वतः स्फुरित हो जाता है। उस विज्ञान के चामत्कारिक पक्ष के अनुदर्शन होने लगते हैं। इसमें शर्त यही है कि, लगातार योगयुक्त होकर ही इसे करना चाहिये। इस प्रकार के ज्ञान को सुपरिस्फुट ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है ॥ ४१ ॥

इसी योग युक्तावस्था में पहले की ही तरह अपने शरीर, अपने अस्तित्व और परिवेश को भी उस ज्ञानाश्रय विज्ञान में समाहित कर देना चाहिये। इस समाधान का अनुस्मरण करते हुये साधक चित्तावरण विज्ञान की उपलब्धि कर लेता है। इस तरह वह सोमतत्त्व वेत्ता बन जाता है ॥ ४२ ॥

इत्येकादश गीतानि समभ्यस्तानि ते तथा ।
इन्द्रियाणि, यतः सर्वं फलमेव प्रतिष्ठितम् ॥ ४३ ॥
बन्धमोक्षावुभावेताविन्द्रियाणां[1] जगुर्बुधाः ।
विगृहीतानि बन्धाय विमुक्तानि विमुक्तये ॥ ४४ ॥
एतानि व्यापके भावे यदा स्युर्मनसा सह ।
विमुक्तानीति विद्वद्भिर्ज्ञातव्यानि तदा प्रिये ॥ ४५ ॥

इस तरह इन्द्रिय और मन को लेकर एकादश धारणाओं का विज्ञान यहाँ वर्णन का विषय बनाया गया। इसी रूप में इनका अभ्यास करना चाहिये। इनको जैसा कहा गया है, उसी रूप में साधित करते रहने से इन ग्यारह तात्त्विक विज्ञानों का प्रतिष्ठा परक फल प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

ये एकादश इन्द्रियाँ बन्ध और मोक्ष रूप में उभय प्रकारक फलों की साधयित्री और प्रदात्री हैं, ऐसा विचक्षण विद्वान् पुरुष कहा करते हैं। इनका व्यावहारिक रूप से विषयों में सम्पृक्त रहकर यदि विषयानुगुण्य में विषय सुख के लिये किया जायेगा, तो इनका परिणाम वैषयिक संस्कारों से प्रभावित और बन्धयुक्त अर्थात् बन्धनप्रद हो जाता है। अर्थात् मनुष्य आवागमन के चक्र में फँसकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने का महादुःखप्रद व्यसन पाल लेता है। इसके विपरीत इन्हें विषयों से सम्पृक्त न कर इनकी रहस्यात्मकता के विज्ञान से परिचित हो जाय, तो यही करणेश्वरी देवियाँ स्वयं साधक को दीक्षा देकर कृतार्थ कर देती हैं। साधक की विमुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसलिये साधक को इस रहस्य के प्रति सावधान रहना चाहिये। कभी भी इन्द्रिय लोलुपता के असत् आकर्षण में न पड़कर शाश्वत मुक्ति के लिये प्रयत्नशील हो जाना चाहिये ॥ ४४ ॥

ये इन्द्रियाँ मन के साथ सहयोग और सहभाव में व्यापक परमेश्वर के महाभाव सद्भाव से भावित रहकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर देती हैं। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि, यही विमुक्ति की नींव डाल देती हैं। स्वयं भी विमुक्त रहती हैं अर्थात् विषय गत कुसंस्कारों से अलग मुक्तिपथ पर ही विचरण करती हैं। यह बात विद्वानों को गाँठ की तरह बाँध लेनी चाहिये। इनका विस्मरण कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४५ ॥

१. तं० इन्द्रियाणीति पाठः

यदा तु विषये क्वापि प्रदेशान्तरवर्तिनि ।
संस्थितानि तदा[1] तानि बद्धानीति प्रचक्षते ॥ ४६ ॥

इत्ययं[2] द्विविधो भावः शुद्धाशुद्धप्रभेदतः ।
इन्द्रियाणां समाख्यातः सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ४७ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रेऽक्षधारणाधिकारः पञ्चदशः ॥ १५ ॥

जब यही इन्द्रियाँ विषय प्रदेशों में जहाँ-तहाँ फँसी रहती हैं, जैसे नेत्रेन्द्रिय रूप जाल में, रसना विषयानुगतषट् रसों के आस्वाद में, घ्राण व्यर्थं के इत्रादि गन्ध ग्रहण में, श्रोत्र विषय रसवर्धक रागरागिनी श्रवण में, वाक् विरूपता के विषधरों की विषयमयी मूर्छा से ग्रस्त होकर गो, गायत्री, गीता, गणेश, गङ्गा के विगान में और त्वक् सुकुमार वैषयिक स्पर्श में ही लगी रह जाती हैं, तो ध्रुव सत्य है कि, प्रदेश रूप सीमा में वे बद्ध हो जाती हैं। यही बन्धप्रद बन जाती हैं ॥ ४६ ॥

यह दो प्रकार के बन्धात्मक और मोक्षात्मक भाव सभी शास्त्रों द्वारा समर्थित हैं। एक को अशुद्ध भाव और दूसरे को शुद्ध भाव कहते हैं। यही सिद्ध योगीश्वरी मत का निष्कर्ष है। यही मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के सिद्धान्त रूप में भी प्रसिद्ध है ॥ ४७ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
अक्षधारणाधिकार नामक पन्द्रहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १५ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

---

१. क० पु० तदैतानीति पाठः

२. तं० इत्येवमिति पाठः ।

अथ षोडशोऽधिकारः

अथ गर्वमयीं दिव्यां धारणां धारणोत्तमाम् ।
महागर्वंकरीं वक्ष्ये योगिनां योगवन्दिते ॥ १ ॥
षोडशारं स्मरेच्चक्रमात्मदेहमनन्यधीः[1] ।
एषोऽहमिति संचिन्त्य स्वकार्यपरिवारितम् ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतं ज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्र 'हंस' कृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्य संवलितम्

षोडशोऽधिकारः

[१६]

परमोपास्य परमेश्वर परमेश्वरी परमाम्बा से स्वयम् परम प्रसन्न मुद्रा में मनोज्ञता पूर्वक यह प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि, योगियों की आराध्या और योगपूर्वक शाश्वत वन्दनीय महादेवि ! तुम मेरी गिरा की ग्राहकेश्वरी हो। श्रद्धा पूर्वक तुम इसे धारण कर रही हो। तुम्हारे श्रद्धा-अनुरोध पर मैं यहाँ धारणाओं में सर्वोत्तम दिव्य गर्वमयी धारणा का वर्णन करने जा रहा हूँ। यह योगियों की दिव्या धारणा है। यह महागर्वकरी विद्या है। ध्यान पूर्वक सुनो और इसे पूर्णतया ग्रहण करो ॥ १ ॥

अनन्य निष्ठा से सम्पन्न, बुद्धि पूर्वक योग प्रक्रिया में प्रवृत्त साधक साधना में सावधान भाव से आसन पर विराजमान हो जाय। सर्वप्रथम सोऽहं महावाक्य की तरह 'एषोऽहं' का अनुचिन्तन करना प्रारम्भ करे। साथ ही सोचे कि, पारमेश्वरी क्रिया शक्ति से सम्पन्न सभी कार्य हैं। यह किसी अदृश्य कारण से उत्पन्न हैं। इस मेरे भौतिक शरीर के 'स्व' अङ्ग बनकर जो मेरे कहला रहे हैं, मैं

---

१. ख० पु० मात्मन्यहमनन्ययोरिति पाठः ।

अप्रधृष्यो भवेद्योगी वत्सरत्रितयेन तु ।
ममत्वमच्युतं तस्य भवेत्सर्वत्र कुत्रचित् ॥ ३ ॥

तादृग्रूपस्य चक्रस्य नाभिं मूर्तिं स्वकां स्मरन् ।
चिन्तयेत्सर्वमेवाहं मयि सर्वमवस्थितम् ॥ ४ ॥

ततोऽहङ्कारविज्ञानं प्राप्नोतीति किमद्भुतम् ।
हृच्चक्रे समनुध्यायन्मत्स्वरूपमतन्द्रितः ॥ ५ ॥

इनसे घिरा हुआ हूँ। यह मेरा शरीर एक चक्र है। इसका एक परिवेश है, जो चक्रात्मक है। चक्र में अरे होते हैं। जैसे पहियों में तिल्लियाँ होती हैं, उसी तरह हमारे शरीर चक्र में १६ अरे हैं। अरा शरीर से सदा बाहर की ओर निकलने वाली वैद्युतिक किरणों को कहते हैं। उनसे दूसरे पुरुष की अनुकूल प्रतिकूल स्वभाव सत्ता का परिज्ञान भी हो जाता है। ऐसे ही १६ अरा समूह से मेरा शरीर समन्वित है। इस तथ्य के स्मरण और चिन्तन में प्रवृत्त रहना प्रारम्भ करे ॥ २ ॥

तीन वर्ष तक नियमित समय सीमा का ध्यान रखते हुये इस साधना में योगी यदि प्रवृत्त रहता है, तो वह अप्रधृष्य हो जाता है अर्थात् अजेय हो जाता है। धृष् धातु क्षति या चोट पहुँचाने अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऐसे अजेय साधक को कोई आहत नहीं कर सकता। सर्वत्र जहाँ कहीं भी उसकी क्षमता का महाप्रभाव होने लगता है। इसमें कहीं च्युति नहीं होती ॥ ३ ॥

चक्र में एक धुरी होती है। तिल्लियाँ उसी से निकलतीं और चक्र को गोल में धारण कर शक्ति प्रदान करती हैं। अपने देह चक्र के अपने शरीर के मध्य में वर्त्तमान 'मणिपूर' को अधिष्ठान 'नाभि' है। उसी तरह अपने पूरे शरीर को ही नाभि रूप धुरा मान लेना चाहिये। उक्त १६ अरों की नाभि, साधक का स्वयं का शरीर ही हैं। यह सोचकर यह ध्यान करे कि, यह पूरा विश्व चक्र इसी शरीर रूपी धुरा पर आधृत है। मेरे शरीर से निकलने वाली १६ अरायें सारे विश्व चक्र को आधार दे रही हैं। इस तरह साधक की सोच आगे बढ़कर 'मैं ही विश्व का आश्रय हूँ' 'यह सारा विश्व मुझमें ही अवस्थित है। इस प्रकार के चिन्तन की इस साधना में संलग्न हो जाता है ॥ ४ ॥

परमेश्वर शिव कह रहे हैं कि, इस प्रकार का बाह्य चिन्तन करने वाला योगी अपने आन्तर अनुध्यान के रूप में अपने हृदय में मेरा ही चिन्तन करता

अर्कलोकमवाप्नोति गर्वावरणजं फलम् ।
बिम्बादिकं क्रमात्सर्वं चिन्तयन्नीललोहितम् ॥ ६ ॥

तद्रूवं सर्वमाप्नोति दशावस्थाप्रचोदितम् ।
इति गर्वमयी प्रोक्ता प्रजापतिगुणप्रदा ॥ ७ ॥

उद्यदादित्यबिम्बाभं[1] हृदि पद्ममनुस्मरन् ।
धर्मादिभावसंयुक्तमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ ८ ॥

रहे। इसका बाह्य भी मेरे चिन्तन से प्रभावित होता है। इस प्रकार वह अहङ्कार के विज्ञान का तात्त्विक अधिकारी विज्ञानवेत्ता हो जाता है। इसमें क्या आश्चर्य ? अर्थात् यह कोई अद्भुत बात नहीं है ॥ ५ ॥

यह गर्वमयी धारणा का एक महाफल है। इसमें सिद्ध हो जाने पर वह अर्क अर्थात् सूर्यलोक प्राप्त करता है। इसके भी आगे की प्रक्रिया में उत्साह सम्पन्न होकर वह प्रवृत्त होता है। उस समय वह विश्व के सभी बिम्बों में नीललोहित भगवान् भूतभावन शिव का दर्शन करने का चिन्तन करने में प्रवृत्त होता है। परिणामस्वरूप नीललोहित रुद्र के कृपा प्रसाद से उससे उत्पन्न सब कुछ पाने का अधिकारी बन जाता है। अर्थात् सर्वेश्वरवत् हो जाता है। इस गर्वमयी धारणा की दश अवस्थायें होती हैं। इन सभी अवस्थाओं को पार कर लेने वाले साधक के लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। यहाँ तक प्रजापतित्व प्रदान करने वाली गर्वमयी धारणा का विषय पूर्णतया परमाराध्या पार्वती से भगवान् शङ्कर ने विश्लिष्ट एवं विवेचित करते हुये कहा। साधक का यह कर्त्तव्य है कि, इसे श्रद्धा पूर्वक सम्पन्न करे ॥ ६-७ ॥

इस नयी प्रक्रिया का प्रवर्त्तन करते हुये भगवान् शिव कह रहे हैं कि, हृदय में एक पद्म का चिन्तन करना चाहिये। वह पद्म उदय कालीन आदित्य के बिम्ब के समान आकर्षक और विकसमान सौन्दर्य से समन्वित हो। हृदय ऐसे कमल के अनुचिन्त के साथ ही साथ उसमें धर्म और अधर्म भाव वर्ग के आठ पत्र खिले हुये हों तथा कर्णिका और केशर से वह युक्त भी हो, ऐसा चिन्तन करना चाहिये। धर्म भाव चार [मा० अ० ८।९३] धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य माने जाते हैं। यहाँ धर्म के साथ आदि शब्द अष्ट पत्र के प्रसङ्ग से अधर्म अज्ञान, अवैराग्य और

---

१. क० पु० उदितादित्येति पाठः ।

मासेन स्थिरबुद्धिः स्यात्षड्भिः श्रुतिधरो भवेत् ।
त्रिभिरब्दैः स्वयं कर्ता शास्त्राणां संप्रजायते ॥ ९ ॥

स्वां तत्र चिन्तयेन्मूर्त्ति बुद्धितत्त्वं प्रपश्यति ।
तदीशज्ञानमाप्नोति ब्रह्माणमनुचिन्तयद् ॥ १० ॥

वेदानुद्गिरते सप्त ? [सुप्तः] समाधिस्थोऽथवा मुनिः ।
सुस्थिरास्ते सदाभ्यासादनधीता अपि स्फुटम् ॥ ११ ॥

अनैश्वर्य रूप आठों को कल्पना की जा सकती है। यदि केवल धर्मादि चार वर्ग के बिन्दु ही अपेक्षित होंगे, तो केवल चार को ही दो बार न्यस्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

एक मास के इस प्रयोग से बुद्धि में स्थिरता का संस्कार उद्दीप्त होने लगता है। यदि यही प्रक्रिया छः मास निरन्तर, इसी प्रक्रिया के ही अनुसार करने में लगा रहे, तो श्रुतिधर हो जाता है। तीन साल तक यदि यही क्रम अपनाकर पद्म चिन्तन की साधना साधक करता रहता है, तो वह शास्त्रों का स्वयं कर्त्ता बन जाता है। उसकी प्रतिभा का अप्रत्याशित विकास होने का ही यह सुफल है कि, साधना से शास्त्र के ज्ञान की नहीं, वरन् शास्त्र के कर्तृत्व की क्षमता भी उसमें आ जाती हैं ॥ ९ ॥

उसी पद्म में यदि स्वात्ममूर्त्ति का चिन्तन साधक करना प्रारम्भ कर देता है और इस प्रक्रिया में भी समय को उसी प्रकार सीमा का ध्यान रखता है, तो वह बुद्धि तत्त्व का तात्त्विक दर्शन करने में सक्षम हो जाता है। यदि हृत्पद्म में ब्रह्मा का ध्यान साधक करता है, तो बुद्धि तत्त्वेश्वर का ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥

साधक उसी अवस्था में सुषुप्ति, या समाधि की स्थिति प्राप्त कर लेता है, अथवा सप्त प्रकारक (पद संहिता, घन, क्रम आदि) पाठ के आधार पर चारों वेदों और तीन उपवेदों का उच्चारणपूर्वक गान कर सकता है। ऐसी दशा में सिद्ध साधक अभ्यास के बल पर अनधीत अर्थात् अपठित सन्दर्भों में भी विज्ञानवान् हो जाता है ॥ ११ ॥

बिम्बादिकं क्रमात्सर्वं पूर्वोक्तमनुचिन्तयन् ।
प्राप्नोति ब्राह्ममैश्वर्यं बुद्ध्यावरणमाश्रितम् ॥ १२ ॥

हृदि बिम्बं रवेर्ध्यायंस्तदन्तः सोममण्डलम् ।
एवमभ्यसतस्तस्य षण्मासादुपजायते ॥ १३ ॥

दिव्यचक्षुरनायासात्सिद्धिः स्याद्वत्सरत्रयात् ।
स्वदेहं चिन्तयंस्तत्र गुणज्ञानमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

लिङ्गाकारं स्मरन्दीप्तं तदीशत्वमवाप्नुयात् ।
बिम्बादि पूर्ववद्ध्यायन्दशकं दशकात्मकम् ॥ १५ ॥

ऊपर जितनी साधना सम्बन्धिनी उक्तियाँ हैं, उन मे सूर्य बिम्बादि चिन्तन ध्यान तथा काल क्रम दोनों का समन्वय करके ही क्रमिक साधनात्मक अनुचिन्तन करना चाहिये। इस तरह अनुचिन्तक उपासक क्रमशः उपासना को सम्पादित करते-करते ब्राह्म ऐश्वर्य से समन्वित हो जाता है। ब्राह्म ऐश्वर्य की उपलब्धि बुद्धि के आवरण विज्ञान की सिद्धि पर ही निर्भर करती है। यह विज्ञान इसी क्रमिक उपासना से प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

सूर्य के बिम्ब का हृदय देश में ध्यान करना एक विशिष्ट उपासना का अंग है। उस बिम्ब के अन्तर्गत सोम मण्डल का ध्यान उससे भी विशिष्ट उपासना है। इस प्रकार का अभ्यास करने वाला उपासक इसे लगातार नियमबद्ध होकर छः मास तक अवश्य करे। यह शास्त्र का निर्देश है। इतना कर लेने पर ही बुद्धि विषयक चमत्कार घटित हो सकता है ॥ १३ ॥

यही प्रक्रिया यदि साधक अनवरत तीन साल तक करता रहे तो, यह निश्चय है कि, उसे दिव्य दृष्टि उपलब्ध हो जाती है। यहाँ कारिका में अनायास शब्द का प्रयोग साधना के उपरान्त ही चरितार्थ हो सकता है। यों यह प्रक्रिया आयास साध्य ही है। उसी सोममण्डल में स्वात्म शरीर की उपासना का भी विधान है। यदि उपासक इसे उसी तरह सम्पन्न करता रहे तो गुण-विज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। गुण विज्ञान प्रकृति की साम्यावस्था का विज्ञान माना जाता है। यह गहन साधना पर ही सिद्ध हो सकता है ॥ १४ ॥

हृदय में लिङ्गाकार सूर्य बिम्ब का ध्यान साधक में सूर्य की ऊर्जा भर देता है। इसका सुपरिणाम यह होता है कि, गुण तत्त्वों को अधीनस्थ रखकर नियन्त्रित करने वाले गुणेश तत्त्व भाव का प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार ध्यान

फलमाप्नोत्यसंदेहाद्गुणावरणसंस्थितम् ।
चतुर्विंशत्यमी[1] प्रोक्ताः प्रत्येकं दशपञ्चधा ॥ १६ ॥

धारणाः क्ष्मादितत्त्वानां समासाद्योगिनां हिताः ।
त्रयोदशात्मके भेदे षडन्याः संस्थिता यथा ॥ १७ ॥

योगिनामनुवर्ण्यन्ते तथा योगप्रसिद्धये ।
देहं मुक्त्वा स्वरूपेण नान्यत् किंचिदिति स्मरेत् ॥ १८ ॥

की यह दशकात्मक साधना पूर्ण होती है। इन दश विधि साधनाओं का क्रमिक रूप से अनुसन्धान साधक के लिये अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। तभी ये सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं ॥ १५ ॥

इन साधनाओं के माध्यम से ही गुणावरण विज्ञान भी सिद्ध हो जाता है। कुल धारणायें यहाँ तक वर्णित हैं। ये चौबीस हैं। प्रत्येक धारणा को भेद की दृष्टि से यदि विभाजित किया जाय, तो अधिक से अधिक इनके अर्थात् प्रत्येक के १५-१५ भेद हो सकते हैं। इस उक्ति का अपवाद भी यहाँ प्राप्त है। जैसे श्लोक १५ में ही 'दशकं दशकात्मकम्' उक्ति दश भेद मानती है। इसी तरह अधिकार १५ के श्लोक ३२ में चतुर्दश भेद की बात कही गयी है। इसी अधिकार के श्लोक ७ में दश अवस्था की बात कही गयी है। तात्पर्य यह कि, यदि भेद में साधनात्मक प्रक्रिया में कुछ अन्तर देखकर उनकी गणना की जाय तो १५ तक भेद हो सकते हैं या किये जा सकते हैं ॥ १६ ॥

पृथ्वी से लेकर अन्य तत्त्वों की धारणाओं के सम्बन्ध में योगियों की योगसिद्धि की दृष्टि से जो भेदों के वर्णन किये गये हैं, इनके अतिरिक्त छः अन्य भेद भी हो सकते हैं। उनका यहाँ कथन भी आवश्यक है। इसलिये योगसिद्धि की दृष्टि से और योगियों के हित के लिये वे यहाँ कहे जा रहे हैं ॥ १७ ॥

वे इस प्रकार हैं। जैसे—१. लोक में प्रचलित शवासन की तरह स्वरूपतः यह अनुभव किया जाय कि, देह निष्प्राण हो गया है। आत्म रूप में देह छोड़ चुका हूँ। इसी दशा में कुछ दूसरी बात न सोची जाय। अकिंचित् चिन्तन की स्थिति में योगी अवस्थित हो जाय। यह ऐसी शून्य स्थिति है, जहाँ शाम्भव भाव स्वयम् उल्लसित हो जाता है ॥ १७-१८ ॥

---

१. क० पु० विंशतिसंप्रोक्ता इति पाठः ।

सितपद्मासनासीनं मण्डलत्रितयोपरि ।
एवमत्र स्थिरीभूते माससमात्रेण योगवित् ॥ १९ ॥
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो भवतीति किमद्भुतम् ।
षण्मासादस्य विज्ञानं जायते पृथिवीतले ॥ २० ॥
अब्दाज्जरादिनिर्मुक्तस्त्रिभिः पुंस्तत्त्वदृग्भवेत् ।
हृदधः पङ्कजेऽत्रैव द्वादशार्धाङ्गुलां तनुम् ॥ २१ ॥
हृदन्ते भावयेत्स्वान्यां षण्मासान्मृत्युजिद्भवेत् ।
त्रिभिरब्दैः समाप्नोति पुंस्तत्त्वेश्वरतुल्यताम् ॥ २२ ॥

दूसरी स्थिति में स्वयम् आत्मस्थ योगी श्वेत पद्म के आसन पर विराजमान हो जाय। त्रितय मण्डल अपने शरीर में ही कल्पित करे—१. भूमण्डल, २. भुवःमण्डल और ३. स्वर्मण्डल। इसमें मूलाधार से उन्मना तक की स्थिति का आकलन हो जाता है। इसके ऊपर शाम्भव मण्डल है, जो इन तीनों को घेर कर अवस्थित है। उसमें स्थिर हो जाय। भगवान् कहते हैं कि, योगवेत्ता साधक एक मास तक अनवरत इसी दशा का अभ्यास करता रहे ॥ १९ ॥

इसका सुपरिणाम यह होता है कि, योगी समस्त व्याधियों से मुक्त हो जाता है। इसमें आश्चर्य करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह होता ही है। छः मास तक यदि इसका क्रमिक अभ्यास करता रहे, तो पृथ्वीतल-भाग में क्या-क्या रहस्य अन्तर्निहित है, या छिपा हुआ है, सबका बोध हो जाय और हो जाता है ॥ २० ॥

चौथी प्रक्रिया के अनुसार एकवत्सर पर्यन्त की समय सीमा का इसी सिद्धि में उपयोग करता रहे, तो इसका महत्फल योगी को प्राप्त हो जाता है। योगी जरावस्था से छुटकारा पा जाता है। पाँचवीं अवस्था में इसी साधना में तीन वर्ष का समय लगाने का विधान है। इस सिद्धि के अनुसार योगी पुरुषतत्त्व का द्रष्टा हो जाता है। यह बहुत उत्कृष्ट कोटि की सिद्धि मानी जाती है। योग के उत्कर्ष को प्राप्त करना सौभाग्य का विषय है।

हृदय के नीचे एक कमल की कल्पना कर अपने शरीर को द्वादशार्ध अङ्गुल अर्थात् छ अङ्गुल चिन्तन करना प्रारम्भ करना चाहिये। शरीर वहाँ हो, और हृदय के अन्दर अपने को दूसरे रूप में आकलित करें। इस तरह के स्वात्मद्वैरूप्यानुसन्धान के छः माह में ही मृत्युजेता अर्थात् कालजयी बन जाता है ॥ २१-२२ ॥

बिम्बादौ पूर्ववत्सर्वं तत्र संचिन्तिते सति ।
फलमाप्नोत्यसंदेहात्पुरुषावरणस्थितम् ॥ २३ ॥

एतद्वेदान्तविज्ञानं समासादुपवर्णितम् ।
कपिलस्य पुरा प्रोक्तमेतद्विस्तरशो मया ॥ २४ ॥

शरत्संध्याभ्रसंघाभं स्वदेहमनुचिन्तयत् ।
वीतरागत्वमाप्नोति षड्भिर्मासैर्न संशयः ॥ २५ ॥

बिम्ब प्रकल्पन की चर्चा पहले आ चुकी है। उसमें पहले की तरह अर्थात् [श्लोक २१-२२ में] उक्त चिन्तन का अनुसरण करने वाला योगी पूर्वोक्त सारे फलों का अधिकारी हो जाता है। यही नहीं, वह पुरुषावरण विज्ञान-वेत्तृत्व विभूषित योगिवर्य की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इसमें सन्देह की जगह नहीं होती ॥ २३ ॥

यह सारा का सारा वेदान्त विज्ञान है। इसके असंलक्ष्य विस्तार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यहाँ इसे संक्षेप में वर्णित किया गया है। भगवान् कहते हैं कि, इस विज्ञान का विस्तारपूर्वक वर्णन मैंने कपिल मुनि से किया था। उसी का यह संक्षिप्त रूप है ॥ २४ ॥

यहाँ तक पुरुष तत्त्व की धारणाओं का वर्णन किया गया है। पुरुष तत्त्व २५वाँ तत्त्व माना जाता है। इसके बाद छः कञ्चुकों का क्रम आता है। इनसे आवृत शिव संकोच ग्रहण कर जीव भाव की लीलायें करता है। इसमें रागतत्त्व के प्रबल होने के कारण सर्वप्रथम राग को ही वर्णन का विषय बनाया गया है। शरत् कालीन संध्या के समय यदि पश्चिमाकाश में बादल दीख पड़ते हैं, तो उनके रंग की श्वेत पाण्डुरता में कुछ रक्तिम आभा का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। उसी आभा से भावित अपने शरीर का ध्यानस्थ स्थिति में चिन्तन नयी मानसिकता को जन्म देता है। छः मास तक एक साधक यदि इसका अनुचिन्तन करे, तो उसका परिणाम यह होता है कि, साधक पर रागकञ्चुक का प्रभाव समाप्त हो जाता है। वह वीतराग हो उठता है। यह साधक-जीवन की एक उपलब्धि मानी जा सकती है ॥ २५ ॥

जरामरणनिर्मुक्तो वर्षेणैवोपजायते ।
श्यब्दाज्ज्ञानमवाप्नोति रागावरणजं महत् ॥ २६ ॥

रक्तं संचिन्तयेद्देहं संपूर्णाभ्रोपरिस्थितम् ।
मासषट्कमनुद्विग्नो वीतरागत्वसिद्धये ॥ २७ ॥

स्मरन्संवत्सरे सम्यङ्मृत्युना न प्रपीड्यते ।
त्रिभिरब्दैर्जितद्वन्द्वो रागे च समतां व्रजेत् ॥ २८ ॥

इसी प्रक्रिया को यदि साधक एक वर्ष तक चलाता रहे, तो एक नया सुपरिणाम साधक को प्राप्त होता है। वह निश्चय ही जरा-मरण की विभीषिका से (साधक) मुक्त हो जाता है। जीर्णता और मृत्यु दोनों उसके वश में हो जाते हैं। भोगेच्छुओं के लिये यह वरदान रूपा साधना वीतराग पुरुष कभी नहीं चाहता। तीन वर्षों तक अनवरत इस साधना को साधित करने वाला साधक रागावरण विज्ञान का वेत्ता बन जाता है ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण अभ्रमण्डल (जब बादल रोदसी में चारों ओर के क्षितिज को छूते हुए व्याप्त होते हैं) पर ऊपर स्वयं के रक्ताभ सुशोभित शरीर का अनुचिन्तन एक विलक्षण प्रक्रिया है। यदि लगातार छः माह तक इसी अनुचिन्तन में योगी लगा लगा रहे, तो उसे भी वीतरागत्व की सिद्धि होती है ॥ २७ ॥

अभ्रशब्द के बादल, वायुमण्डल और आकाश आदि अनेक अर्थ होते हैं। श्लोक २५ में अभ्रसंघ से बादलों का समूह अर्थ वहाँ गृहीत है किन्तु श्लोक २७ में प्रयुक्त सम्पूर्णाभ्र का आकाश अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। यही अर्थ श्लोक २८ के लिये भी मान्य है। आकाश मण्डल से भी ऊपर से क्षितिज पर्यन्त आकाश ही सम्पूर्णाभ्र माना जायेगा। इसलिये ऊपर पूरी तरह व्याप्त आकाश के भी ऊपर की कल्पना साधक को करनी चाहिये। वहाँ अवस्थित अपने शरीर को रक्ताभ प्रकल्पित करते हुये अनवरत एक वर्ष तक स्मरण अर्थात् स्मृत्यात्मक अनुचिन्तन करने का सुपरिणाम मृत्युजित् रूप में प्राप्त होता है। इस स्मरण से इतनी शक्ति मिलती है कि, मृत्यु पीड़ा उसे बाधित नहीं करती। यदि यही प्रक्रिया लगातार तीन वर्ष तक अपनाने की साधना पूरी कर ले, तो ऐसा योगी समस्त जागतिक द्वन्द्वों से छुटकारा पा जाता है अर्थात् वीतराग हो जाता है और राग के मूल स्वरूप का साम्य पा लेता है अर्थात् पूर्ण रागवान् परमेश्वर की तरह पूज्य हो जाता है ॥ २८ ॥

रक्तपद्मस्थितं रक्तं पञ्चपर्वं [1]हृदावधि ।
ध्यायन्फलमवाप्नोति पूर्वोक्तमखिलं क्रमात् ॥ २९ ॥

बिम्बादि चात्र पूर्वोक्तमनुचिन्तयतो मुहुः ।
फलं भवति निःशेषं रञ्जकावृतिसंभवम् ॥ ३० ॥

हृदि पद्मं सितं ध्यायेद्द्व्यष्टपत्रं सकेसरम् ।
सर्वामृतमयं दिव्यं चन्द्रकल्पितकर्णिकम् ॥ ३१ ॥

निश्चलं तत्र संयम्य चेतो निद्रान्तमात्मनः ।
ततो यत्पश्यते स्वप्ने तथ्यं तत्तस्य जायते ॥ ३२ ॥

हृदावधि शब्द के भी यौगिक दृष्टि से अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। बहुप्रचलित हृदय और मन अर्थ में भी हृद् शब्द प्रयुक्त होता है और स्पन्द को भी हृदय कहते हैं। 'सा स्फुरत्ता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिनः' की प्रसिद्ध उक्ति ईश्वर प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की है। जो कुछ हो, दोनों अवस्थाओं में निम्नवत् ध्यान करने का निर्देश इसे माना जा सकता है। इनमें पञ्चपर्व रूप इस पाञ्चमहाभौतिक शरीर को रक्त कमल पर रक्ताभ रूप में ध्यान करने से पूर्वोदित सारे फलों की प्राप्ति अवश्य ही हो जाती है॥ २९ ॥

इसी अवस्था में पहले कहे गये बिम्बात्मक ध्यान में अनवरत योगी यदि तीन वर्ष का समय व्यतीत करे अर्थात् तीन वर्ष तक लगातार इसी योगाभ्यास को सम्पादित करता रहे, तो इसका फल यह होता है कि, राग के समग्र आवरण विज्ञान का ज्ञान हो जाता है। यह इसका महत्फल है॥ ३० ॥

इस सन्दर्भ में विद्या तत्त्व की एक नयी बात की ओर योगी का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। यह जीवन का महत्त्वपूर्ण योग है। इसे योगी को अवश्य करना चाहिये। इसकी विधि निम्नवत् है—१. हृदय में श्वेत कमल का ध्यान करे। २. वह कमल सोलह दलों से समन्वित हो। ३. इसमें केसर किञ्जल्क का भी आकलन कर लेना चाहिये। ४. यह ध्यान करना चाहिये कि, इसमें मकरन्द की जगह सर्वेश्वर का कृपा-पीयूष ही भरा हुआ है। ५. दिव्यता से अर्थात् दिव्य शक्तियों के अनुग्रह से वह ओत-प्रोत है। ६. उसकी कर्णिका भी चन्द्रमा के मनोज्ञ सोमतत्त्व से मनोहर हो गयी है।

---

१. क० पु० पर्वंहृद्यावधीति पाठः ।

एवमभ्यसतस्तस्य तद्धि पद्मोदितं फलम् ।
सर्वं प्रजायते तस्य[1] तत्कालक्रमयोगतः ॥ ३३ ॥

चतुरङ्गुलदेहादि सर्वत्रैवं विचिन्तयन् ।
पूर्ववत्सर्वमाप्नोति विद्यातत्त्वसमुद्भवम् ॥ ३४ ॥

उस उक्त विशेषताओं से विशिष्ट हृदयस्थ श्वेत पद्म में अपने मन को पूरी तरह संयमित कर वहीं स्थिर कर दे। उसमें चञ्चलता का नामो निशान भी न रहे। इसी अवस्था में योगी सो जाय। अपनी पूरी नींद इसी अवस्था में बिताये। उसी में योगी को एक सपना आता है। उसमें योगी को जो दीख पड़ता है, उसे जीवन में घटित होने वाली सत्य घटना ही मानना चाहिये। वह स्वप्न सच्चा होता है। उसे जान लेने से उसके प्रति सावधानी बरतनी चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

इस प्रकार का अभ्यास करते रहने पर योगी इसमें सिद्ध हो जाता है। वह उस पद्म में अनवरत अवस्थित कर स्वप्न में जो कुछ देखता है, वह भविष्य में कालक्रम से घटित सत्य ही होता है। इससे वह जीवन के प्रति जागरूक होकर वर्त्ताव करता है। इससे उसकी प्रतिष्ठा, श्रीवृद्धि और यश-प्राप्ति सदृश सभी सुखद परिणाम मिलते हैं ॥ ३३ ॥

यह एक प्रकार की विद्या ही मानी जा सकती है। इस विद्या को यद्यपि अशुद्ध विद्या कहते हैं और कञ्चुक श्रेणी में इसे परिगणित करते हैं, फिर भी जीवन के लिये और भोगेच्छुओं के लिये यह अत्यन्त उपयोगी विद्या है। दूसरी प्रक्रिया यह है कि, उस पद्म में स्वात्म को चार अङ्गुल के अति लघुरूप में देखे। इस प्रकार के अनुचिन्तन से भी विद्यातत्त्व के उक्त फल अवश्य मिलते हैं। वरन् इसमें एक नया प्रयोग यह भी कर सकते हैं कि, समग्र आकृतियों को सर्वत्र चार अङ्गुल का ही अनुचिन्तन करे। मालिनी विद्या के अनुसार 'द-फ' प्रत्याहार में ही विश्व का दर्शन करने का अभ्यास आदि अर्थ भी चतुरङ्गुल शब्द से आकलित हो सकते हैं ॥ ३४ ॥

१. म० पु० प्रजायते देवीति पाठः

हृदयादेकमेकं तु व्यतिक्रम्यार्धमङ्गुलम् ।
पृथक् चक्रत्रयं ध्यायेद्रक्तनीलसितं क्रमात् ।। ३५ ।।

तत्रत्यद्व्येकपर्वं[1] तु पुरुषं तत्समद्युतिम् ।
बिम्बादिकं च यत्प्रोक्तं तत्त्वत्रयमिदं महत् ।। ३६ ।।

श्लोक ३५ एक नयी बात की ओर संकेत कर रहा है। इसके अनुसार हृदय (अनाहत चक्र) से आज्ञा चक्र की ओर भी साधन पथ में गतिशील साधक तीन आन्तरालिक चक्रों की स्थिति पर विचार करे। दोनों चक्रों में १२ अङ्गुल का अन्तर होता है। इसमें से आधे-आधे अङ्गुल की दूरी निकालने पर दो अङ्गुल निकल जायेगा। शेष १० अङ्गुल में तीनों चक्र हैं। इन्हीं का ध्यान करने का निर्देश भगवान् शङ्कर कर रहे हैं। ऊपर वाला सित चक्र, मध्य वाला नीलचक्र और हृदय के पास वाला रक्त चक्र पड़ता है। फिर नील और तीसरा सित चक्र होता है ।। ३५ ।।

तत्रत्य द्व्येक पर्व पाठ से अच्छा पाठ फुटनोट में लिखा पाठ है। वह है— 'तत्र तिथ्येकपर्वम्'। वस्तुतः दोनों समानार्थक हैं, पर दूसरा पाठ अधिक स्पष्ट है। वास्तव में प्राणापानवाह ७२ अङ्गुल का होता है। प्राणगति ३६ और अपान गति ३६ अङ्गुल की होती है। ३६ अङ्गुल में १५ तिथियाँ होती हैं। इनके प्रति तिथि २$\frac{१}{२}$, २$\frac{१}{२}$ के एक पर्व माने जाते हैं। तीनों चक्र तीन पर्व अर्थात् तीन तिथियों के एक पर्व हैं। एक चक्र में पुरुष प्रकल्पन और शेष दोनों में बिम्ब प्रकल्पन राग-तत्त्व रक्त, देह का अनुचिन्तन नील और विद्या सित है। नाभि से श्वास रूप से प्राण के बाहर निकलने पर नासाग्र में अष्टमी तिथि होती है। इसी आधार पर तिथि प्रकल्पन करते हैं। इसके गणित का वर्णन श्रीतन्त्रालोक में प्राणपानवाह प्रकरण में द्रष्टव्य है। इस प्रकार तिथि प्रकल्पन और ध्यातव्य पुरुष और उनके बिम्बों प्रकल्पन इन तीन तत्त्वों में करना चाहिये। इनमें नियति तत्त्व देह में राग तत्त्व रक्त चक्र में और विद्यातत्त्व को सित चक्र में चिन्तन करना चाहिये ।। ३६ ।।

---

१. क० पु० तत्र तिथ्येकपर्वमिति पाठः ।

त्रयोदशात्मकं भेदमेतदन्तं विदुर्बुधाः ।
एकादशप्रभेदेन तत्त्वद्वयमथोच्यते ।। ३७ ।।

कण्ठकूपावधौ चक्रे पञ्चारे नाभिसंस्थितम् ।
ध्यायेत्स्वरूपमात्मीयं दीप्तनेत्रोपलब्धवत् ।। ३८ ।।

विचक्षण योग के जानकार इन सारी बातों से अवगत होते हैं। यहाँ तक तीन चक्रों की जितनी बातें कही गयीं हैं, उनमें १३ भेदों का वर्णन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त दो तत्त्व काल और कला शेष बचते हैं। भेद की दृष्टि से इनमें ग्यारह भेद प्रकल्पित किये जाते हैं। इन्हीं का वर्णन आगे किया जा रहा है ।। ३७ ।।

कण्ठ कूप की अवधि तक विशुद्धचक्र-पद्म माना जाता है। इसमें १६ स्वर पत्र हैं । इनमें मूल स्वरों के तीन अरे, द्वितीय स्वर निःसृत दो अरे और शेष यौगिक स्वर हैं। इस तरह अ आ प्रथम अर, इ ई द्वितीय अर, उ ऊ तृतीय अर ऋ ॠ चतुर्थ अर और ऌ ॡ पंचम अर माने जाते हैं। ए ऐ अ और इ के योग से बनते हैं। इस लिये स्वतन्त्र नहीं हैं। ओ औ भी अ और उ के योग से बनते हैं। अतः स्वतन्त्र मूल स्वर नहीं हैं। ऋ ॠ और ऌ ॡ षण्ठ स्वर हैं। इनसे यौगिक स्वर नहीं बनते। अं अः अ के रूप ही हैं। अतः यह पंचार चक्र के अन्तर्गत हैं। इसमें पहले कहे गये नाभि में अवस्थित पुरुष का ध्यान करने की बात का निर्देश इस श्लोक में कर रहे हैं।

कुछ विद्वान् आज्ञा चक्र को पंचार कहते हैं। जिसमें अ, उ, म्, अनुस्वार और अर्धचन्द्र पाँच अरे हैं (किन्तु यह सत्य नहीं आज्ञा द्व्यरचक्र है) यहाँ नाभि स्थित पुरुष का ध्यान किसमें किया जाय यह प्रश्न है। इस तरह दोनों चक्रों में नाभिस्थित पुरुष का ध्यान किया जा सकता है। कण्ठकूपावधि पञ्चार चक्र का यह विश्लिष्ट रूप है।

वह ध्यान आत्मस्वरूप का ही होना चाहिये। आत्मस्वरूप भी दीप्त नेत्र की अवस्था का होना चाहिये। उस रूप को साधक स्वयम् उपलब्ध रहता है। इस ध्यान में काल तत्त्व का प्रभाव साधक पर पड़ता है। इसलिये यह अवश्य करणीय साधना है ।। ३८ ।।

क्षित्यादिकालतत्त्वान्ते यद्वस्तु स्थितमध्वनि ।
सर्वं प्रसाध्य योगीन्द्रो न कालेनाभिभूयते ॥ ३९ ॥

बिम्बादिकेऽपि तत्रस्थे योगिनामनुचिन्तिते ।
भवतीति किमाश्चर्यमनायासेन तत्फलम् ॥ ४० ॥

कण्ठाकाशे स्थिरं चेतः कुर्वन्योगी दिने दिने ।
मायोत्थं फलमाप्नोति बिम्बादावपि तत्रगे ॥ ४१ ॥

क्षिति से लेकर कालतत्त्व पर्यन्त इस साधना मार्ग में जो वस्तु अवस्थित है, उसे साधित कर योगीन्द्र काल से अभिभूत नहीं होता। यहाँ वस्तु का एक वचनान्त प्रयोग स्वात्म में सर्व को आत्मसात् कर रहा है। वस्तु वास्तव में नैसर्गिक बीज होता है। भूमण्डल से कालतत्त्व तक इस वैश्विक संरचना में चाहे वह ब्रह्माण्डवर्त्तिनी हो या पिण्डवर्त्तिनी हो, वह सभी वस्तु रूप प्राकृतिक बीज ही हैं। योगीपिण्ड में अवस्थित वस्तु पर अपना प्रयोग करता है। यही रहस्यार्थ है ॥ ३९ ॥

वस्तु पुरुष बीज के अनुचिन्तन के साथ उसके बिम्ब के अनुचिन्तन में भी वही शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार क्षिति से काल पर्यन्त की इसी साधना यात्रा में उसके बिम्ब आदि के भी अनुचिन्तन की प्रक्रिया में पारङ्गत योगी अनायास ही बीजानुचिन्तन से निष्पन्न होने वाले फलों की प्राप्ति कर लेता है। यही कला का आश्चर्य है। कला भी एक तत्त्व है। कला का अर्थ अंश ही होता है। पूर्ण की साधना का फल यदि कला साधना में उपलब्ध होता है, तो इसे अनायास ही कहा जा सकता है ॥ ४० ॥

कला के सम्बन्ध में मात्र यही श्लोक है। इसके बाद मायातत्त्व के सम्बन्ध में निर्देश-उपदेश कर रहे हैं। वस्तुतः माया के दो पुत्र हैं। १. काल और राग। इसी तरह इसकी तीन पुत्रियाँ हैं। १. विद्या, २. कला और ३. नियति। देहस्थ और कर्मस्थ नियति की चर्चा देह के माध्यम से अपने आप हो गयी है। काल राग विद्या और कला की चर्चा ऊपर हो चुकी है। अब माया के विषय का क्रम आता है। भगवान् कहते हैं कि, योगी नियमित रूप से कण्ठ के आकाश में प्रतिदिन अपने चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करे। इससे माया के साधनाजन्य सारे फल मिलते हैं। इसके साथ ही तत्रग अर्थात् इसी परिवेश में आने वाले बिम्बादि के अनुचिन्तन से भी वही फल मिलते हैं ॥ ४१ ॥

कण्ठकूपविधानाभं राहुग्रस्तेन्दुबिम्बवत् ।
चिन्तयन्न पुनर्याति मायादेर्वशवर्तिताम् ।। ४२ ।।

तदेव तत्र स्वर्भानुमुक्तवत्परिचिन्तयन् ।
तेजोदेहादिकं चापि प्राप्नोति परमेशताम् ।। ४३ ।।

मध्यन्दिनकाराकारं लम्बकस्थं विचिन्तयेत् ।
समस्तमन्त्रचक्रस्य रूपं यत्सामुदायिकम् ।। ४४ ।।

कण्ठकूप सम्बन्धी साधनाओं में मुख्यतः कुछ एक के सम्बन्ध में ही यहाँ चर्चा की गयी है। कण्ठकूप की रचना शिर और अधः शरीर की मध्यगता संरचना है। जीवन में इसका पृथक् महत्त्व है। इसका निधान बड़ी चतुराई और कुशलता के साथ किया गया है। इसकी आभा से प्रभावित सहृदय, इसके सौन्दर्य की प्रशंसा भी करते हैं। यह एक कण्ठकूप का चित्र है।

एक दूसरी कल्पना राहु से ग्रस्त चन्द्र की है। चन्द्रमा के सौन्दर्य का तो कुछ पूछना ही नहीं है। जब वह ग्रहण काल में राहु से ग्रस्त हो जाता है, तो भी चन्द्रगोलक में दृश्य इन्दुबिम्ब का अपना आकर्षण होता है। एक उसकी अपनी आभा होती है।

योगी राहुग्रस्तेन्दुबिम्ब के समान आभा को कण्ठकूप की आभा में अनुचिन्तन करना प्रारम्भ करे। यह एक साधना प्रक्रिया ही है। इसका परिणाम यह होता है कि, योगी कभी भी माया आदि कञ्चुकों से पुनः कीलित नहीं होता। उनके वश में कभी नहीं होता। स्वतन्त्र विचरण करता है और अन्त में परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है ।। ४२ ।।

इसी प्रक्रिया में परिवर्त्तन कर कण्ठकूप में ही यह सोचे कि, इस समय यहाँ जिस चन्द्र बिम्ब का चिन्तन मैं कर रहा हूँ, वह बिम्ब राहु मुक्त होकर नयी आभा से भावित है। राहुमुक्त इन्दुबिम्ब का कण्ठकूप में यह अनुचिन्तन योगी को तेजस्वी बना देता है। ऐसा तेजःशरीर साधक परमेश्वर को पा लेता है ।। ४३ ।।

दो प्रहर में सूर्य की किरणें धरणी पर सीधी पड़ती हैं। इसे ज्यामिति शास्त्र में लम्ब रेखा कहते हैं। यह अपनी आधार रेखा पर ९०% के दो कोणों से समन्वित होती हैं। इसी लम्ब की तरह प्राण भी दण्डाकार होता है। उसी दण्डवत् पड़ती किरण-राशि में उस पूर्व वर्णित बिम्बका दर्शन करना चाहिये। इसका

ततः कालक्रमाद्योगी मन्त्रत्वमधिगच्छति ।
अनुषङ्गफलं चात्र पूर्वोक्तं सर्वमिष्यते ॥ ४५ ॥

मूर्ति तत्रैव संचिन्त्य मन्त्रेशत्वमवाप्नुयात् ।
तदधो दीपकं तेजो ध्यात्वा तत्पतितां व्रजेत् ॥ ४६ ॥

सबाह्याभ्यन्तरं तस्मादधोर्ध्वं व्यापि च स्मरन् ।
तेजो मन्त्रेश्वरेशानपदान्न च्यवते नरः ॥ ४७ ॥

बद्ध्वा पद्मासनं योगी पराबीजमनुस्मरन् ।
भ्रुवोर्मध्ये न्यसेच्चित्तं तद्बहिः किंचिदग्रतः ॥ ४८ ॥

सुपरिणाम यह होता है कि, समस्त मन्त्रचक्र का सामुदायिक रूप प्रत्यक्ष हो जाता है ।

कुछ दिनों की इस साधना से योगी उसी सामुदायिकता के अन्तराल में मन्त्रतत्त्व का दर्शन कर लेता है । यही नहीं, वरन् वह स्वयं भी मन्त्रत्व को प्राप्त कर लेता है । इसके अन्य आनुषङ्गिक फल तो अपने आप साधक को प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४४-४५ ॥

उसी बिम्ब में मूर्त्ति का चिन्तन करते-करते योगी मन्त्रेश्वर पदवी पर अधिष्ठित हो जाता है । यह उसी की विकसित प्रक्रिया है । इसमें भी एक नये अनुभव का निर्देश कर रहे हैं । उस बिम्ब के निचले भाग में दीपक के तेज का ध्यान करने से मन्त्रमहेश्वर की स्तरीयता योगी प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

इसी प्रक्रिया में एक और ध्यान की बात प्रस्तुत कर रहे हैं । उस बिम्ब के और अपने चारों ओर बाहर और भीतर, ऊपर और नीचे सर्वत्र व्याप्त तेजोमण्डल का ध्यान योगी करे, कुछ दिनों के ही अभ्यास से इतनी प्रौढ़ता आ जाती है कि, योगी मन्त्रमहेश्वर पद से कभी च्युत नहीं होता है ॥ ४७ ॥

इस प्रक्रिया के अतिरिक्त एक नयी साधना पद्धति को प्रस्तुत कर रहे हैं । इसके अनुसार योगी सर्वप्रथम पद्मासन में सिद्ध हो जाय । सिद्ध होने पर पद्मासन बांधकर आसन पर अवस्थित हो जाय । उसमें बैठकर 'पराबीज' का स्मरण करना चाहिये । चित्त को दोनों भवों के बीच में अर्थात् आज्ञाचक्र में अवस्थित कर दें । यह चित्तावस्थान आज्ञा चक्र के कुछ बाहर कुछ आगे की ओर होना चाहिये ॥ ४८ ॥

निमीलिताक्षो हृष्टात्मा शब्दालोकविवर्जिते ।
पश्यते पुरुषं तत्र द्वादशाङ्गुलमायतम् ।। ४९ ।।

तत्र चेतः स्थिरं कुर्यात्ततो मासत्रयोपरि ।
सर्वावयवसंपूर्णं तेजोरूपमचञ्चलम् ।। ५० ।।

प्रसन्नमिन्दुसंकाशं पश्यति दिव्यचक्षुषा ।
तं दृष्ट्वा पुरुषं दिव्यं कालज्ञानं प्रवर्तते ।। ५१ ।।

अशिरस्के भवेन्मृत्युः षण्मासाभ्यन्तरेण तु ।
वञ्चनं तत्र कुर्वीत यत्नात्कालस्य योगवित् ।। ५२ ।।

आँखें बन्द कर ध्यान की मुद्रा में रहना भी आवश्यक है। प्रसन्नता से भरपूर हृष्टात्मा योगी उस निःस्वन स्थिति में एक नये आयाम में पहुँचता है, जहाँ इस आलोक की परिभाषा चरितार्थ नहीं होती। ध्यान को उस ऐकान्तिक अवस्था में वहाँ एक १२ अङ्गुल आयताकार पुरुषाकृति के दर्शन होते हैं ।। ४९ ।।

उस आयताकार आकृति में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये। इस प्रकार तीन मास तक लगातार इस प्रक्रिया को तन्मयता पूर्वक सम्पन्न करना योगी के लिये श्रेयस्कर होता है। उसी आकृति में एक चमत्कार घटित होता है। उसमें सभी शारीरिक अवयवों से समन्वित सर्वाङ्ग सुडौल, अत्यन्त प्रभावकारी प्रभामण्डल से मण्डित, एकदम शान्त और सुस्थिर, नितान्त प्रसन्न, चन्द्रमा के समान चारु और आकर्षक, पुरुष को अपनी दिव्य दृष्टि से देखने का सौभाग्य उसे मिल पाता है। उस पुरुष को देखकर काल सम्बन्धी समस्त ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है ।। ५०-५१ ।।

जैसे—१. यदि उस पुरुष का शिरोभाग दिखायी न दे, या उस आकृति में शिरोभाग न रहे तो, यह निश्चय है कि, मृत्यु सन्निकट है। छः मास जाते-जाते इसे होना ही है। इस स्थिति में योगवेत्ता योगी का यह कर्त्तव्य है कि, यह ऐसा प्रयत्न करे, जिससे काल का वञ्चन हो सके और उसकी मृत्यु टल जाय ।। ५२ ।।

ब्रह्मरन्ध्रोपरि ध्यायेच्चन्द्रबिम्बमकल्मषम् ।
स्रवन्तममृतं दिव्यं स्वदेहापूरकं बहु ॥ ५३ ॥
तेनापूरितमात्मानं चेतोनालानुसर्पिणा ।
सबाह्याभ्यन्तरं ध्यायन्दशाहान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ ५४ ॥
महाव्याधिविनाशेऽपि योगमेनं समभ्यसेत् ।
प्रत्यङ्गव्याधिनाशाय प्रत्यङ्गाङ्गमनुस्मरन् ॥ ५५ ॥
धूमवर्णं यदा पश्येन्महाव्याधिस्तदा भवेत् ।
कृष्णे कुष्ठमवाप्नोति नीले शीतलिकाभयम् ॥ ५६ ॥

योगी इसके लिये ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर अर्थात् नाद और नादान्त के मध्य में कलङ्क कलुषता शून्य सुधाकर निर्मल चन्द्र बिम्ब का ध्यान-दर्शन करे और यह कल्पना करे कि, उस बिम्ब से अमृत द्रव की वर्षा ही मेरे ऊपर हो रही है। उस दिव्य अमृत के रस से पूरा शरीर अभिषिक्त हो रहा है॥ ५३ ॥

उस अमृत द्रव से अपने को सराबोर अनुभव करे। यह भी अनुचिन्तन करे कि, चिति के चेतनामय चित्तनाल से वह अमृत-झरना झर रहा है। मैं बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार से उससे प्रभावित हो रहा हूँ। इस प्रकार लगातार दश दिन तक इस प्रक्रिया में संलग्न रहे। इसका सुपरिणाम यह होता है कि, वह मृत्यु को जीत लेता है और काल से वंचना करने में योगी समर्थ हो जाता है॥ ५४ ॥

मृत्यु सबसे बड़ी बीमारी मानी जाती है। इसे महाव्याधि कहते है। इसके विनष्ट हो जाने पर भी इस प्रक्रिया को आचरण में लगातार लाना चाहिये। इस योग का अभ्यास सिद्धि प्रदान करने वाला होता है। उस दिव्य आकृति के जिन-जिन अङ्गों का योगी ध्यान करता है, उन-उन अङ्गों की व्याधियों का नाश हो जाता है। इसलिये उसके अनुचिन्तन में रत रहना आवश्यक है॥ ५५ ॥

ऊपर श्लोक ५२ में अशिर एक आकृति से कालज्ञान की चर्चा की गयी है। यहाँ वही आकृति यदि तेजस्विता को छोडकरधूम्रवर्णी दिखायी दे, तो इसका परिणाम भी अच्छा नहीं होता। साधक महाव्याधि से ग्रस्त होगा—यही इसकी सूचना होती है। यदि वह धूम्रवर्णी न होकर काले रङ्ग की दिखायी पड़े, तो इससे यह अनुमान लगाना चाहिये कि, साधक को कुष्ठ रोग होने की सम्भावना है।

हीनचक्षुषि तद्रोगं नासाहीने तदात्मकम् ।
यद्यदङ्गं न पश्येत तत्र तद्व्याधिमादिशेत् ॥ ५७ ॥
आत्मनो वा परेषां वा योगी योगपथे स्थितः ।
वर्षैस्तु पञ्चभिः सर्वं विद्यातत्त्वान्तमीश्वरि ॥ ५८ ॥
वेत्ति भुङ्क्ते च सततं न च तस्मात्प्रहीयते ।
तत्रस्थे तेजसि ध्याते सर्वदेहविसर्पिणि ॥ ५९ ॥

उस आकृति का रंग यदि नीलवर्णी दिखायी दे, उससे यह सूचना मिलती है कि, साधक या उसका कोई घर-सदस्य शीतला से ग्रस्त होने वाला है। इस प्रकार यहाँ तक १. आभा से भास्वर, २. धूम्रवर्णी, ३. कृष्णवर्णी और ४. नीलवर्णी आकृति से होने वाले परिणामों के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है ॥ ५६ ॥

उसी आकृति की विभिन्न विकृतियों के दर्शन की दुष्परिणामशीलता की सूचना देते हुए भगवान् कहते हैं कि, पार्वति ! यदि उस आकृति में आँखें बन्द हों या दिखायी न दें तो, साधक को चक्षुरोग हो सकता है। इसकी सूचना होती है। इसी तरह यदि नाक न दिखायी पड़े, तो साधक की नाक भी कट सकती है, इसके लिये साधक को सावधान होना चाहिये। अधिक क्या कहा जाय, उस आकृति में जिन-जिन विकृतियों के दर्शन होंगे, वही-वही रोग इसे हो सकते हैं। यह सूचना मिल जाती है। यह आकृति विज्ञान का चमत्कार है ॥ ५७ ॥

यहाँ तक अशुद्ध और शुद्ध सम्मिलित अध्वा की धारणाओं, उनके विधान सुपरिणाम और दुष्परिणामों के सम्बन्ध में साधकों को सावधान रहने का निर्देश है। उन्हें साधने पर बल दिया गया है और भोग मोक्षप्रद साधनों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। यहाँ से भगवान् शुद्ध अध्वा से सम्बन्धित निर्देश देने का उपक्रम करने के पहले एक समय सीमा के सम्बन्ध में बता रहे हैं। उनका कहना है कि, ऊपर कही गयी सारी साधनात्मक धारणायें यदि लगातार पाँच वर्ष तक सिद्ध करने में साधक लगा रहता है, तो विद्या तत्त्व पर्यन्त सभी रहस्यों को जान लेता है। उनके सुफल को भोगने में समर्थ होता है। उनके कुफल को रोक सकता है। अधिक क्या कहा जाय, वह सिद्ध हो जाता है। उस सिद्धि के स्तर से उसका प्रच्याव भी नहीं हो सकता क्योंकि वह पूर्ण विज्ञानवान् हो जाता है। इन तथ्यों के अतिरिक्त अध्येता का ध्यान एक नयी स्थिति की ओर आकृष्ट करते हुए कह रहे हैं कि, सारे शरीर की तेजस्विता के ध्यान देने पर भी क्या फल मिलता है ॥ ५८-५९ ॥

पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति तत्कालक्रमयोगतः ।
अथोर्ध्वव्यापिनि ध्याने तत्र तस्मादखण्डितः ॥ ६० ॥

सर्वमन्त्रेश्वरेशत्वान्न भूयोऽपि निवर्तते ।
एवं ललाटदेशेऽपि महादीप्तमनुस्मरन् ॥ ६१ ॥

प्रपश्यत्यचिरादेव वर्णाष्टकयुतं क्रमात् ।
इन्द्रनीलप्रतीकाशं शिखिकण्ठसमद्युति ॥ ६२ ॥

इस श्लोक की पहली अर्द्धाली श्लोक ५९ से सम्बन्धित है और दूसरी, श्लोक ६० से। सर्वशरीर व्याप्त तेज के ध्यान करने से वह सब कुछ सिद्ध हो जाता है, जो पूर्वोक्त धारणाओं की फल श्रुति में निर्दिष्ट है। इसमें अब शर्त्त यह है कि, सबको मिलाकर जितना समय लग जाता है, उतना इसमें भी लगाया जाय। काल क्रम का यही तात्पर्य है।

दूसरी अर्धाली में नयी प्रक्रिया का निर्देश है। पहले उस आकृति में पूर्णाकार व्याप्त तेज का ध्यान करना था। इसमें ऊर्ध्व व्यापी तेज का ध्यान करना है। इस ध्यान का अलग महत्त्व है। ऊर्ध्व ध्यान में यह सावधानी रखनी चाहिये, जिसमें तेज शरीर से खण्डित नहीं रहे। एक तरह के प्रभामण्डल का ही यह ध्यान माना जाना चाहिये ॥ ६० ॥

इसका परिणाम यह होता है कि, वह साधक सभी स्तरों के मन्त्रेश्वरों की भी ईश्वरता से कभी च्युत नहीं होता। इस दृष्टि यह ऊर्ध्वध्यान अन्य ध्यान प्रक्रियाओं से उत्कृष्ट कोटि का होता है।

इसके अतिरिक्त नयी प्रक्रिया के सम्बन्ध में निर्देश करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, ऊर्ध्व ध्यान तो उत्तम है ही, यदि साधक ललाट में भी महादीप्त तेज का ध्यान करने की क्रिया अनवरत करना प्रारम्भ करे, तो इसके भी सुपरिणाम सामने आते हैं ॥ ६१ ॥

उन्हीं परिणामों के विषय में निर्दिष्ट कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि, ललाट में उद्दीप्त तेज के ध्यान से आठ प्रकार के ऐसे रङ्गों के दर्शन होते हैं, जिनके प्रभाव से दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। वे रङ्ग इस प्रकार के हैं।

१. इन्द्रनील मणि के समान प्रकाशमान वर्ण ।

२. मोर या अग्नि की लौ (शिखी) की द्युति के समान ।

राजावर्तनिभं चान्यत्तथा वैदूर्यसंनिभम् ।
पुष्परागनिभं चान्यत्प्रवालकसमद्युति ॥ ६३ ॥

पद्मरागप्रतीकाशमन्यच्चन्द्रसमद्युति ।
तां दृष्ट्वा परमां ज्योत्स्नां दिव्यज्ञानं प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

विहारपादचारादि ततः सर्वं प्रवर्तते ।
अधोर्ध्वव्यापिनि ध्याते न तस्माच्च्यवते पदात् ॥ ६५ ॥

इत्येतत्सर्वमाख्यातं लक्ष्यभेदव्यवस्थितम् ।
अधुना चित्तभेदोऽपि समासादुपदिश्यते ॥ ६६ ॥

पिशाचानन्तपर्यन्तगुणाढ्यकसमोहया ।
तत्तद्रूपगुणं कुर्यात्सम्यगोशे स्थिरं मनः ॥ ६७ ॥

---

३. राजावर्त्त के समान ४. वैदूर्य के समान । ५. पुष्पराग सदृश ।
६. प्रवाल के समान ७. पद्मरागवत् और ८. चन्द्र के समान ।

इसमें चाँदनी की उज्ज्वल विभा की रञ्जकता तो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इससे दिव्य ज्ञान का प्रवर्तन होता है। उक्त सभी रङ्गों के दर्शन में स्वभावगत वैशिष्ट्य का परिचय भी मिलता है ॥ ६२-६४ ॥

जिस तरह दिव्य ज्ञान का प्रवर्त्तन चन्द्र ज्योत्स्ना से होता है, उसी तरह दिव्य विहार और दिव्य पदचार इत्यादि की उपलब्धि होती है। इन रंगों की भी ऊर्ध्वव्यापिनी तेजस्विता का अनुसन्धान साधक को अपनी स्तरीयता पर सुरक्षित रखता है। उससे कभी च्युत नहीं होता ॥ ६५ ॥

लक्ष्य भेद की प्रक्रिया से समन्वित उक्त सारी प्रविशेष धारणाओं का वर्णन यहाँ तक किया गया है। इन धारणाओं से लक्ष्य वेध की प्रक्रिया पूरी होती है। एक तरह से ये सभी लक्ष्य की व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली धारणायें हैं।

लक्ष्य भेद के तुरत बाद चित्त भेद का वर्णन करने जा रहे हैं। [1]चित्तभेद योग मार्ग की ही एक साधना है। इसका संक्षिप्त उपदेश योगियों के लिये अत्यन्त हित कारक है ॥ ६६ ॥

पिशाच शब्द प्रेत अर्थ में प्रयुक्त होता है। श्रीतन्त्रालोक में श्रीसदाशिव

---

१. (हृच्चक्रवेध) मन्त्रभेदनम् । श्रीतन्त्रालोक भाग ७ आ० १९।२४१ ।

इतीश्वरपदान्तस्य मार्गस्यास्य पृथक् पृथक् ।
यथोपासा तथाख्याता योगिनां योगसिद्धये ॥ ६८ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे धारणाधिकारः षोडशः ॥ १६ ॥

तत्त्व के लिये प्रेत[1] शब्द का व्यवहार किया गया है। भेद शब्द भी यहाँ वेध के लिये ही प्रयुक्त हाता है। [2]वेध और भेद का समान प्रयोग शास्त्र में विहित है। इस श्लोक में अनन्त नामक माया के सहयोगी शक्तिमान् के लिये पिशाच शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रेत का अर्थ श्रीजयरथ ने 'नादामर्शतया प्रहसद्रूपत्वेन' किया है। इस ग्रन्थ में भी ८।६८ में महाप्रेत शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस तरह अनन्तेश्कर पर्यन्त शक्तिमन्तों में गुणाष्टक की समीहा से उन-उन गुणेश्वरों में अपने मन को स्थिर करना एक उत्तम योग माना जाता है ॥ ६७ ॥

ईश्वर पद पर्यन्त इस योग मार्ग में पृथक्-पृथक् उपासनाओं का वर्णन किया गया है। इनका वर्णन यहाँ योगियों के हित को दृष्टि से किया गया है ॥ ६८ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरोचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षोर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
धारणाधिकार नामक सोलहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १६ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥



---

१. श्रीतन्त्रालोक भाग ५ आ० १५।३१२ ।
२. श्रीतन्त्रालोक भाग ७ आ० १९ ।

अथ सप्तदशोऽधिकारः

अथैतत्सर्वमुद्दिष्टं यदि न स्फुटतां व्रजेत् ।
स्फुटीकृते स्थिते तत्र न मनस्तिष्ठते स्फुटम् ॥ १ ॥

गतिभङ्गं ततस्तस्य प्राणायामेन कारयेत् ।
स च पञ्चविधः प्रोक्तः पूरकादिप्रभेदतः ॥ २ ॥

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचको ह्यपकर्षकः ।
उत्कर्षः पञ्चमो ज्ञेयस्तदभ्यासाय योगिभिः ॥ ३ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक भाषा भाष्य समन्वितम्

सप्तदशोऽधिकारः

[१७]

सर्वेश्वर शिव साधकों को सावधान करते हुए कह रहे हैं कि, किसी विषय में जो कुछ कहा जाय, अथवा यहाँ इस सन्दर्भ में मैंने जो उद्दिष्ट या निर्दिष्ट किया है, यद्यपि वह नितान्त रूप से स्फुटीकृत है और स्पष्ट है, फिर भी वह बुद्धि के स्तर पर स्फुट रूप से समझा नहीं जा सके, तो यह ध्रुव सत्य है कि, उस विषय में मन नहीं लग सकता है। उसमें मानसिक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उससे मन को तृप्ति नहीं मिलती। तृप्ति न मिलना विषय की दुरूहता के कारण ही संभव है और अस्फुटता पर निर्भर है ॥ १ ॥

मन के गतिचक्र को अर्थात् उसकी चञ्चलता को भङ्ग करने के लिये अर्थात् तथासद् सिद्धान्त के बिन्दु पर स्थिर करने के लिये एक ही उपाय है, वह है प्राणायाम। प्राणायाम से मन स्थिर होता है। प्राणायाम पाँच प्रकार का होता है। इसके पूरक आदि भेद प्रसिद्ध हैं, जो इस प्रकार हैं—

पूरकः पूरणाद्वायोर्द्वेधा षोढा च गीयते ।
स्वभावपूरणादेको विरेच्यान्यः प्रपूरितः ॥ ४ ॥

नासामुखोर्ध्वतालूनां रन्ध्रभेदाद्विभिद्यते ।
भिन्नः षोढात्वमभ्येति पुनर्भेदैरनन्तताम् ॥ ५ ॥

कुम्भः पञ्चविधो ज्ञेयस्तत्रैकः पूरितादनु ।
विधृतो रेचकात्पश्चाद्द्वितीयः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥

द्वयोरन्ते द्वयं चान्यत्स्वभावस्थश्च पञ्चमः ।
स्थानान्तरप्रभेदेन गच्छत्येषोऽप्यनन्तताम् ॥ ७ ॥

---

१. पूरक, २. कुम्भक, ३. रेचक, ४. अपकर्ष और ५. उत्कर्ष। योगियों को अभ्यास करने के लिये इन भेदों का प्रकल्पन किया गया है। वस्तुतः यह प्राण का कृत्रिम व्यापार मात्र है। इसमें प्राणापानवाह का ही उपक्रम है ॥ २-३ ॥

जब प्राण वायु को खींच कर नाभि से ऊपर पूरे पेट में भरते हैं, तो इस व्यापार को पूरक कहते हैं। इसे शास्त्र में दो और छः प्रकार के भेदों से भिन्न कर जानने का निर्देश शास्त्र देते हैं। दो भेदों की दृष्टि के अनुसार १. स्वभावतः श्वास आना भी पूरक व्यापार माना जाता है और २. प्राण के अपान रूप को बाहर ले जाने के बाद जब स्वयं कृत्रिम रूप से प्राणवायु नाभि के केन्द्र में भरते हैं, 'उसे ही 'विरेच्य प्रपूरित' कहते हैं ॥ ४ ॥

नासिका के अग्रभाग से तथा तालुओं के रन्ध्र से ऊपर ले जाने से भी इसके भेद होते हैं। उस स्थिति में यह छः भेद भिन्न हो जाता है। इस भेदों के भी यदि भेदों पर विचार किया जाय, तो इसकी संख्या अनन्तता में खो जाती है। उनकी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ५ ॥

कुम्भक पाँच प्रकार का माना जाता है। १. पहला कुम्भक श्वास वायु को उदर में पूरा भर लेने को ही कहते हैं। २. दूसरा प्राण धारण करने के पश्चात् अर्थात् प्रथम कुम्भक रेचितकर देने पर जो रिक्त उदर होता है, उसे उसी तरह रखना भी कुम्भक का दूसरा रूप है ॥ ६ ॥

दोनों के अन्त में दो प्रकार का प्रकल्पन दो भेदों से भिन्न माना जाता है। ये कुम्भक पूर्ण कुम्भक की तरह के नहीं होने पर कुम्भक को नियन्त्रित कर वायुमुक्त करने को और वायु ग्रहण की अवस्थायें मात्र मानी जाती हैं। स्वभावतः

रेचकः पूर्ववज्ज्ञेयो द्विधाभूतः षडात्मकः ।
स्थानसंस्तम्भितो वायुस्तस्मादुत्कृष्य नीयते ॥ ८ ॥

योऽन्यप्रदेशसंप्राप्त्यै स उत्कर्षक इष्यते ।
तस्मादपि पुनः स्थानं यतो नीतस्तदाहृतः ॥ ९ ॥

अपकर्षक इत्युक्तो द्वावप्येतावनेकधा ।
एषामभ्यसनं कुर्यात्पद्मकाद्यासनस्थितः ॥ १० ॥

अधमः सकृदुद्घातो मध्यमः सिद्धिदो मतः ।
ज्येष्ठः स्याद्यस्त्रिरुद्घातः स च द्वादशमात्रकः ॥ ११ ॥

रुकने वाली और स्वभावतः एक एक कर जाने वाली अवस्थाओं के बीच को ही पाँचवाँ कुम्भक मानते हैं। इसको भी भेदवादिता की दृष्टि से अनन्त भेद हो सकते हैं ॥ ७ ॥

रेचक भी दो प्रकार का और छः प्रकार का माना जाता है। नाभि-स्थान में कुम्भक रूप में स्तम्भित वायु को खींच कर ऊपर की ओर प्रेरित कर बाहर निकालने के व्यापार को ही रेचक कहते है। एक तो यह स्वाभाविक रूप से रेचित होता है। दूसरे उसे कृत्रिम रूप से स्वव्यापार के कारण बाहर ले जाते हैं ॥ ८ ॥

'उत्कर्षक' वह प्राणायाम होता है, जब कुम्भित प्राण को अपान हो जाने पर नासिक्य द्वादशान्त के अमा केन्द्र में पहुँचाने का व्यापार करते हैं। अमा केन्द्र से कुम्भकान्त में जब नाभि केन्द्र की ओर ले जाने का व्यापार करते हैं, तो इसे 'अपकर्षक' प्राणायाम कहते है। ये दोनों स्थितियों के अनुसार अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनका अभ्यास योगमार्ग के पथिक के लिये आवश्यक होता है। इसके लिये उपयोगी आसन पद्म आदि अनेक प्रकार के होते है ॥ ९-१० ॥

एक बार किया हुआ प्राणायाम अधम कोटि का माना जाता है। मध्यम कोटि का प्राणायाम 'उद्घात' श्रेणी का होता है। त्रिउद्घात प्राणायाम ज्येष्ठ और समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला माना जाता है। यह द्वादश मात्राओं से समन्वित होता है। उद्घात का अर्थ उपक्रम लेना चाहिये। तीन बार में शरीर पर पूरा प्रभाव पड़ जाता है ॥ ११ ॥

त्रिर्जानुवेष्टनान्मात्रात्रिगुणाच्छोटिकात्रयात् ।
अजितां नाक्रमेन्मात्रां वायुदोषनिवृत्तये ॥ १२ ॥
प्रत्यङ्गधारणाद्वायुं न च चक्षुषि धारयेत् ।
नाभिहृत्तालुकण्ठस्थे विवृते मरुति क्रमात् ॥ १३ ॥
चतस्रो धारणा ज्ञेया शिख्यम्बीशामृतात्मिकाः ।
यद्यत्र चिन्तयेद्द्रव्यं तत्तत्सर्वगतं स्मरेत् ॥ १४ ॥
बिन्दुनादात्मकं रूपमीशानीं धारणां श्रितम् ।
अमृतायाः स्मरेद्बिन्दुं कालत्यागोक्तवर्त्मना ॥ १५ ॥

मात्रा तीन बार जाँघ मोड़ने में जो समय लगता है, अथवा ९ बार चुटकी बजाने में जो समय लगता है, उतने समय परिणाम की होती है। ऐसी १२ मात्राओं में जो समय लगता है, उसे एक प्राणायाम का समय मानना चाहिये। इसी पद्धति से प्राणायाम करना उचित होता है। इससे वायु के दोष निवृत्त हो जाते हैं ॥ १२ ॥

सभी अङ्गों में वायु धारण किया जा सकता है। नेत्र में वायु धारण का निषेध है। नाभि, हृदय, तालु और कण्ठ ये चार अङ्ग शरीर के महत्त्वपूर्ण अङ्ग माने जाते हैं। इनमें प्राण-सञ्चार के संवृत और विवृत करने से उत्पन्न चार प्रकार की धारणायें प्राणायाम योग में प्रसिद्ध हैं ॥ १३ ॥

इन चारों धारणाओं को क्रमशः १. शिखी, २. अम्बु, ३. ईश और ४. अमृत कहते हैं। शिखी आग्नेयी धारणा कहलाती है। इसके धारण से सारे मर्म स्थल प्रतप्त होते हैं। इसी तरह अम्बु धारणा जल तत्त्व पर आधिपत्य स्थापित करती है। इस तरह यहाँ द्रव्य चिन्तन का प्राधान्य हो जाता है। जिस द्रव्य का जैसे अग्नि या जल आदि का जिस समय चिन्तन करते हैं, उस समय उसकी शारीरिक व्यापकता का चिन्तन इसमें करना पड़ता है ॥ १४ ॥

ईशानी धारणा बिन्दुनाद की धारणा है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धारणा होती है। बिन्दु आज्ञा चक्र का चतुर्थ स्तर है। अ, उ, म, बिन्दु और अर्धचन्द्र स्तरों पर ज्यों ही साधक आधिपत्य स्थापित करता है, वह अर्धचन्द्र और निरोधिका रूप मध्य में पड़ने वाले अनन्तेश्वर और माया के परिवेशों को पारकर नाद स्तर पर छलाङ्ग लगाने में समर्थ हो जाता है। अशुद्ध अध्वा से शुद्ध अध्वा में प्रवेश की मण्डूकप्लुति तन्त्रशास्त्र में 'क्षेप' कहलाती है। इसे सिद्ध कर योगी शुद्ध विद्या में प्रवेश कर जाता है। इसी धारणा को ईशानी धारणा कहते हैं।

धारणाभिरिहैताभिर्योगी योगपथे स्थितः ।
हेयं वस्तु परित्यज्य यायात्पदमनुत्तमम्[1] ॥ १६ ॥

त्रिवेदद्वीन्दुसंख्यातसमुद्धातास्त्विमा मताः ।
एताभिरप्यधोऽप्युक्तं फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ १७ ॥

योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।
हेयाद्यालोचनात्तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते ॥ १८ ॥

जहाँ तक अमृता धारणा का प्रश्न है, यह सर्वोत्तम धारणा मानी जाती है। क्षेप के बाद आक्रान्ति, चिदुद्बोध, स्थापन और दीपन व्यापार काल त्याग के व्यापार हैं जिनको पार कर योगी तत्संवित्ति के क्षेत्र समना में प्रवेश करता है। साधना में यहाँ तक मन गतिशील रहता है। मन सोमतत्त्व का प्रतीक है। इस प्रकार अमृता में सोम का स्मरण समना की सांसिद्धिक सफलता के अनुसन्धान सदृश ही है। इन्दु अर्थात् सोम तत्त्व से अमृत झरता है। सोम-संविद् सूर्य से बिगलित होती है। इसी विगलित अमृत की अमृता धारणा को शरीर में व्याप्त कर योगी अमृतत्त्व को उपलब्धि करने में समर्थ हो जाता है ॥ १५ ॥

योगी इन धारणाओं के मार्ग को माध्यम बनाकर योग मार्ग के पथ पर अवस्थित रहकर हेयोपादेय विज्ञान विज्ञ हो जाता है। वह जान जाता है कि, क्या हेय है। हेय का वह परित्याग करता है और उपादेय को स्वीकार कर अनुत्तम पद का अधिकारी हो जाता है ॥ १६ ॥

त्रि (३) वेद (४) द्वि (२) और इन्दु (१) अर्थात् एक हजार दो सौ तैंतालिस उद्घात में ये धारणायें सिद्ध हो जाती हैं। इतनी संख्याओं को न करके भी अर्थात् इनसे नीचे रहने पर भी अर्थात् कम बार सम्पन्न करने पर भी योगी को अनुत्तम फल अर्थात् श्रेष्ठ फलों की प्राप्ति हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं है ॥ १७ ॥

ये सभी योग के ही अङ्ग हैं। यद्यपि सभी अङ्ग समान हैं। हेय और उपादेय की समान विज्ञानता के रहते भी यहाँ क्या और क्यों हेय है, किस स्तर पर क्यों उपादेय है, इस प्रकार के तर्क से ही योग मार्ग में और जिज्ञासा भाव, जिगमिषा भाव और विजिज्ञासितव्यता भाव आते हैं। इसलिये 'तर्क' को उत्तम योगाङ्ग मानते

1. ग० पु० पदमनामयमिति पाठः ।

मार्गे चेतः स्थिरीभूते हेयेऽपि विषयेच्छया ।
प्रेर्यं तेनानयेत्तावद्यावत्पदमनामयम् ॥ १९ ॥

तदर्थभावनायुक्तं मनोध्यानमुदाहृतम् ।
तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते ॥ २० ॥

मुहूर्तादेव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते ।
तत्रापि च सुनिष्पन्ने फलं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥ २१ ॥

हैं। श्रीतन्त्रालोककार ने भी इसका उद्धरण[1] दिया है। जब भी हेय और उपादेय की आलोचना प्रत्यालोचना होती है, समीक्षा और पर्यवेक्षा होती है, उससे हेय के त्याग और उपादेय के ग्रहण का यत्न होता है। इससे योगमार्ग और भी प्रशस्त हो जाता है॥ १८ ॥

योगमार्ग गहन पर्यवेक्षा का मार्ग है। गहन विमर्श और चिन्तन के बाद कहीं जाकर इस मार्ग पर चलने का निश्चय होता है। चित्त को चेतना में प्रकाश की लहरें उठती हैं, आनन्द मिलने लगता है, तब जाकर चित्त वहाँ स्थिर होता है। यह भी निश्चय होता है कि, हेय में विषयानन्द की इच्छा से ही प्रेर्य की प्रवृत्ति होती है। यही विषयानन्द, अनामय पर-आनन्द की उपलब्धि में बाधक होता है। इसी निश्चय के कारण योग मार्ग पर चलने को उद्यत साधक प्रवृत्ति पथ से अपने चित्त को अनामय निवृत्ति पथ की ओर मोड़ देता है। यही मन का अनामय की ओर आनयन व्यापार है। इसे सबको अपनाना चाहिये ॥ १९ ॥

इसके लिये भावना की दृढ़ता आवश्यक है। उसी भाव में मन का रम जाना 'ध्यान' कहलाता है। निश्चल भावमय ध्यान ही ज्ञान है। एक तरह से यह उक्ति प्रसिद्ध हो गयी है कि, 'भावनामयं ज्ञानम् इष्यते'। यह भाव का ही महत्त्व है॥ २० ॥

भावनामय ज्ञान का यह महत्त्व है कि, मुहूर्त्त पर्यन्त भी यदि साधक उस अवस्था की प्रकाशमयता के परिवेश में ध्यान में तन्मय होता है, तो उसे समाधि लग जाती है। समाधि के सहज सुख का अनिर्वचनीय आनन्दोपभोग करने वाला उपासक समस्त अभीप्सित इच्छाओं की पूर्ति का और सुफल के उपभोग का अधिकारी हो जाता है॥ २१ ॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक भाग १ आह्निक १।१० श्लोक का सन्दर्भ पृ० ३८।

यत्किंचिच्चिन्तयेद्वस्तु नान्यत्वं प्रतिपद्यते ।
तेन तन्मयतामाप्य भवेत्पश्चादभाववत् ।। २२ ।।

पञ्चतामिव संप्राप्तस्तोत्रैरपि न चाल्यते ।
ततः शब्दादिभिर्योगी योगिनीकुलनन्दनः ।। २३ ।।

इत्यनेन विधानेन प्रत्याहृत्य मनो मुहुः ।
प्राणायामादिकं सर्वं कुर्याद्योगप्रसिद्धये ।। २४ ।।

सर्वमप्यन्यथा भोगं मन्यमानो विरूपकम् ।
स्वशरीरं परित्यज्य शाश्वतं पदमृच्छति ।। २५ ।।

जिस किसी वस्तु का वह चिन्तन करता है, त्वरित तन्मयता को वह प्राप्त कर लेता है। यह तादात्म्य भाव उसे अन्यत्व से दूर ही रखता है अर्थात् आत्मसात् कर लेता है। उस वस्तु से तन्मयता का अर्थ यह होता है कि, वह जिस भाव में पहले था, उसका अभाव हो जाता है। इसी भाव को 'अभाववत्' शब्द से व्यक्त किया गया है ॥ २२ ॥

जैसे मृत्यु की अवस्था में शरीर स्तम्भित हो जाता है, और डुलाये भी नहीं डोलता, उसी प्रकार तन्मयतात्मक समाधि में स्तब्धवत् स्व में तल्लीन हो जाता है। दूसरे तो यह मान बैठते हैं कि, यह पञ्चत्व को प्राप्त हो गया है। भावावेश की यह चरम परम अवस्था मानी जाती है। दूसरों द्वारा देह स्पर्श पूर्वक उठाने की कोशिश भी उस तन्मयता की गहरायी के सामने व्यर्थ हो जाती है।

इसके बाद योगियों के लिये पुत्र के समान प्रिय हो जाने में सफल वह योगी शब्द आदि के प्रयोग से समाधि विरत किया जाता है। उसका मन उस तादात्म्य भाव से लौट पाता है। वह योग प्रक्रिया में और भी कौशल प्राप्त करने के उद्देश्य से प्राणायामादि प्रक्रिया पूरी करने में प्रवृत्त रहता है ॥ २३-२४ ॥

अब भोगवाद में उसकी प्रवृत्ति नहीं रमती। वह इसे विकारमय और विरूपतामयी दिखायी देती है। जीवन पर्यन्त समाधि सुख का अनुभव करते हुये अन्त में समाधि रूप परमात्म-तादात्म्य वाली शाश्वत गति[1] प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक भाग ६ आ० १९।५५ ।

तदा पूर्वोदितं न्यासं कालानलसमप्रभम् ।
विपरीतविधानेन कुर्या ··· द्वियुग्मताम् ॥ २६ ॥

आग्नेयीं धारणां कृत्वा सर्वमर्मप्रतापिनीम् ।
पूरयेद्वायुना देहमङ्गुष्ठान्मस्तकान्तिकम् ॥ २७ ॥

तमुत्कृष्य ततोऽङ्गुष्ठाद्ब्रह्मरन्ध्रान्तमानयेत् ।
छेदयेत्सर्वमर्माणि मन्त्रेनानेन योगवित् ॥ २८ ॥

जीवमादिद्विजारूढं शिरोमालादिसंयुतम् ।
कृत्वा तदग्ने कुर्वीत द्विजमाद्यमजीवकम्[1] ॥ २९ ॥

इस तरह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने वाले ऐसे महायोगी पहले कहे गये कालानल के समान न्यास प्रक्रिया में पारङ्गत होकर विपरीत विधान को अपना कर योग[2] से वियुग्मता अर्थात् द्वैतवाद को दूर कर अद्वैत की सिद्धि में प्रवृत्त हो जाय ॥ २६ ॥

वस्तुतः कालानल[3] न्यास आग्नेयी धारणा के ही एक पद्धति के अन्तर्गत आता है। यह एक ऐसी धारणा मानी जाती है, जिससे सारे मर्मस्थल प्रतप्त हो जाते है। इसी लिये इसे 'मर्मप्रतापिनी' संज्ञा से विभूषित करते हैं। इसे करके कुम्भक प्राणायाम में अवस्थित होकर वायु को अङ्गुष्ठ से मस्तक पर्यन्त पूरे शरीर में पूरी तरह भरना चाहिये ॥ २७ ॥

उपासक फिर उस वायु को 'उत्कर्ष' प्राणायाम विधि से अङ्गुष्ठ से ब्रह्म रन्ध्र से ऊपर ले जाय। इस विधि से शरीर के सारे मर्म[4] और चक्रस्थलों उनके भीतर भेदते हुये पार हो जाना चाहिये। इसके लिये विशेष मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। वह मव्य इस प्रकार है—

जीव—स्, आदिद्विज—क्, शिरोमाला—ॠ इन तीन वर्णों को एक में मिला देने के बाद जो वर्ण तैयार हो, उसके आगे जीव (स) रहित आदि द्विज (क्) का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह एक छोटा सा ऐसा बीज मन्त्र बनता है, जो मार्मिक होता है ॥ २८-२९ ॥

---

१. क० पु० माद्यं सकीवकमिति पाठः।
२. इस श्लोक में रिक्त स्थान पर 'योगात्' शब्द रहना चाहिये।
३. श्रीतन्त्रालोक भाग ६ आ० १९।११ ; ४. तदेव १९।१२।

इत्येषा कथिता कालरात्रिर्मर्मनिकृन्तनी ।
नैनां समुच्चरेद्देवि य इच्छेद्दीर्घजीवितम् ॥ ३० ॥

शतार्धोच्चारयोगेन जायते मूर्ध्नि वेदना ।
एवं प्रत्ययमालोच्य मृत्युजिद्ध्यानमाश्रयेत् ॥ ३१ ॥

निपीड्य तं ततस्तत्र बिन्दुनादादिचिन्तकम् ।
वेगादुत्कृष्य तत्रस्थकालरात्रीं विसर्जयेत् ॥ ३२ ॥

... ... सिद्धयोगीश्वरी मते ।
तत्सकाशाद्भवेत्सिद्धिः सर्वमन्त्रोक्तलक्षणा ॥ ३३ ॥

इस विद्या को कालरात्रि विद्या कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'मर्मनिकृन्तनी' विद्या भी है। इस विद्या रूपी बीज मन्त्र का उच्चारण वे व्यक्ति कभी न करें, जो दीर्घकाल तक जीने की इच्छा रखते हों। इसका तात्पर्य यह है कि, इसके उच्चारण से प्राणशक्ति के निकृन्तन का खतरा भी हो सकता है ॥ ३० ॥

इस उक्त विधि से निष्पन्न मर्म निकृन्तक कालरात्रि मन्त्र की यदि शतार्ध भी आप जपेंगे अर्थात् ५० मन्त्र भी बोल कर जप सके तो मूर्धा अर्थात् शिरो भाग में मर्म भेदी भयङ्कर वेदना प्रारम्भ हो जाती हैं। इस तरह कोई भी जप कर यह मारक अनुभव प्राप्त कर सकता है।

इस स्थिति से सावधान योगी एक-एक चक्र भेद की प्रक्रिया को शान्त भाव से ध्यान के द्वारा ही निपटाता हैं। धीरे-धीरे वह अङ्गुष्ठ से ब्रह्मरन्ध्रान्त योग यात्रा पूरी कर लेता है और काल से सुरक्षित भी रहता है। इसीलिये इस श्लोक में 'मृत्युजित्'[1] विशेषण का प्रयोग किया गया है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वायु को बिन्दुनादादि पर्यन्त जहाँ ब्रह्मरन्ध्र की अन्तिम सीढ़ी है, वहीं निपीडित कर वेगपूर्वक वहाँ तक लाये गये 'कालाग्नि' बीज को विसर्जित कर देना चाहिये। इसमें भी उत्कर्ष विधि का ही प्रयोग होता है ॥ ३२ ॥

प्रस्तुत श्लोक में प्रथम अर्धाली में प्रथम आठ अक्षरों की टूट है। इस स्थान पर 'इत्येषा धारणाग्नेयी' पद होना चाहिये। इससे छन्द सन्दर्भ और अर्थ तीनों की पूर्ति हो जाती है। तदनुसार पूरी पंक्ति रूप प्रथम अर्द्धाली का अर्थ होगा—

---

१. श्रीतन्त्रालोक भाग ८ आ० १०।५५-५७।

तदेव मन्त्ररूपेण म [नुष्यैः] समुपास्यते ।
एष ते ज्ञेयसद्भावः कथितः सुरवन्दिते ।। ३४ ।।

अभक्तस्य गुहस्यापि नाख्येयो जातुचिन्मया ।
उदरं सर्वमापूर्य ब्रह्मरन्ध्रान्तमागतम् ।। ३५ ।।

वायुं भ्रमणयोगेन[1] ततस्तं प्रेरयेत्तथा ।
यावत्प्राणप्रदेशान्तं योगिनां मनसेप्सितम् ।। ३६ ।।

श्रीसिद्ध योगीश्वरी मत के अनुसार (श्लोक २६ से ३२ तक) आग्नेयी धारणा यहाँ तक कही गयी है और यही है। इसके सकाश का अर्थ पास होता है किन्तु यहाँ अभ्यास अर्थ ही ग्राह्य है। अर्थात् इसके निरन्तर अभ्यास से सारे मन्त्रों से जैसी सिद्धियों का वर्णन है, उन सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है ।। ३३ ।।

साधक मनुष्यों के द्वारा यह मन्त्र रूप से उपास्य है। अर्थात् साधक आग्नेयी धारणा को कालरात्रि मन्त्र से गोपनीयता पूर्वक उपासना करते हैं। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! यहाँ मैंने तुम्हें जो कुछ सुनाया है, यह ज्ञेय सद्भाव है । इसे सदा ज्ञेय रूप से सद्भाव पूर्वक अभ्यास करना श्रेयस्कर माना जाता है। तुम देववृन्द वन्दनीय हो। इसे स्वयम् सर्वदा धारण करना ।। ३४ ।।

'पार्वती कहती हैं कि, मेरे आराध्य परमेश्वर ! साधना में सदा रत कोई साधक भले ही 'गुह' अर्थात् पुत्र कार्त्तिकेय के समान भी प्रिय क्यों न हो, यदि वह शिवभक्ति योग सम्पन्न नहीं है, तो उसे यह विद्या कभी भी मेरे द्वारा नहीं दी जा सकती' ।। ३५ ।।

पार्वती की इस प्रतिज्ञा से प्रसन्न परमेश्वर शिव कहते हैं कि, प्रिये ! प्राण-वायु से सारा उदर लम्बोदर गणेशवत् भरकर ब्रह्मरन्ध्रान्त ले जाकर जब योगी पूर्णानन्द से भर उठे, तो उसे भ्रमणयोगविधि द्वारा प्रेरित करना चाहिये और प्राण प्रदेश अर्थात् नासिक्य द्वादशान्त नामक अमा केन्द्र (चितिकेन्द्र) में प्रेषित कर देना चाहिये। इसमें कोई समय सीमा नहीं होती। योगियों के मन की ईप्सा पर ही यह निर्भर करता है ।। ३६ ।।

---

१. क० तथा भ्रमणेति पाठः ।

व्याप्यते पुनरा [वृत्य] तथैव नाभिमण्डलम् ।
एवं समभ्यसेत्तावद्यावद्वासरसप्तकम् ॥ ३७ ॥
तदाप्रभृति संयुक्तः कर्षयेत्त्रिदशानपि ।
अनेनाकृष्य विज्ञानं सर्वयोगिनिषेवितम् ॥ ३८ ॥
गृह्णीयाद्योगयुक्तात्मा किमन्यैः क्षुद्रशासनैः ।
प्रथमं महती घूर्णिरभ्यासात्तस्य जायते ॥ ३९ ॥
ततः प्रकम्पो देवेशि ज्वलतीव ततोऽप्यणुः ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे सप्तदशोधिकारः ॥ १७ ॥

पुनरावर्त्तन की प्राणापानवाह प्रक्रिया के अनुसार प्राणवायु नाभि केन्द्र रूप पौर्णमास केन्द्र में लाकर कुम्भक करते हैं। इस प्रकार मात्र सात दिन के ही अभ्यास से साधक में अद्भुत शक्ति का विकास प्रारम्भ हो जाता है। इसके बाद ही चमत्कार घटित होता है। अनवरत अभ्यास से वह देववर्ग का भी आकर्षण करने में समर्थ हो जाता है। यह सभी योगियों द्वारा योग साधना में निषेवित राजमार्ग है। यह योग विज्ञान महत्त्वपूर्ण है। योगी लोग इसका सदा सदुपयोग करते हैं ॥ ३७-३८ ॥

भगवान् कहते हैं कि, योगयुक्तात्मा साधक शिरोमणि का यह कर्त्तव्य है कि, इसका अनवरत अभ्यास करे। उसे किसी अन्य क्षुद्र अर्थात् महत्त्वहीन अनुशासनिक सम्प्रदायवद्ध बातों के चक्कर में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रक्रिया के अपनाने के दो चार दिन में कुछ ऐसे लक्षण परिलक्षित होते हैं, जिनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं। यह इसकी सूचना मात्र होती है, जिसे उस मार्ग में आगे सफलता निश्चित है। जैसे घूर्णि' होती है अर्थात् कुछ घूमने जैसा शिर में प्रतीत होता है। शिर घूमता सा प्रतीत होता है। इसे सामान्यतया चक्कर आना भी लोग समझ सकते हैं। ऐसा होने पर भी इस अभ्यास का परित्याग नहीं करना चाहिये। इसके बाद कम्पन का लक्षण अनुभूत होता है। इसके बाद प्रारम्भिक अणु रूप अभ्यासी को कुछ गर्मी भी होती है। इसके बाद सब शान्त हो जाता है और योगपथ प्रशस्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
प्राणायामादिधारणात्मक सत्रहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १७ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ अष्टादशोऽधिकारः

श्रृणु देवि परं गुह्यमप्राप्यमकृतात्मनाम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं तदद्य कथयामि ते ॥ १ ॥

सर्वमन्यत्परित्यज्य चित्तमत्र निवेशयेत् ।
मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेक भाषा-भाष्य संवलितम्

अष्टादशोऽधिकारः

[१८]

माता पार्वती को सम्बोधित करते हुये भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि ! इस प्रकरण में मैं एक अत्यन्त गोपनीय और अकृतात्मा, असन्तुलित, अपरिपक्व और कृतघ्न व्यक्तियों के लिये नितान्त अप्राप्य रहस्य का उद्‌घाटन तुम्हारे समक्ष करने जा रहा हूँ। आज तक यह विषय कहीं किसी शास्त्र में, किसी के द्वारा नहीं कहा गया है। तुमसे मैं इस अनिर्वचनीय रहस्य का कथन कर रहा हूँ। इसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥ १ ॥

सारे ध्यान और सारी धारणाओं एवम् उपासनाओं के विधानों को छोड़कर इसी विषय में अपने मन को निविष्ट करना ही सभी दृष्टियों से श्रेयस्कर है। यही विधि है। लोग तरह-तरह की लिङ्ग पूजा में लगे हुए हैं। अबोधता के कारण मिट्टी, शैल (प्रस्तर) धातु (स्वर्णरजत पारद आदि) और रत्नों से निर्मित लिङ्गों का पूजन में प्रयोग करते हैं। मैं तुमसे यह स्पष्ट रूप से घोषित कर रहा हूँ कि, इनसे निर्मित लिङ्गों की पूजा कभी नहीं करनी चाहिये ॥ २ ॥

यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ।
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं[1] यतः ॥ ३ ॥

अतः प्रपूजयेदेतत्परमाद्वैतमाश्रितः ।
अनुध्यानेन देवेशि परेण परमाणुना ॥ ४ ॥

योऽनुध्यातः स एवैतल्लिङ्गं पश्यति नापरः ।
यदेतत्स्पन्दनं नाम हृदये समवस्थितम् ॥ ५ ॥

तत्र चित्तं समाधाय कम्प उद्भव एव च ।
तत्र प्रशान्तिमापन्ने मासेनैकेन योगवित् ॥ ६ ॥

इतनी भूमिका के बाद मुख्य बात पर आ रहे हैं और कह रहे हैं कि, उन्हें आध्यात्मिक लिङ्ग की ही पूजा करनी चाहिये। [2]आध्यात्मिक लिङ्ग में ही पूजा सफल होती है। इसी में सारा चर और अचर लीन है। आध्यात्मिक लिङ्ग के आधार पर ही बाह्य लिङ्गों की लिङ्गता निर्भर है। मालिनीविजयोत्तर नामक इस ऊर्ध्वशास्त्र के आदेश का ही पालन करना चाहिये ॥ ३ ॥

अतः परम अद्वैत परमेश्वर के आधार पर आवृत और उन्हीं पर आश्रित भक्त उसी परम अद्वैत परमेश्वर की पूजा करे। यह पूजन अनुध्यान पूर्वक होना चाहिये। हे देवेश्वरि पार्वति, इस अनुध्यान का स्वरूप भी परात्मक ही होना चाहिये। इसमें परमाणु शब्द का प्रयोग साधक और साधना दोनों के अपरिपक्व अंश को अनायास परिष्कृत करने की सूचना दे रहा है ॥ ४ ॥

इस अनुध्यान का कर्त्ता अनुध्याता इसे परमाणु भाव से अनुध्यात करता है, वस्तुतः इस आध्यात्मिक लिङ्ग के दर्शन का वही अधिकारी होता है और वही वास्तविक दर्शन कर पाता है। हृदय परमेश्वर का केन्द्र माना जाता है। उसमें एक शाश्वत स्पन्दन अनवरत चलता है। उसे महास्फुरतामयी सत्ता मानते हैं। वही इस दर्शन को हेतु है ॥ ५ ॥

हृदय के स्पन्दन में समाहित-चित्त होना साधना का ही एक अङ्ग है। वहीं कम्प की स्वाभाविक अनुभूति होती है। कम्प एक पारिभाषिक शब्द है[3]। शरीर

---

१. ग० पु० मन्येनाधिष्ठितमिति पाठः।

२ श्रीतन्त्रालोक भाग ६ आ० २७।१२-१३,१-२।

३. श्रीतन्त्रालोक भाग ६ आ० २७।१३, मा० वि० ११।३५।

हृदयादुत्थितं लिङ्गं ब्रह्मरन्ध्रान्तमीश्वरि ।
स्वप्रभोद्योतिताशेषदेहान्तममलद्युति ॥ ७ ॥

तत्रैव पश्यते सर्वं मन्त्रजालं महामतिः ।
तन्मस्तकं समारुह्य माससात्रमनन्यधीः ॥ ८ ॥

ततस्तत्र सुनिष्पन्ने षण्मासात्सर्वसिद्धयः ।
एतल्लिङ्गमविज्ञाय यो लिङ्गी लिङ्गमाश्रयेत् ॥ ९ ॥

में आनन्द के आधिक्य का यह प्रतीक माना जाता है। इसी तरह उद्भव शब्द भी इसी सन्दर्भ में शक्ति के तारतम्य को व्यक्त करने वाला पारिभाषिक प्रयोग है। उद्भव उद्भूति क्रिया का कार्य माना जाता है। इसमें साधक के हृदय में शैवमहाभाव की उद्भूति होती है। यह सब चित्त के समाधान के सुपरिणाम ही माने जाते हैं।

इस अनुभूति के बाद वहाँ शान्ति की अनुभूति होती है। उसी शान्ति की गहरी अवस्था प्रशान्ति कहलाती है। इसकी प्राप्ति योगी को होती है। इस अवस्था में समय लगाने वाला साधक योगवित् कहलाने का भी अधिकारी होता है॥ ६॥

साधक इतना शान्त होता है कि, उसका प्राण ही वहाँ दण्डाकार होते हुए 'लिङ्ग' संज्ञा से विभूषित होने योग्य हो जाता है। यह प्राणदण्ड रूपी लिङ्ग आध्यात्मिक लिङ्ग माना जाता है। यह हृदय अर्थात् शरीर के मूल केन्द्र से उठकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त प्रोत हो जाता है। अपने प्रकाश की प्रभा से समग्र पिण्डरूपी ब्रह्माण्ड शरीर को प्रकाशमान कर देता है ॥ ७॥

इसका परिणाम यह होता है कि, महीयसी महिमामयी मतिशक्ति द्वारा वहाँ समस्त मन्त्रराशि का दर्शन साधक को हो जाता है। अनवरत एक मास तक इस महासाधनाध्यवसाय में निरत साधक मन्त्र के शिरोभाग अर्थात् वाक्तत्त्व के उच्चशिखर पर आरूढ़ होकर विश्व को नया सन्देश देने में समर्थ हो जाता है॥ ८॥

छः मास लगातार इसी साधन में संलग्न रहने का सुपरिणाम यह होता है कि, सारी सिद्धियाँ उसे स्वतः उपलब्ध हो जाती हैं। यह लिङ्ग विज्ञान का रहस्य है। जो साधक इस रहस्य विद्या के विज्ञान से वञ्चित रहकर लिङ्गोपासना का पक्षधर रहते हुये भी इसमें चूक कर अन्य लिङ्गों के आश्रय की बात करता है, वह इसमें सफल नहीं होता ॥ ९॥

वृथा परिश्रमस्तस्य न लिङ्गफलमश्नुते ।
शैवमेतन्महालिङ्गमात्मलिङ्गे [न] सिद्धयति ॥ १० ॥

सिद्धेऽत्र लिङ्गवल्लिङ्गी लिङ्गस्थो लिङ्गवर्जितः ।
भवतीति किमाश्चर्यमेतस्माल्लिङ्गलिङ्गितः ॥ ११ ॥

अनेन लिङ्गलिङ्गेन यदा योगो बहिर्व्रजेत् ।
तदा लिङ्गीति विज्ञेयः पुरान्तं लिङ्गमिष्यते ॥ १२ ॥

एतस्माल्लिङ्गविज्ञानाद्योगिनो लिङ्गिताः स्मृताः ।
अनेनाधिष्ठिताः मन्त्राः शान्तरौद्रादिभेदतः ॥ १३ ॥

उसका इस दिशा में किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। वह विज्ञ होते हुए लिङ्गोपासना के सुपरिणाम को नहीं ले पाता। आध्यात्मिक नामक यह महालिङ्ग शैवलिङ्ग की सिद्धि हेतु माना जाता है। आत्मलिङ्ग को आध्यात्मिक लिङ्ग भी कहते हैं। इसी आत्मलिङ्ग साधना से शैवमहालिङ्ग सिद्ध हो जाता है ॥ १० ॥

आत्मलिङ्ग अर्थात् आध्यात्मिक लिङ्ग से शैवमहालिङ्ग साधना में जो सिद्ध हो जाता है, वह लिङ्ग विज्ञान सिद्ध लिङ्गवल्लिङ्गी कहलाता है। अपने बल पर वह लिङ्ग में अवस्थित रहते हुए भी लिङ्ग वर्जित दशा में भी रहने में समर्थ हो जाता है। इसमें आश्चर्य के लिये तनिक स्थान नहीं है। अब उसे लिङ्गलिङ्गित योगवेत्ता कहते हैं ॥ ११ ॥

लिङ्गलिङ्गित एक अवस्था है। उत्तमोत्तम साधक लीन को अर्थात् विश्व प्रसार में सुगुप्त रहस्य को सबके लिये उद्घाटित कर देता है और इसी से उसकी भी पहचान होती है। एक इससे भी ऊँची अवस्था होती है, जब वह अपनी इस स्तरीयता से भी ऊपर उठ जाता है। वह तब केवल 'लिङ्गी' संज्ञा से विभूषित होता है। वास्तव में लिङ्ग तो यह शरीर ही है। इसी शरीर को ही 'पुर' कहते हैं। 'परिशेते पुरुषः' इस उक्ति के अनुसार वह इस पुर सीमा से ऊपर उठकर इसकी संकुचित सीमा को भङ्ग कर असीमता को आत्मसात् करता है ॥ १२ ॥

यह लिङ्ग विज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योगी इसमें निष्णात होकर केवल लिङ्गित रह जाता है। मन्त्र भी इससे अधिष्ठित होते हैं। उन्हें शान्त और रौद्र आदि भेदों में विभक्त कर उपासक जानते समझते हैं ॥ १३ ॥

भवन्तीति किमाश्चर्यं तद्भावगतचेतसः ।
रौद्रं भावं समाश्रित्य यदि योगं समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

दुर्निरीक्ष्यो भवेत्सर्वैः सदेवासुरमानुषैः ।
गमागमविनिर्मुक्तः सर्वदृष्टिरकातरः ॥ १५ ॥

मुहूर्तं तिष्ठते यावत्तावदेवेशमाप्नुयात् ।
आविष्टः पश्यते सर्वं सूर्यकोटिसमद्युति ॥ १६ ॥

यत्तदक्षरमव्यक्तं शैवं भैरवमित्यपि ।
तं दृष्ट्वा वत्सरार्धेन योगी सर्वज्ञतामियात् ॥ १७ ॥

य एवैनं समासाद्य यस्तृप्तिमधिगच्छति ।
न च कृत्रिमयोगेषु स मुक्तः सर्वबन्धनैः ॥ १८ ॥

अधिक क्या कहा जाय, योगी स्वयं मन्त्र रूप ही हो जाते हैं । वे एक तरह से मन्त्र भावना की एक निष्ठता में रम जाते हैं । उनकी चेतना मान्त्रिक भाव सत्ता में समाहित हो जाती है । यह शान्त अवस्था की परिचायक चेतना का स्वरूप होता है । इसी तरह रौद्र भाव में भी वे योग का अभ्यास करते हैं ॥ १४ ॥

रौद्र भाव से भावित होने का तात्पर्य साक्षात् रुद्र समावेश में आविष्ट होना माना जाता है । भगवान् परम शिव को तीन अवस्थाओं में ही उपासना होती है । शिवोपासना, भैरवोपासना और रुद्रोपासना । शास्त्र भी इन्हीं तीन धाराओं में प्रवाहित होते हैं । रुद्ररूप में समाहित होने पर योगी देवों, दानवों और मानवों से भी दुर्निरीक्ष्य हो जाता है । गमागम भाव तो सामान्य जीवन और मृत्यु के जंजाल में फँसे जीवों की 'संसृति' कहलाती है किन्तु वह आवागमन से मुक्त हो जाता है । वह सर्वत्र सम दृष्टि सम्पन्न साधक निर्भय भाव से विश्व में विचरण करता है । कातर कापुरुषों से वह बहुत ऊपर अधिष्ठित हो जाता है ॥ १५ ॥

इस धारणा में वह यदि क्षण भर भी अधिष्ठित हो जाता है, तो साक्षात् ईश्वरत्व को ही प्राप्त हो जाता है । उस आवेश में आविष्ट होकर सर्वेश्वर शिव के करोड़ों सूर्यों के समान द्युतिमन्त, अक्षर, अव्यक्त शैव और भैरव रूपों का दर्शन कर लेता है । छः मास की साधना से वह सर्वज्ञ हो जाता है कृत्रिमयोगजेताभैरवभाव-प्राप्त तृप्त योगी सर्वबन्धन विमुक्त हो जाता है ॥ १६-१८ ॥

प्राणायामादिकैर्लिङ्गैर्योगाः स्युः कृत्रिमा मताः ।
तेन तेऽकृतकस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ १९ ॥
एतत्समभ्यसन्योगी दिव्यचिह्नानि पश्यति ।
उपविष्ट ऋजुर्योगी न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २० ॥
मुहूर्तान्निर्दहेत्सर्वं देहस्थमकृतं कृतम् ।
दह्यमानस्य तस्येह प्रकम्पानुभवो भवेत् ॥ २१ ॥
ततस्तत्र स्थिरीभूते ज्योतिरन्तः प्रकाशते ।
तां दृष्ट्वा परमां दीप्तिं दिव्यज्ञानं प्रवर्तते ॥ २२ ॥

प्राणायाम आदि योग की जो पद्धतियाँ हैं, ये सभी कृत्रिम प्रक्रियायें मानी जाती हैं। कृत्रिम अर्थात् अस्वाभाविक रूप से स्ववम् अभ्यसनीय योग उत्कृष्ट योग नहीं वरन् हठ योग की श्रेणी में परिगणित है। गमागम विनिर्मुक्त, सर्वबन्धन विमुक्त अकृत्रिम योग सम्पन्न योगी की सोलहवीं कला के भी योग्य कृत्रिम योगी नहीं हो सकते ॥ १९ ॥

इस अकृतक योग का अभ्यास करने वाला महायोगी दिव्य लक्षणों का दर्शन करता है। वह केवल 'ऋजु' भाव में अवस्थित अकिञ्चित्-चिन्तन की स्थिति प्राप्त कर लेता है। चिन्तन चित्त से होता है। उसका चित्त रौद्र भाव में समाहित हो जाता है ॥ २० ॥

उपासक में इतनी शक्ति आ जाती है कि, वह क्षण भर में ही समस्त कर्म-जाल को ज्ञान की आग से निश्चय रूप से पवित्र कर देता है। भगवान् कहते भी हैं कि, वह कृत अकृत कर दे। वह देहस्थ पापराशि को जलाकर राख कर दे। इनके जलते ही उपासक में प्रकम्प की अनुभूति होती है। इससे उसका वर्चस्व प्रमाणित हो जाता हैं। इससे घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं ॥ २१ ॥

इस स्थिति में स्थिर चित्त साधक परम शान्ति का अनुभव करता है। वह और भी स्थिर हो जाता है। उस समय उसकी अन्तर्ज्योति प्रकाशमान हो उठती हैं। उस दीप्तिमन्त प्रकाश राशि का दर्शन कर उसमें दिव्य ज्ञान का प्रवर्त्तन हो जाता है ॥ २२ ॥

स्वतन्त्रशिवतामेति भुञ्जानो विषयानपि ।
अनिमीलितदिव्याक्षो यावदास्ते मुहूर्तकम् ॥ २३ ॥
तस्मात्सर्वगतं भावमात्मनः प्रतिपद्यते ।
तमेव भावयेद्यत्नात्सर्वसिद्धिफलेप्सया ॥ २४ ॥
ततस्तं भावयेद्योगी कल्पमानोऽत्यनुल्बणम् ।
ततः प्रपश्यते तेजो ललाटाग्रे समन्ततः ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा तत्परमं[1] तेजो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ।
षड्भिर्मासैरनायासाद्वत्सरेण प्रसिद्ध्यति ॥ २६ ॥

स्वच्छन्द भावापन्न शिव तादात्म्यानुभूति में वह भावित हो जाता है। वह विषयों के परिवेश और भोग की उपभोगिता में रहते हुए शिवत्व में ही अधिष्ठित रहता है। आँखों को बन्द किये हुए वह भावमुद्रा में अधिष्ठित होता है, उस समय दिव्यता उसका शृङ्गार करती है। उनकी आँखों में क्षण भर में ही दिव्यता उतर आती है। उसके प्रति मुहूर्त्त धन्य हो उठते हैं। यह साधना की चरम अवस्था होती है ॥ २३ ॥

विश्व की आत्मीयता का उदय उसमें पहले से ही रहता है। इस स्थिति में वह विश्वमय हो जाता है। बह सर्वभाव तादात्म्य का अनुभव करता है। भगवान् कहते है कि, इस भाव को ही वह स्वात्म में सदा भावित करे। इस क्रिया को यत्न पूर्वक करना चाहिये। इससे सभी प्रकार की सिद्धियाँ उसे उपलब्ध हो जाती हैं ॥ २४ ॥

इसके बाद योगवेत्ता शिव का भावन करे। यह देखे कि, इधर जो प्रगति हुई है, उसमें अपेक्षित उष्णता है, या नहीं। उसे अपेक्षाकृत अत्युत्तम स्तर तक ले जाय। इसमें पर्याप्त समय भी लगाना चाहिये। इतना अभ्यास करने के उपरान्त योगी अपने ललाट के अग्रभाग में उठते हुए तेज का दर्शन करता है ॥ २५ ॥

ललाट के अग्रभाग (त्रिनेत्र क्षेत्र) आज्ञा चक्र के परिवेश में उस तेज का दर्शन कर उपासक धन्य हो जाता है। उसमें दिव्य ज्ञान का उद्बलन होने लगता है। इस दिव्य ज्ञान की प्राप्ति में उसे छः मास तक अनवरत साधना करनी पड़ती है । यदि वह निरन्तर एक वर्ष तक इसके साधन से भावना बद्ध होकर क्रिया योग पूरा करता रहे, तो उसे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह ललाटस्थ तेज की साधना है। योगी के लिये यह परम आवश्यक है ॥ २६ ॥

---

१. क० पु० परतमं तेज इति पाठः ।

शिवतुल्यबलो भूत्वा यत्रेष्टं तत्र गच्छति ।
चेतः सर्वगतं कृत्वा मुहूर्तादेव योगवित् ॥ २७ ॥

शक्त्यावेशमवाप्नोति प्रकम्पानुभवात्मकम् ।
ततस्तत्र स्थिरीभूते मासमात्रेण योगवित् ॥ २८ ॥

शाक्तं प्रपश्यते तेजः सबाह्याभ्यन्तरे स्थिरम् ।
तत्र सम्यक् सुनिष्पन्ने सर्वेन्द्रियजमादरात् ॥ २९ ॥

तत्र स्फुटमवाप्नोति विज्ञानमनिवारितम् ।
सर्वगं चात्र विज्ञेयं यदक्षार्थेन[1] संगतम् ॥ ३० ॥

तेज उस साधक को आत्मसात् कर लेता है और साधक तेज को आत्मसात् करने में समर्थ हो जाता है। यह तैजसिक तादात्म्य उसे शिव तुल्य समर्थ बना देता है। वह तैजसिक सूक्ष्मता के सहारे विश्व विस्तार में जहाँ चाहे वहीं प्रकट हो सकता है। यह उसकी गतिशीलता का ही प्रमाण है। जहाँ चाहे वहाँ प्राप्त हो जाना, पहुँच जाना सिद्धि का ही लक्षण है। उसकी बुद्धि सर्वत्र गतिशील रहती है। वह जहाँ चाहता है, उस क्षण वहीं होता है। इसमें समय नहीं लगता। क्षण भर में यह घटित हो जाता है॥ २७ ॥

उस अवस्था में जब कभी प्रकम्प की अनुभूति उसे हो, यह समझना चाहिये कि, माँ का आवेश उस पर हो गया है। इस आवेश में स्थिरता अभ्यास द्वारा आ जाती है। उसमें ऐश्वर्य और स्थैर्य इस साधना का अन्तिम पड़ाव माना जाता है॥ २८ ॥

इसी स्थैर्य में साधक यदि एक मास लगा रह जाय, तो वह शाक्त तेज का दर्शन कर लेता है। उस समय वह बाहर अर्थात् बाह्य दृष्टि से और भीतर अर्थात् आन्तर दृष्टि से भी स्थिर हो जाता है। उसकी सारी इन्द्रियाँ इतनी स्थिर हो जाती हैं कि, कोई आकर्षण उसे डिगा नहीं सकता ॥ २९ ॥

इसी अवस्था में अभ्यास करते-करते वह अनिवार्य रूप से विज्ञान वेत्ता बन जाता है। अक्षार्थ अर्थात् समस्त विषय रूप इन्द्रियार्थ उसके अधीन हो जाते हैं। उसका सर्वज्ञ विज्ञान और ऐन्द्रियिक स्थिरता उसे उच्चस्तरीय बना देते हैं॥ ३० ॥

---

१. ग० पु० यदक्षार्थैनं संगतमिति पाठः ।

एकमेवेदमाख्यातं तत्त्वं पर्यायभेदतः ।
कर्मेन्द्रियाणि बुद्ध्यन्तं परित्यज्य समस्तकम् ॥ ३१ ॥

भावयेत्परमां शक्तिं सर्वत्रैव विचक्षणः ।
निश्चलं तु मनः कृत्वा यावत्तन्मयतां गतः ॥ ३२ ॥

तावत्सर्वगतं भावं क्षणमात्रात्प्रपद्यते ।
निर्दह्य पाशजालानि यथेष्टं फलमाप्नुयात् ॥ ३३ ॥

तस्मात्समभ्यसेदेनं कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
यत्राधारविनिर्मुक्तो जीवो लयमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

इस सर्वत्र व्याप्त रहने वाले सर्वग तत्त्व और इन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने वाले विषयों के सम्बन्ध में गहरायी से विचार करने पर निष्कर्ष रूप से यह रहस्य उद्घाटित होता है कि, पर्याय भेद से भिन्न प्रतीत होने वाला तत्त्व वस्तुतः एक ही है। यही शास्त्र भी कहते हैं। इसलिये योगी का यह कर्त्तव्य है कि, वह कर्मेन्द्रियों से लेकर ज्ञानेन्द्रियों तक की इस भेदमयता का परित्याग करदे ॥ ३१ ॥

सर्वत्र एक रूप होते हुए प्रतिरूप भिन्न दीख पड़ने वाली सर्वशक्तिमती परम शक्ति तत्त्वात्मिका परा परमाम्बा का ही भावन करे। यही विचक्षण पुरुष का लक्षण है। मन को उसी में निश्चल भाव से लगा दें। उसी में समाहित और प्रतिष्ठित हो जांय। यही उस परा शक्ति से तन्मयता मानी जाती है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार के अभ्यास में अनवरत संलग्न रहने वाले योगी में चमत्कार घटित हो जाता है। वह क्षण मात्र में ही सर्वगत भाव की उपलब्धि से धन्य हो जाता है। वह इस स्तर पर अपने समस्त पापों को जला डालता है और जिस महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिये योग प्रक्रिया को पूरा करने में लगा है, वह लक्ष्य निश्चित रूप से वह पा लेता है ॥ ३३ ॥

इसलिये अपना निश्चय दृढ़ करे या आत्म तत्त्व की उपलब्धि का निश्चय करके इस योग मार्ग को अपनाये। इसका सम्यक् रूप से अभ्यास करे। वह यह सुनिश्चित रूप से जानने में सफलता प्राप्त करे कि, यह जीव जिस शरीर को आधार मानकर इसमें अवस्थित है, इससे मुक्त कर कहाँ लय को प्राप्त करेगा, अर्थात् शरीर-भाव और अशरीर-भाव की जीव-यात्रा की जानकारी प्राप्त करे ॥ ३४ ॥

तत्स्थानं सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिक्षेत्रमिष्यते[1] ।
द्विविधं तत्परिज्ञेयं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ ३५ ॥

प्रयातव्याधिका मात्रा सा ज्ञेया सर्वसिद्धिदा ।
अथवा गच्छतस्तस्य स्वप्नवृत्त्या विचक्षणः ॥ ३६ ॥

निरोधं मध्यमे स्थाने कुर्वीत क्षणमात्रकम् ।
पश्यते तत्र चिच्छक्तिं त्रुटिमात्रामखण्डिताम् ॥ ३७ ॥

जीव जहाँ लय को प्राप्त होता है, वह संस्थान मनन करने योग्य है। वह सभी मन्त्रों का उत्पत्ति स्थान है। इस सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं कि, मन्त्रों की देवी 'मातृका' कहलाती है। मातृका ५० वर्णों की होती हैं। वर्ण परावाक् रूपी अमृत पारावार के व्यक्त बिन्दु होते हैं। इन्हीं वर्णों से मन्त्र बनते हैं। इस तरह मन्त्रों की उत्पत्ति का स्थान परावाक् रूप परम तत्त्व है, यह सिद्ध हो जाता है। वही स्थान वास्तव में मन्त्रोत्पत्ति का मूल स्थान है। उत्पत्ति क्षेत्र है। वह बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है ॥ ३५ ॥

उस तत्त्व की आभ्यन्तर स्थिति उसकी अधिका मात्रा है। सर्वप्रथम हमारा उद्देश्य यही बनना चाहिये कि, वही हमारी जीवन यात्रा की प्रयातव्य मंजिल है। वही ज्ञेय है। यही नहीं सर्वतोभावेन ज्ञेय है। वह समस्त सिद्धियों को देने में समर्थ है। विचक्षण योगी स्वप्न की वृत्ति अपना ले। संसार को स्वप्न की तरह मान कर अपनी यात्रा को गति प्रदान करे। जहाँ वह जा रहा हो, उस दिशा में अग्रसर होकर चलता रहे ॥ ३६ ॥

चलते-चलते मध्य धाम में अपने को थोड़ा सा रोके। इस साधना को मध्य-निरोध कहते हैं। यह साधना का आवश्यक मर्म है। इसे ज्ञानवान् गुरु से सीखना चाहिये। इसका एक संकेत देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। जैसे—आप साँस लेते हैं। साँस पूरी लीजिये। उदर भर लीजिये। इस तरह वह नाभि केन्द्र में रुक जाती है। उसे 'सो' मान लीजिये। अब वहाँ से धीरे-धीरे अङ्कुर की तरह ऊपर जाने दीजिये और उसी साँस के साथ चलते रहिये। वह बाहर आयेगी। इसकी दूरी ३६ अङ्गुल होती है। नाक से १२ अङ्गुल पर वह विलीन होती है। वह श्वासलीनता का एक केन्द्र बिन्दु है। उसे 'ह' बिन्दु मान लीजिये। इन्हीं दोनों बिन्दुओं में 'सोहं' का अजपा जाप चलता है। आप गणित कर जान जायेंगे।

---

१. क० पु० उत्पत्तिस्थानमिति पाठः ।

तदेव परमं तत्त्वं तस्माज्जातमिदं जगत् ।
स एव मन्त्रदेहस्तु सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ३८ ॥
तेनैवालिङ्गिता मन्त्राः सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।
ईषद्व्यावृत्तवर्णस्तु हेयोपादेयवर्जितः ॥ ३९ ॥
यां संवित्तिमवाप्नोति शिवतत्त्वं यदुच्यते ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्वन्सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ॥ ४० ॥

नाभि से १८ अङ्गुल ऊपर १८वें अङ्गुल पर थोड़ी देर ठहर कर आनन्द लीजिये। यह एक उदाहरण है।

इसे ज्ञानवान् गुरु से सीखें। स्वयम् अभ्यास करें। यह आवश्यक योग है। वहाँ चिच्छक्ति का चमत्कारमय अभिराम विराम अनुभूत होगा। वहीं 'चित्' शक्तितत्व का दर्शन भी होता है। वहाँ अखण्ड मात्रा में अवस्थित उस तुटि अर्थात् सौभाग्यशाली क्षण का अनुभव होगा, जिसमें चित्तत्व का समग्र दर्शन होता है ॥ ३७ ॥

वही परम तत्त्व है, 'चित्' एक संज्ञा है परमेश्वर की। वही सत् है। वही चित् है। वही आनन्द है। वही इस जगत् का मूल हेतु है। उसी से यह निष्पन्न होता है। वही मन्त्र का शरीर है। यही सिद्धयोगेश्वरीमत रूपमालिनी विजयोत्तर तन्त्र का सिद्धान्त है, यह ध्यातव्य है कि सिद्धयोगीश्वरीमत ही मालिनीविजयोत्तर तन्त्र है[1] ॥ ३८ ॥

चित् में चिति शक्ति के चैतन्य का चमत्कार है। उसी से सारे मन्त्र आलिङ्गित हैं। आलिङ्गित मन्त्र ही समस्त सिद्धि समुदाय के मुख्य हेतु हैं। कोई विरला साधक ही ऐसा होता है, जो 'वर्ण' रूप मातृका के दिव्य विखर-विग्रह से व्यावृत्त हो पाता है। उससे अलग केवल चिन्तन के स्तर पर पहुँचने वाला साधक ही हेयोपादेय विज्ञान के स्तर को पार कर पाता है। यह साधना का उच्चतम स्तर माना जाता है ॥ ३९ ॥

ऐसा साधक जिस संवित्ति अर्थात् संवित्सामरस्यमयी चेतना का साक्षात्कार कर लेता है, वह निश्चित ही शैव महाभाव का ही साक्षात्कार माना जाता है। ज्ञानवान् योगी इसी संवित्सामरस्य-रस में डुबकी लगाता है। उसी में चित को स्थिर कर लेता है और गीता के शब्दों में 'स्थितप्रज्ञ' बन जाता है। उसे सर्वज्ञता स्वयं वरण करती है। वह सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ४० ॥

---

1. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् अधिकार १ श्लोक १६

तत्रैव दिव्यचिह्नानि पश्यते च न संशयः ।
यत्रैव कुत्रचिद्गात्रे विकार उपजायते ।। ४१ ।।

संकल्पपूर्वको देवि तत्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम् ।
तदभ्यसेन्महायोगी सर्वज्ञत्वजिगीषया ।। ४२ ।।

प्राप्नोति परमं स्थानं भुक्त्वा सिद्धि यथेप्सिताम् ।
गन्धपुष्पादिभिर्योगी नित्यमात्मानमादरात् ।। ४३ ।।

ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशे तु पूजयेद्भावतोऽपि वा ।
द्रवद्द्रव्यसमायोगात्स्नपनं[1] तस्य जायते ।। ४४ ।।

उस स्तर पर विलक्षण दिव्य लक्षण परिलक्षित होते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर में जहाँ कहीं भी, किसी अङ्ग प्रत्यङ्ग में जैसा भी कुछ विकार उत्पन्न होता है, या दीख पड़ता है, उससे चिन्तित होने की कोई बात नहीं होती[2] ॥ ४१ ॥

उसमें संकल्प पूर्वता पर विचार करना चाहिये। क्या कभी योगी के मन में उस प्रकार की बात उठी थी ? भगवान् कहते हैं कि, वह किसी तत्त्व का ही स्वरूप है और वह उत्तम तत्त्व है। इसी में उसकी उपेक्षा कर उसे सर्वज्ञता के उद्वलन की साधना में ही संलग्न रहना चाहिये ॥ ४२ ॥

ऐसा योगी सिद्धियों की सोपान-परम्परा को प्राप्त करता हुआ परम गन्तव्य को अधिगत कर लेता है। जो चाहता है, उसे वही मिलता है। अब वह साक्षात् भैरवसद्भाव में अधिष्ठित हो जाता है। उसे स्वात्म शिव की पूजा आदर पूर्वक करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

अपने ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश में स्वयं पुष्प आदि अर्पित कर पूजा की कृतार्थता को चरितार्थ करना चाहिये। वहाँ शैव महाभाव से भावित रहकर स्वात्म का अर्चन स्वयं करना श्रेयस्कर माना जाता है। इसका प्रदर्शन नहीं होना चाहिये। यह एकान्त उपासना मानी जाती है। जो योगी इस प्रकार की उपासना करता है, वह सहस्रार के सोम तत्त्व के अमृतद्रव से स्वयम् अभिषिक्त होता रहता है। उसका यह स्नपन शैव अभिषेक के समान माना जाता है ॥ ४४ ॥

---

१. क॰ पु॰ द्रव्याद्रव्येति ।
२. श्रीत॰ ७।६४-६५

गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं मतम् ।
षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रकल्पते ॥ ४५ ॥
यमेवोच्चारयेद्वर्णं स जपः परिकीर्तितः ।
तत्र चेतः समाधाय दह्यमानस्य वस्तुनः ॥ ४६ ॥
ज्वालान्तस्तिष्ठते यावत्तावद्धोमः[1] कृतो भवेत् ।
यदेव पश्यते रूपं तदेव ध्यानमिष्यते ॥ ४७ ॥
प्रसङ्गादिदमुद्दिष्टमद्वैतयजनं महत् ।
[2]उदयार्कसमाभासमूर्ध्वद्वारे मनः स्थिरम् ॥ ४८ ॥

उसके सम्बन्ध को, उसके व्यवहार की सारी बातों में याज्ञिकता का ही प्रवर्त्तन होता है। जैसे यदि वह शैवसद्भाव में गन्ध ग्रहण करता है, पुष्प स्वीकार करता है, चन्दनादि उपलेपमय गन्ध से संसिक्त होता है, तो उसमें उसका यज्ञ रूप ही प्रतिफलित होता है। भोजन के क्रम में यदि वह षट्रस से स्वादिष्ट रसवत् पक्व अशनीय का आस्वादन करता है, तो वही भगवत्-समर्पण योग्य नैवेद्य सिद्ध हो जाता है। अर्थात् उसका अशन और वसन एवं व्यवहरण सब कुछ भगवदर्थ निवेदित हो जाता है ॥ ४५ ॥

वह जो कुछ बोलता है, वही उसका जप होता है। ऐसे उच्चस्तरीय योगी का सारा व्यवहार ही परमेश्वर के लिये सम्पन्न होता है। उसी चिन्मय भाव में चित्त को समाहित करना चाहिये। ऐसा योगी 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का प्रतीक होता है। उसके ज्योतिर्मय तेज से सारे कलुष कर्मकलङ्क दग्ध हो जाते हैं। सारे दह्यमान पापों और अशुभ के प्रतीक कर्मविपाक जब तक जलते रहते हैं, और जलने के बाद जब तक ज्वाला कण शेष रहते हैं, वह उसके होम के रूप में ही सम्पन्न कर्म माने जाते हैं। वह जिस रूप का दर्शन करता है, वही ध्यान माना जाता है ॥ ४६-४७ ॥

भगवान् भूतभावन परमेश्वर शिव कहते हैं, हे देवि ! पार्वति ! यह प्रसङ्गवश मैंने अद्वैत यजन रूप आध्यात्मिक यज्ञ विषय के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, यह अत्यन्त गम्भीर विषय है। योगी वही है, जो इस स्तरीयता को प्राप्त कर लेता है। वास्तव में योगी ऊर्ध्वद्वार रूप समना में उदय-कालीन सूर्य की रक्ताभ रश्मिमाला की लालिमा से मन को समाहित करे। यह उसकी योगपारङ्गत अवस्था का प्रमाण है ॥ ४८ ॥

१. ग० पु० तावद्धूम इति पाठः। २. क० पु० समाभ्यासेति पाठः।

हृदि वा तत्तथा कुर्याद् द्वादशान्तेऽथ वाप्नुयात् ।
ततो मासार्धमात्रेण तद्रूपमुपलभ्यते ॥ ४९ ॥

उपलब्धं तदभ्यस्य सर्वज्ञत्वाय कल्पते ।
वस्त्रेण मुखमाच्छाद्य योगी लक्ष्ये नियोजयेत् ॥ ५० ॥

नाभिकन्दादधस्तात्तु यावत्तत्त्वं शिखावधि ।
सूक्ष्मतारकसंकाशं रश्मिज्वालाकरालितम् ॥ ५१ ॥

प्राणशक्त्यवसाने तु पश्यते रूपमात्मनः ।
तदेवाभ्यसतो देवि विकासमुपगच्छति ॥ ५२ ॥

यह भी हो सकता है कि, हृदय केन्द्र में ही वह अपने मन को समाहित करने में सफल सिद्धयोगीश्वरीमत की स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर ले, अथवा द्वादशान्त केन्द्र में समाहित होने की प्रक्रिया को पार कर ले। यह उसकी सिद्धि का आधार है। वह मात्र १५ दिन में ही परमेश्वर रूपता को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है ॥ ४९ ॥

उस तद्रूपता को उपलब्ध अवस्था का निरन्तर अभ्यास भी अत्यन्त आवश्यक होता है। इसका सुपरिणाम यह होता है कि, योगी सर्वज्ञ हो जाता है। इस विद्या को किसी सच्चे शिष्य को देना हो, तो पहले तो उसे भूमिका के रूप में अभ्यास कराना चाहिये। अन्त में उसका मुख वस्त्र से ढक कर उसे लक्ष्य में नियोजित करने की दीक्षा देनी चाहिये ॥ ५० ॥

नाभि, स्वाधिष्ठान और उसके नीचे के अङ्ग कन्द इन तीनों के नीचे मूलाधार चक्र है। इस मूल चक्र से दण्डाकार होकर सुषुम्ना मार्ग से शिखा तक ऊर्ध्वग आकार में जो प्राण-तत्त्व व्याप्त होता है उसमें सूक्ष्म तारक सदृश चमक वाले तेज का प्रकल्पन और तैजसिक कणों के समान अग्निविप्रुष् बरसते रहते हैं। उससे किरणों के समान ज्वालामयी लपटें फूटती रहती हैं। यह सभी साधना की पराकाष्ठा में होता है ॥ ५१ ॥

जहाँ प्राण शक्ति का अवसान होता है, वहाँ चित्त स्थिर करने पर चमत्कार घटित होता है। वहाँ स्वात्म-साक्षात्कार होता है। इसका प्रभाव यह होता है कि, यहाँ सर्वविध विकास हो जाता है ॥ ५२ ॥

तन्मुखं सर्वमन्त्राणां सर्वतन्त्रेषु पठ्यते ।
ततोऽस्य मासमात्रेण काचित्संवित्तिरिष्यते ॥ ५३ ॥

यतः सर्वं विजानाति हृदये संव्यवस्थितम् ।
तां ज्ञात्वा कस्यचिद्योगी न सम्यक्प्रतिपादयेत् ॥ ५४ ॥

अध्यायात्कथनं कुर्यान्नाकाले मृत्युमाप्नुयात् ।
मृतोऽपि श्वभ्रसंघाते क्रमेण परिपच्यते ॥ ५५ ॥

एवं ज्ञात्वा महादेवि स्वाहितं समुपार्जयेत् ।
शिष्योऽप्यन्यायतो गृह्णन्नरकं प्रतिपद्यते ॥ ५६ ॥

समस्त तन्त्रों में यह बात प्रतिपादित की गयी है कि प्राणशक्ति के अवसान में जिस तत्त्व का दर्शन होता है, वह सभी मन्त्रों का मुख माना जाता है। इस तत्त्व-दर्शन का अनवरत अभ्यास आवश्यक है। लगातार एक मास तकही यदि योगी अभ्यास करता है, तो उसे एक नये प्रकार की कोई ऐसी संवित्ति होती है, जिससे वह कृतार्थता की अनुभूति से भर जाता है ॥ ५३ ॥

इस संवित्ति का एक सुपरिणाम यह भी होता है कि, हृदय में केन्द्रित रहकर ही सर्वज्ञता का वरदान पा जाता है। उससे कुछ बिना जाने नहीं बचता अर्थात् सब कुछ जान जाता है। वह संवित्ति ही ऐसी होती है जिसको सामान्य योगी जान भी नहीं पाता, उसका प्रतिपादन तो कोई सामान्य योगी कर भी नहीं सकता है, यह निश्चित है ॥ ५४ ॥

अध्याय वह समय होता है, जो अपने पढ़ने के लिये निर्धारित रहता है। योगी या ज्ञानवान् पुरुष विना समय के बावदूकता न करे। स्वाध्याय समय पर ही व्याख्या करे। इस तरह के आचरण से वह अकाल मृत्यु नहीं प्राप्त करता। योगी के लिये यह आचरणीय नियम हैं। ऐसा ही आचरण करना श्रेयस्कर है।

मृत्यु के उपरान्त योगी अपनी साधना के बल पर अपने शरीर के स्वर्भाग में विद्यमान छह प्रकार के आकाश रूप विवरों में जो उसे सिद्धि प्राप्त थी, उन्हीं के सहारे समस्त चिदाकाश के चैतन्यात्मक आकाशीय छिद्रों में पकता हुआ मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! ये सारी बातें यों तो सामान्यतः सबके लिये है किन्तु योगमार्ग के पथिकों को विशेष रूप से जानना चाहिये। इन बातों को जानने के बाद उसे यह विचार करना चाहिये कि, हमारा हित किस तरह सिद्ध हो सकता है। श्रेय का साधन ही सर्वथा हितकर होता है।

न च तत्कालमाप्नोति वचस्त्ववितथं मम ।
न्यायेन ज्ञानमासाद्य पश्चान्न प्रतिपद्यते ॥ ५७ ॥

तदा तस्य प्रकुर्वीत विज्ञानापहृतिं बुधः ।
ध्यात्वा तमग्रतः स्थाप्य स्वरूपेणैव योगवित् ॥ ५८ ॥

षड्विधं विन्यसेन्मार्गं तस्य देहे पुरोक्तवत् ।
ततस्तं दीपमालोक्य तदङ्गुष्ठाग्रतः क्रमात् ॥ ५९ ॥

शिष्य ग्राहक होता है। उसमें ग्राहिका शक्ति होती है। उसी से गुरु-प्रदत्त ज्ञान का ग्रहण होता है। इसमें भी न्याय पूर्वक ग्रहण उत्तम माना जाता है। न्याय पथ के विपरीत अन्याय पथ होता है। अन्याय पूर्वक ग्रहण से नरक होता हैं। नरक पाप का परिणाम होता है। इस तरह हमारा अर्थात् शिष्य का यह कर्त्तव्य होता है कि, वह सारे आचरण न्याय पूर्वक करे ॥ ५६ ॥

देवि ! मेरे वचन ध्रुव सत्य हैं। इसमें असत्य के लिये अवकाश नहीं है। कभी भी यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि, ये तत्काल फलित नहीं हैं। ये तत्काल फल प्रदान करते हैं। इसलिये न्याय पूर्वक सद्भावपूर्ण भाव से ही ज्ञान का अर्जन करना चाहिये। ऐसा करने से फिर बाद में भी कोई कुफल नहीं होता ॥ ५७ ॥

शिष्य यदि न्याय पूर्वक ज्ञान का अर्जन न कर गुरु को धोखा देकर छल से दीक्षा आदि के माध्यम से विज्ञान ग्रहण कर ले, अथवा शास्त्र आदि का भी छल पूर्वक ज्ञान प्राप्त करे, उस अवस्था में विचक्षण ज्ञानवान् गुरु का यह कर्त्तव्य है कि, वह शिष्य को दिये ज्ञान का अपहरण कर ले। विज्ञानापहरण के विज्ञान को सभी शास्त्र विज्ञानापहृति विद्या कहते हैं। श्रीतन्त्रालोक नामक महान् आगम ग्रन्थ में भगवान् अभिनव ने इसका विशद और विस्तार पूर्वक वर्णन किया है[1]। साथ ही यह भी कहा है कि, ऐसा छली शिष्य भी गुरु द्वारा अनुग्राह्य[2] है ॥ ५८ ॥

द्वादशान्त तक अङ्गुष्ठाग्र से उस विज्ञान को ले जाकर और ज्ञान देकर शिष्य को विद्या दी गयी थी। अब उसके शरीर में पहले की तरह षड्विध चक्रात्मक मार्ग के साथ ही वोढा न्यास आदि के माध्यम से इस विद्या को

---

१. श्रीतन्त्रालोक २३।४९-६४ ;
२. तदेव श्लोक ६५

नयेत्तेजः समाहृत्य द्वादशान्तमनन्यधीः ।
ततस्तं तत्र संचिन्त्य शिवेनैकत्वमागतम् ।। ६० ।।

तत्र ध्यायेत्तमोरूपं तिरोभावनशीलनम् ।
पतन्तीं तेन मार्गेण ह्यङ्गुष्ठाग्रान्तमागताम् ।। ६१ ।।

सबाह्याभ्यन्तरं ध्यायेन्निविडाञ्जनसप्रभाम् ।
अनेन विधिना तस्य मूढबुद्धेर्दुरात्मनः ।। ६२ ।।

विज्ञानमन्त्रविद्याद्या न कुर्वन्त्युपकारिताम् ।
चित्ताभिसन्धिमात्रेण ह्यदृष्टस्यापि जायते ।। ६३ ।।

ऊर्जा को दीप की तरह शिखावान् बना देना चाहिये। गुरु स्वयम् प्रकाशप्रद है। उसको इस तरह दीप का रूप देना चाहिये। इस प्रक्रिया को उसके अङ्गुष्ठ के अग्रभाग से शुरू करना चाहिये ॥ ५९ ॥

अङ्गुष्ठाग्र से उसके तेज को आनन्द भाव से उसके द्वादशान्त तक ले जाना चाहिये। इसके बाद गुरुदेव यह जान लेता है कि, इसका तेज द्वादशान्त तक आ गया है। अब वह यह भी अनुभव करता है कि, यह शिव से तादात्म्य स्थापित कर चुका है ॥ ६० ॥

उसी ऐक्यापन्न शिष्य को अब गुरुदेव एक तमसाच्छन्न तमोरूप कृष्णवर्णी मूर्त्ति रूप में अवस्थित अनुभव करे। अब वह तिरोभावन शील हो रहा है। गुरु जब से उसकी ओर से मन फेर लेते हैं, वह शिष्य तिरोहित हो जाता है। उसे ही तिरोभावन शील लिखा गया है। तिरोधान एक प्रकार का पतन माना जाता है। इस दशा में उसकी ऊर्जा भी पतनोन्मुखी हो जाती है। द्वादशान्त से नीचे की ओर सरक कर अंगूठे के अगले हिस्से में आ जाती है ॥ ६१ ॥

गुरुदेव प्रदत्त ऊर्जा उससे तिरोहित हो रही है। अब वह घोर कृष्णवर्णी अञ्जन की काली आभा वाली हो रही है। अब इस विधि की पूर्णता का परिणाम क्या होता है—यह देखना है ॥ ६२ ॥

विज्ञानमयी मन्त्र विद्या इतनी महनीय विद्या है कि, उनका बदला किसी दशा में नहीं दिया जा सकता। उसकी उपकारिता का प्रकल्पन नहीं हो सकता। गुरुदेव द्वारा चित्ताभिसन्धि के माध्यम से अदृष्ट में भी गुरु द्वारा शक्तिपात किया जा सकता है, यह गुरु की अप्रकल्प्य शक्ति का स्वरूप है ॥ ६३ ॥

कथंचिदुपलब्धस्य नित्यमेवापकारिणः ।
अथवा सूर्यबिम्बाभं ध्यात्वा विच्छेद्यमग्रतः ॥ ६४ ॥

वर्भानुरूपतया शक्त्या ग्रस्तं तमनुचिन्तयेत् ।
अपराधसहस्रैस्तु कोपेन महतान्वितः ॥ ६५ ॥

विधिमेनं प्रकुर्वीत क्रीडार्थं न तु जातुचित् ।
अनेन विधिना भ्रष्टो विज्ञानादपरेण च ॥ ६६ ॥

अनुपकारी अर्थात् अपने अनाचरण से शास्त्र और आप्त वचनों के विपरीत आचरण से सम्प्रदाय की, गुरु परम्परा की और आदर्श की मर्यादाओं को तोड़कर आध्यात्मिक हानि करने वाले ऐसे छली शिष्य के किसी तरह सम्पर्क हो जाने पर गुरु को सावधान हो जाना चाहिये ।

उस पर गुरु प्रदत्त विज्ञान का जो कुछ भी प्रभाव रहता है, उस विज्ञान मयता को सूर्य बिम्ब के समान भक्ति करे और पुनः उस विज्ञान बिम्ब को तुरत उससे विच्छिन्न कर दे । यह भी विज्ञानापहृति का एक प्रकार है ॥ ६४ ॥

एक तीसरी प्रक्रिया भी विज्ञानापहृति की होती है । इसके अनुसार जैसे सूर्य और सोम को सैंहिकेय राहु ग्रस्त कर लेता है, उसी तरह उसको भी स्वर्भानु की तरह ग्रस्त कर उसके विज्ञान प्रकाश पर खग्रास की स्थिति पैदा कर दे। इस तरह उसे राहुग्रस्त रूप में देखे । यह राहु दूसरा कुछ नहीं, गुरुदेव की क्रुद्ध दृष्टि का प्रभाव होता है । वही उसे राहु की तरह ग्रस्त करती है। इस क्रोध का कारण उस छल और अमर्यादित आचार वाले शिष्य के सहस्राधिक अपराध होते हैं। गुरु का क्रोध ही राहु बन कर उसे ग्रस्त कर लेता है। ऐसे शिष्य की दुर्भाग्य की विजृम्भा उसे स्वयं भ्रष्ट कर देती है ॥ ६५ ॥

भगवान् कहते हैं, यह मात्र विज्ञानापहृति के उद्देश्य से की जाने वाली विधि है । अक्षम्य अपराधों से बाध्य होकर ही यह विधि अपनायी जानी चाहिये । इसे मनोरञ्जन का विषय बनाकर शास्त्र के साथ खिलवाड़ नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह भयङ्कर दण्ड है । दण्ड का प्रयोग सामान्य व्यावहारिक भूल के लिये नहीं होना चाहिये । एक बार विज्ञानापहरण के दण्ड से दण्डित शिष्य किसी दूसरे विज्ञान के प्रयोग से बचाया नहीं जा सकता ॥ ६६ ॥

न शक्यो योजितुं भूयो यावत्तेनैव नोद्धृतः ।
करुणाकृष्टचित्तस्तु तस्य कृत्वा विशोधनम् ॥ ६७ ॥

प्राणायामादिभिस्तीव्रैः प्रायश्चित्तैर्विधिश्रुतैः ।
ततस्तस्य प्रकुर्वीत दीक्षां पूर्वोक्तवर्त्मना ॥ ६८ ॥

ततः सर्वमवाप्नोति फलं तस्मादनन्यधीः ।
एवं ज्ञात्वा प्रयत्नेन गुरुमासादयेत्सुधीः ॥ ६९ ॥

यतः संतोष उत्पन्नः शिवज्ञानामृतात्मकः ।
न तस्यान्वेषयेद्वृत्तं शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ ७० ॥

शरण में आने पर वही गुरु उसकी रक्षा कर सकता है, जिससे विज्ञान का अपहरण किया है। दूसरे द्वारा कभी भी वह उपासना के इस मार्ग में नियोजित नहीं किया जा सकता। गुरुदेव परम कारुणिक होते हैं। उनके शरण में आ पड़े और अपने अपराधों को स्वीकार कर प्रायश्चित्त कर ले, तो उसका विज्ञान-शोधन कर उद्धार किया जा सकता है ॥ ६७ ॥

विधि द्वारा और आनुशासनिक समयानुपालन रूप और प्राणायामादि पापनिवारक तीव्र प्रायश्चित्त द्वारा उसका विशोधन करने की आज्ञा शास्त्र देते हैं। इतनी प्रक्रिया पूरी करने के उपरान्त गुरु द्वारा सन्तोष व्यक्त करने के उपरान्त पूर्व निर्धारित विधि द्वारा उसे पुनः दीक्षा दी जाय। यह भगवान् के वचन हैं। प्रकुर्वीत क्रिया का 'प्र' उपसर्ग उस पर विशेष बल दे रहा है ॥ ६८ ॥

इतना सब कुछ करने पर, प्रायश्चित्त वैतरणी पार करने पर शिष्य की बुद्धि ठिकाने पर यदि आ जाय और वह अनन्य भाव से गुरु शरण में श्रद्धा पूर्वक आ जाय, तो उसके उत्कर्ष के द्वार खुल जाते हैं। वह शास्त्र प्रतिपादित समस्त फलों को यथावत् प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं। यह जानकर अनन्य भाव से गुरु को शरण में आवे। आत्मोन्नति के उद्देश्य से इस दिशा में प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्त रहे ॥ ६९ ॥

शिष्य के हृदय में शिवभक्ति योग और तादात्म्य विज्ञान की सुधा का सामरस्य अब अनुभूत हो रहा है। यह जानकर गुरु के मन में एक आनन्दप्रद सन्तोष उत्पन्न हो जाता है। अब उसके पूर्ववृत्त (चरित्र) की बातों के स्मरण

स एव तद्विजानाति युक्तं वायुक्तमेव वा ।
अकार्येषु यदा सक्तः प्राणद्रव्यापहारिषु ॥ ७१ ॥
तदा निवारणीयोऽसौ प्रणतेन विपश्चिता ।
तेनातिवार्यमाणोऽपि यद्यसौ न निवर्तते ॥ ७२ ॥

तदान्यत्र क्वचिद्गत्वा शिवमेवानुचिन्तयेत् ।
एष योगविधिः प्रोक्तः समासाद्योगिनां हितः ॥ ७३ ॥

नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादिविचारणम् ।
न द्वैतं चापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च ॥ ७४ ॥

की आवश्यकता नहीं रहती ! न हो उसका अन्वेषण करना चाहिये कि, उसने विगत समय में क्या अच्छे और क्या बुरे कार्य किये थे ॥ ७० ॥

यह बात गुरु से अधिक कौन जान सकता है ? वही इसका प्रमाण है कि, शिष्य शुभ कर रहा है या अशुभ ? वह युक्त है या अयुक्त ? यदि प्राण हरण में प्रवृत्त है, द्रव्य के अपहरण में भी युक्त है, अथवा ऐसे ही अन्यर्थकारी कार्यों में लगा हुआ है, इस सबकी जानकारी गुरु को हो जाती है। गुरु से कुछ भी छिपा नहीं रहता ॥ ७१ ॥

इस तरह की किसी विरोधी-अविरोधी सूचना पर गुरु को सावधान हो जाना चाहिये। वह सब कैसे न हो, यह सोचना चाहिये। वह स्वयं बुद्धिमान् और समय पर उचित कार्य करने का विशेषज्ञ होता है। उसका यह कर्त्तव्य है कि, समय रहते शिष्य को उत्पथ में प्रवृत्त होने से रोके। अपनी विनम्रता से शिष्य की भावनाओं को जीत ले। इस प्रकार गुरु द्वारा निवारित करने पर भी यदि वह नहीं रुकता है और अपनी दुष्प्रवृत्ति से बाज नहीं आता तो भी निराश होने को कोई बात नहीं ॥ ७२ ॥

इस बात के लिये भगवान् की प्रार्थना करनी चाहिये। इसके लिये कोई एकान्त स्थान चुनना चाहिये[1]। यह संक्षेप में योग मार्ग के पथिकों की जानकारी के उद्देश्य से कहे गये वचन हैं। ये विधि रूप में स्वीकार करने योग्य हैं ॥ ७३ ॥

इस शास्त्र को इस लिये भी महत्त्व दिया जाता है कि, इसमें शुद्धि-अशुद्धि की संकीर्ण विचार धारा से ऊपर उठने की प्रक्रिया सिखायी जाती है। भक्ष्य और

---

१. श्रीतन्त्रालोक २३।८७

न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ।
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ॥ ७५ ॥

तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ।
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ॥ ७६ ॥

परस्वरूपलिङ्गादि[1] नामगोत्रादिकं च यत् ।
नास्मिन्विधीयते किंचिन्न चापि प्रतिषिध्यते ॥ ७७ ॥

अभक्ष्य अपनी प्रवृत्ति पर निर्भर है। इनकी शास्त्रीय विषयों में कोई महत्ता नहीं है। द्वैत और अद्वैत में फसने की इसमें कोई आवश्यकता नहीं। लिङ्ग पूजा या किसी और पूजा की परिग्रह और अपरिग्रह भावना पर कोई बल नहीं दिया गया है ॥ ७४ ॥

'क्या छोड़ना चाहिये, क्या ग्रहण करना चाहिये' आदि प्रवृत्तियों से सम्बद्ध परिग्रह और अपरिग्रह की बातों पर जोर देने वाला यह शास्त्र नहीं। साम्प्रदायिक संकीर्ण भावना इस शास्त्र के लिये कोई महत्त्व नहीं रखती। शास्त्र के स्वाध्याय में रत, शक्ति विशेषज्ञ उपासक को इन प्रपंचों से क्या लेना देना ? कौन जटा धारण करे, कौन भस्म लगाये और कौन इनका संग्रह करे, ये तथ्य इस शास्त्र के लिये उपयोगी नहीं है ॥ ७५ ॥

व्रतों का आचरण करना या न करना, उनका त्याग करना या ग्रहण करना, किस क्षेत्र में कब कैसे प्रवेश और साम्प्रदायिक समयों का अनुपालन यह सब तटस्थ योगी के लिये महत्त्वहीन विषय हैं। अतः वे यहाँ व्यर्थ नहीं बनाये गये हैं ॥ ७६ ॥

दूसरों द्वारा उपास्य स्वरूप कैसे हैं, वे किस लिङ्ग की पूजा करते या नहीं करते हैं ? किसके क्या नाम हों ? किसके कौन गोत्र हैं ? इन विषयों का विधान इस शास्त्र का प्रतिपाद्य नहीं है। न तो इनके विधान की विधि और न ही इनका निषेध ही यहाँ वर्णित है ॥ ७७ ॥

---

१. क० पु० परलिङ्गस्वरूपादीति पाठः ।

विहितं सर्वमेवात्र[1] प्रतिषिद्धमथापि वा ।
किन्त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ॥ ७८ ॥

तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रयत्नेन योगिना ।
तच्च यस्य तथैव स्यात्स तथैव समाचरेत् ॥ ७९ ॥

तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ।
न संस्पृश्येत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८० ॥

इस शास्त्र को इन विधियों के विधि-निषेध की दृष्टि से महत्त्व नहीं दिया जाता। यहाँ जो भी विहित है या प्रतिषिद्ध है, वह हे देवेश्वरी पार्वती! एक ही नियम से निहित है और वह नियम कुछ दूसरा नहीं, मात्र यह वही है, जिसके द्वारा चित्त तत्त्व में स्थिर हो सके। योगी का यही पावन कर्त्तव्य है कि, वह येन केन प्रकारेण मन को परमतत्त्व परमेश्वर में स्थिर भाव से समाहित और निहित करे। इस श्लोक का सुप्रयत्न शब्द सु और प्र दो उपसर्गों से विशिष्ट अर्थ का द्योतन कर रहा है। 'सु' से सुन्दरता, सौष्ठव और सम्यक् विनम्र आकर्षण— ये सभी भाव गृहीत होते हैं। योगी के व्यवहार में ये सभी निहित रहना चाहिये। 'प्र' उपसर्ग योगी के विशेष अध्यवसाय की सूचना दे रहा है। इस प्रकार योग मार्ग के पथिक का आचरण सुप्रयत्न की कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक है। भगवान् यह घोषणा कर रहे हैं कि, यह महान् लक्ष्य जिस किसी भी साधना से पूरा किया जा सके, इसे पाया जा सके, वही करना चाहिये। वही आचरण करना चाहिये, जिससे परमेश्वर में मन मिल जाय ॥ ७८-७९ ॥

जिस योगी का मन तत्त्व भाव में निश्चलता पूर्वक स्थिर हो जाता है, वह विधि—निषेध से ऊपर उठ जाता है। वह क्या खा रहा है, क्या पी रहा है, शुद्ध है या अशुद्ध है, जटी है या मुण्डी है—ये सारे प्रश्न महत्त्वहीन हो जाते हैं। वह सभी विषयों का उपभोग करते हुए भी नहीं करता है। तटस्थ और साक्षी भाव में जीता है। पद्मपत्र के जल की तरह वह विषयों से अलग रहता है ॥ ८० ॥

---

१. क० पु० सर्वमेवेदमिति पाठः ।

विषापहारिमन्त्रादिसंनद्धो[1] भक्षयन्नपि ।
विषं न मुह्यते तद्वद्योगी महामतिः ॥ ८१ ॥
इत्येतत्कथितं देवि किमन्यत्परिपृच्छसि ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे परमविद्याधिकारो
नामाष्टादशोऽधिकारः ॥ १८ ॥

एक पुरुष जहर को मारने की दवा का विशेषज्ञ है, और सदा उसे पास रखता है, अथवा विष को उतार कर निरस्त करने वाले मन्त्र को ग्रहण-आदि में सिद्ध कर चुका है, उसे सभी लोग विषापहारो मन्त्रादि सन्नद्ध कहते हैं। वह लोगों को चमत्कृत करने के लिये जहर सबके सामने खा लेता है। सभी इससे चकित रह जाते हैं। उस पर जहर काम नहीं करता क्योंकि वह उसकी दवा भी रखता है और मन्त्र का प्रयोग भी कर लेता है। विष उसे मुग्ध नहीं करता। उसी प्रकार योगी भी संसार विष से प्रभावित नहीं होता। उसके पास तत्त्व भाव में सुस्थिर रहने का महामन्त्र होता है। भगवान् कहते है कि देवि! मैंने तुम्हारे परिप्रश्न से प्रभावित होकर इतनी सारी बातें तुम्हें सुनाकर भी प्रसन्न हूँ। श्रोता यदि सन्नद्ध रहे तो वक्ता भी प्रोत्साहित रहता है। बताओ तुम्हें और क्या सुनने को समीहा है। परिपृच्छसि में वर्तमान काल है। इसका तात्पर्य है—तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तत्काल देने को मैं अभी तत्पर हूँ, पूछो, क्या पूछ रही हो ? ॥ ८१ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
परमविद्याधिकार नामक अठारहवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १८ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥



---

१. ख० पु० तं० च मन्त्राविसंयुक्त इति पाठः ।

अथ एकोनविंशोऽधिकारः

अथैनं परमं योगविधिमाकर्ण्य शाङ्करी ।
पुनराह प्रसन्नास्या प्रणिपत्य जगद्गुरुम् ॥ १ ॥
साध्यत्वेन श्रुता देव भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।
विद्यात्रयं सविद्याङ्गं विधिवच्चावधारितम् ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतं ज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्र 'हंस' कृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्य संवलितम्

एकोनविंशोऽधिकारः

[१९]

परमेश्वर शिव द्वारा वर्णित इस परमयोग प्रक्रिया का श्रवण कर भगवान् की शक्तिरूपिणी देवी शाङ्करी अत्यन्त प्रसन्न हो उठीं । उनका मुखारविन्द प्रसन्नता से खिल उठा । उन्होंने विनम्रता से प्रणति पूर्वक यह निवेदन किया । उनका यह निवेदन जगत् के उद्धारक परम गुरु परमेश्वर के चरणों में अर्पित था । उन्होंने कहा ॥ १ ॥

देवेश्वर मेरी स्मृति में इस समय एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात अङ्कुरित हो रही है । मैंने आप से ही सुना था कि, यह विद्या नितान्त साधनीय है । उस विद्या का नाम 'मालिनी' है । इसे भिन्न योनि भी कहते[1] है । मैंने उसी समय अपरा, परा और परापरा नामक तीन[2] विद्याओं को भी आप से ही सुना था । इन विद्याओं के अङ्गों के विषय में भी आपने अच्छी तरह बताया था ।[3] मैंने विधि पूर्वक उन्हें अवधारित भी किया था ॥ २ ॥

---

१. श्रीमा० वि० अधिकार ३।३१-४१,४।११-१७ ।

२. तदेव अ० ४।१८; ३. तदेव अधि० ४।१० ।

अधुना श्रोतुमिच्छामि ह्यभिन्ना साध्यते कथम् ।
हिताय साधकेन्द्राणां प्रसादाद्वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

एवमुक्तो महेशान्या जगतां पतिरादरात् ।
विकसद्वदनाम्भोजः प्रत्युवाच वचोऽमृतम् ॥ ४ ॥

आरिराधयिषुः शम्भुं कुलोक्तविधिना बुधः ।
कुलचक्रं यजेदादौ बुधो दीक्षोक्तवर्त्मना ॥ ५ ॥

ततो जपेत्परां शक्तिं लक्षमेकमखण्डितम् ।
पराबीजपुटान्तःस्थां न द्रुतां न विलम्बिताम् ॥ ६ ॥

भगवन् ! इस समय उसी सन्दर्भ में मेरी इच्छा हो रही है कि, वह विद्या जिसे आपने 'अभिन्ना' संज्ञा से विभूषित किया था, उसे कैसे साधा जा सकता है, यह भी आप से सुनकर गुन सकँ। यह विद्या साधक शिरोमणि योगिवर्यों के लिये अत्यन्त हितावह है। भगवन् ! प्रसन्नता के पवित्र वातावरण में उसे सुनाकर अनुगृहीत करें ॥ ३ ॥

इस प्रकार अत्यन्त आदर और श्रद्धा पूर्वक पार्वती ने जगत्पति जगदीश्वर से अपनी इच्छा को स्पष्टरूप से व्यक्त किया था। वह महेशानी से इस प्रकार के विनम्र प्रश्न को सुन कर और भी प्रसन्न हो उठे। उनका मुख कमल खिल उठा। उन्होंने अपने मुखारविन्द से मकरन्द रसामृत की वर्षा इस प्रकार प्रारम्भ की ॥ ४ ॥

बुद्धिमान् उपासक 'कुल' शास्त्र के अनुसार परमेश्वर शिव की आराधना करने की आकाङ्क्षा से यदि समन्वित है, तो उसे दीक्षा द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसार ही आराधना का उपक्रम पहले अपनाना चाहिये। मनमाने ढङ्ग से इसे करना उचित नहीं ॥ ५ ॥

इसके सन्दर्भ में ही पहले परा शक्ति मन्त्र का एक लाख जप अखण्डित रूप में करना चाहिये। यह ध्यान रहे कि, जप में व्यवधान न आने पाये। पराशक्ति मन्त्र पराबीज से सम्पुटित करने पर अति ही प्रभावशाली होता है। यह न तो इतनी तेजी से करे कि, इसके वर्णों में टूट उत्पन्न हो जाये। इसी प्रकार इतनी धीमी गति से भी नहीं हो कि, वर्णों की परस्पर अन्विति ही बाधक हो जाये ॥ ६ ॥

तद्वत्खण्डाष्टकं चास्या लक्षं लक्षमखण्डितम् ।
जपेत्कुलेश्वरस्यापि लक्षषट्कमनन्यधीः ॥ ७ ॥

होमयित्वा दशांशेन द्रव्यं पूर्वोदितं बुधः ।
नित्यानुस्मृतिशीलस्य वाक्सिद्धिः संप्रजायते ॥ ८ ॥

स्वकुले जपयुक्तस्य अशक्तस्यापि साधने ।
भवन्ति कन्यसां[1] देवि संसारे भोगसम्पदः ॥ ९ ॥

तदनन्तर इस विद्या से सम्बन्धित अष्ट खण्डात्मक मन्त्रों का प्रति एक लाख जप आवश्यक माना जाता है। यह भी अखण्ड रूप से ही होना चाहिये। तत्पश्चात् कुलेश्वर मन्त्र का अनन्य भाव से छह लाख जप करना आवश्यक माना जाता है ॥ ७ ॥

इसका दशांश हवन भी करना चाहिये। इतने जप और हवन से यह अनुमान किया जा सकता है कि, पूर्ण समर्पण और अनन्य आस्थापूर्वक हो कुलाचार विधि में प्रवेश होना चाहिये। विना आस्था के इतना उपक्रम असम्भव है। मात्र उपक्रम में ही १५ लाख मन्त्रों के जप यहाँ निर्दिष्ट है। दशांश हवन भी १५ लाख आहुतियों वाला एक महान् यज्ञ ही है। इतना महान् अध्यवसाय सम्पन्न करने वाला उपासक परम आस्थावान् है, यह सिद्ध हो जाता है। ऐसा नित्य स्मृतिशील उपासक वाक्सिद्ध हो जाता है। मन्त्रों के जप और तप में रति के कारण उसमें वाक्सिद्धि का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

यह सौभाग्य का विषय माना जाता है कि, अपने ही कुल में कोई कुलशास्त्रानुसारी साधक हो। वह जपयुक्त हो। उसमें अशक्तसाधन के अध्यवसाय की भावना हो और वह ऐसा करें। इसका परिणाम यह होता है कि, सांसारिक समस्त भोग और सारी सम्पत्तियाँ भी उसे छोटी बहन की तरह प्यार करने लगतीं हैं। कन्यस छोटे भाई को कहते हैं। बहुवचन में 'कन्यसाः' रूप की समानता के कारण छोटे भाई की तरह सहायक होती हैं। यह अर्थ भी किया जा सकता है। इस श्लोक में दो पाठ वाला 'कन्यसा' शब्द प्रयुक्त हैं। दूसरा पाठभेद 'कन्यका' है। दोनों अर्थ प्रायः समान हैं। 'भोगसम्पदः' के विशेषण के रूप में ही दोनों पाठ भेद चरितार्थ हैं ॥ ९ ॥

---

१. ग० पु० कन्यका देवीति पाठः;

शक्तस्तु साधयेत्सिद्धिं मध्यमामुत्तमामपि ।
कृतसेवाविधिः पृथ्वीं भ्रमेदुद्भ्रान्तपत्रिवत्[1] ॥ १० ॥
नगरे पञ्चरात्रं तु त्रिरात्रं पत्तने तु वै ।
ग्रामेऽपि चैकरात्रं तु स्थित्वैनं विधिमाचरेत् ॥ ११ ॥
यन्नामाद्यक्षरं यत्र वर्गे तत्तस्य[2] वस्तुनः ।
कुलमुक्तं विज्ञानज्ञैर्नगरादेर्न संशयः ॥ १२ ॥

जहाँ तक शक्त साधक का प्रश्न है, वह मध्यम और उत्तम सिद्धियों के साधन में अवश्य लगे—यह भगवान् का विधिपूर्ण निर्देश है। यह एक प्रकार की स्वात्म सेवा है, शास्त्र सेवा है और निष्ठा के कारण गुरु और सम्प्रदाय की भी सेवा है। जिस साधक ने इस विधि को साध लिया, वह धन्य है। वह यथेच्छ भूमण्डल का भ्रमण कर सकता है। वह असीम आकाश में उड्डीयमान विहग की तरह निर्बाध अपने उद्देश्य में सफल होता है। 'पत्रि' के स्थान पर पत्रवत् पाठभेद असंगत प्रतीत है। सूखे उड़ते पत्ते से उपासक की तुलना व्यर्थ है ॥ १० ॥

पृथ्वी भ्रमण को भी मर्यादित करने के उद्देश्य से शास्त्र ने इसमें कुछ नियतात्मक निर्देश दिये हैं। इनके अनुसार यदि किसी नगर में ऐसे उपासक को आने का संयोग आ जाता है, तो उसे मात्र ५ रात्रि पर्यन्त ही वहाँ निवास करना चाहिये, यदि उसको पत्तन अर्थात् प्रदेश में जाना हो, तो मात्र तीन रात्रियों तक रुकना चाहिये। किसी ग्राम में तो मात्र एक रात्रि भर निवास की आज्ञा शास्त्र देता है। हाँ इन स्थानों पर रुकने की विधि का उलंघन नहीं करना चाहिये। आचरण कर सम्प्रदायनिष्ठ नियमों का पालन करना चाहिये ॥ ११ ॥

किसी वस्तु की कोई न कोई संज्ञा होती है। उसका नाम होता है। नाम के आदि अक्षर को देखकर यह पता लगाना चाहिये कि, यह वर्णमाला के किस वर्ग का है? उस वस्तु का वही वर्ग होता है और वही कुल भी होता है। इस तरह नगर आदि नामों के सन्दर्भ में भी कुल का पता लगा लेना चाहिये ॥ १२ ॥

१. ग० पु० पुत्रवदिति पाठः ।
२. क० पु० वर्गतस्वस्येति पाठः ;

या यत्र देवता वर्गे वाच्यत्वे संव्यवस्थिता[1] ।
सैव तस्य पतित्वेन ध्येया पूज्या च साधकैः ॥ १३ ॥
तस्य किंचित्समासाद्य नगरादिकमादरात् ।
स्वदिग्वर्गस्थितो[2] भूत्वा चक्रं योज्य निजोदये[3] ॥ १४ ॥
अथवा ··· ··· समेकैक उदिते ··· ··· ।
देवता माहेश्वर ··· ··· ··· ··· ··· ॥ १५ ॥
क्रमेणैव यथा रात्रौ ··· ··· यथा दिवा ।
स्वदिशि स्वोदये वर्गं तमेवानुस्मरेद्बुधः ॥ १६ ॥

वर्गों के और उनमें आये वर्णों के अलग-अलग देवता भी निर्धारित हैं। वह देवता उस वर्ग से वाच्य होती है। शास्त्र इसकी व्यवस्था देता है। वही देवता उस कुल की स्वामिनी होती है और यदि देव हैं, तो वह कुल का स्वामी होता है। उस देवता का ध्यान और उसकी पूजा साधकों द्वारा होनी चाहिये ॥१३॥

इस दृष्टि से पूरा विचार कर जब कुलाचार निष्ठ साधक किसी नगर आदि की यात्रा आदि या वस्तु प्राप्ति आदि पर निर्णय करे, तो इन शास्त्रीय निर्देशों का ही आधार लें। इसी तरह दिग् आदि की स्ववर्गीयता पर विचार कर उसी दिशा में रहने की व्यवस्था करें। इस तरह चक्र का और साधक के उदय-उत्कर्ष का योग श्रेयस्कर होता है ॥ १४ ॥

'अवान्तर' स्थिति में उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब 'सम'रूप से 'एक-एक' दिग् और देवता का कुल दृष्टि से सुयोग बनता हो। उस समय अनुकूल 'देवता' उसे 'माहेश्वर' के प्रशस्त पथ पर अग्रसर करने में सहायक होते हैं। इससे उपासक के कुलाचार का पालन होता है[4] ॥ १५ ॥

यह क्रम निरन्तर अपनाना आवश्यक है। ये 'योग' जैसे रात्रि में अपेक्षित हैं, वैसे ही दिन में भी अपेक्षित हैं। यहाँ टूट की जगह—'भवेद्योगी' शब्द का अध्याहार प्रसङ्ग के अनुकूल है। जब भी अपने कुल के अनुकूल दिग् का सुयोग अथवा नाम और नक्षत्रोदय का सुयोग हो, उसी स्ववर्ग्य समय का अनुसरण करना चाहिये। यही बुद्धिमानी पूर्ण चिन्तन युक्त आचरण है ॥ १६ ॥

---

१. क० पु० संव्यवस्थितिरिति पाठः। २. ग० पु० स्वदिशि संस्थित इति;
३ नियोजयेत् इति पाठः।
४ उद्धरण चिह्नयुक्त शब्द श्लोक में हैं। शेष अर्थ अध्याहृत हैं। —लेखक

तिष्ठेदन्योदयं यावत्ततः स्वां दिशमाश्रयेत् ।
स्वकुलं चिन्तयन्यायात्तद्देशकुलमेव[1] वा ॥ १७ ॥
यावदन्यां दिशं मन्त्री ततस्तदनुचिन्तयेत् ।
एवं यावत्स्वकं स्थानं कुलचक्रोक्तवर्त्मना ॥ १८ ॥
भ्रमित्वा पुनरायाति पूर्वकालक्रमेण च ।
तावदागत्य देवेशि तद्देशकुलनायिका ॥ १९ ॥
दद्याद्भक्ष्यादिकं किंचिद्दापयेद्वाथ केनचित् ।
अनेन विधिना युक्तो गुप्ताचारो दृढव्रतः ॥ २० ॥

जब तक स्ववर्ग्य नक्षत्र आदि का उदय न हो जाय, अपेक्षित दिन व समय न आ जाय तब तक 'तिष्ठेत्' अर्थात् ठहर जाय रुके। जब स्ववर्ग्योदय हो जाय उसी से अपनी दिशा का आश्रय ग्रहण करे। अपने कुल का चिन्तन प्रत्येक दशा में करना अनिवार्य है। उस देश और कुल की ओर ही प्रस्थान करना श्रेयस्कर होता है ॥ १७ ॥

मन्त्र का साधक मन्त्री जब तक अन्य दिग्देश के सम्बन्ध में विचार करता है कि, यह अपने कुल का है या नहीं, तब तक वह किसी निर्णय के सम्बन्ध में अनुचिन्तन न करे। जब तक कुल मार्ग द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र की प्राप्ति न हो जाय तब तक किसी स्थान को अपना स्थान न माने। स्थान मिल जाने पर ही वह यह निर्णय करे कि, यह मेरा स्थान है ॥ १८ ॥

अपने कुल चक्र के अनुसार जब तक अपना स्थान नहीं मिलता, मन्त्री घूमता रहता है। मिल जाने पर अपने स्थान पर लौट आता है। यह इसका निर्धारित क्रम है। यह पूर्वकाल क्रम के अनुसार चलता है। भगवान् कहते हैं कि, देवेश्वरि पार्वति! उस देश की कुल नायिका शक्ति उसे तुरन्त पहचान लेती हैं। उसके अशन-वसन की व्यवस्था स्वयं कर देती है, या किसी दूसरे के माध्यम से पूरी करा देती है। माध्यम से भी वह भक्ष्यादि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करा देती है। इस तरह वह मन्त्री कुलमार्ग के इस गुप्त आचार पर दृढ़व्रत रहकर अपना लक्ष्य पा लेता है ॥ १९-२० ॥

1. क० पु० यावत्तद्देवेति पाठः ।

योगिनीमेलकं प्राप्य षण्मासेनैव सिद्धयति ।
दुष्करोऽयं विधिर्देवि सत्त्वहीनैर्नराधमैः ॥ २१ ॥

सर्वसिद्धिकरो मुख्यः कुलशास्त्रेषु सर्वतः ।
अथैकस्मिन्नपि ग्रामे पत्तने नगरेऽपि वा ॥ २२ ॥

तद्दिग्भागं समाश्रित्य तदेव जपते कुलम् ।
त्रिभिरब्दैरनायासात्साधयेदुत्तमं फलम् ॥ २३ ॥

लोकयात्रापरित्यक्तो ग्रासमात्रपरिग्रहः ।
अथवा नाभिचक्रे तु ध्यानचक्रं कुलात्मकम् ॥ २४ ॥

योगिनी शक्ति उसकी साधना को देखकर प्रसन्न हो उठती हैं। यह उसकी योगिनी मेलन की घटना उसके आचार पालन के सन्दर्भ में ही घटित होती है। साधक इसे पाकर छह मास में हो सिद्ध हो जाता है। योगिनो मेलन ही इसका प्रमाण है कि, अब सिद्धि अवश्यंभाविनो है। भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति! यह विधि अत्यन्त दुष्कर है। इस मार्ग पर चलकर कुलाचार के अनुसार लक्ष्य प्राप्त करना, साधारण अथवा नोच लोग द्वारा, अपनाना प्रायः असम्भव हो है ॥ २१ ॥

कुल शास्त्रों में पूरो तरह विशदता पूर्वक इस मार्ग का विवेचन किया गया है। यह सभो मार्गों में मुख्य मार्ग है। यह समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला मार्ग है। सिद्धि प्राप्त हो जाने को अवस्था में वह एक ग्राम में भो स्थिर भाव से निवेश कर अपने आचार का पालन कर सकता है। एक ही पत्तन में रह सकता है। एक नगर में भो निवास कर सकता है ॥ २२ ॥

ग्राम, पत्तन और नगर के इन दिग्विभागों का आश्रय ग्रहण कर वह अपने निर्धारित और स्वोकृत कुल मार्ग के आचार का पालन करता है। मन्त्रों का जप करता है और सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यदि वह तोन वर्षों तक अनवरत कुल मन्त्रों का निष्ठा और आचार पूर्वक पालन करता है, तो निश्चय हो उत्तम फल को प्राप्ति कर लेता है ॥ २३ ॥

वह अपने आचार पालन में रत रहता है। उसे लोकयात्रा के लिये प्रयत्नशोल रहने को कोई आवश्यकता नहीं होती। लोक यात्रा का परित्याग कर वह एक ग्रास परिग्रह में ही गुजर कर लेता है। आगे चलकर उसे इसकी आवश्यकता भी नहीं रहतो। वह अपने नाभिचक्र से हो सारा पूर्त्ति कर लेता है। अपने कुल चक्र का सदैव अनुवर्तन करता रहता है ॥ २४ ॥

चेतसा भ्रमणं कुर्यात्सर्वंकालक्रमेण तु ।
ततोऽस्य वत्सरार्धेन देहान्तं योगिनीकुलम् ।। २५ ।।

आविर्भवत्यसंदेहात्स्वविज्ञानप्रकाशकम् ।
तेनाविर्भूतमात्रेण योगी योगिकुले कुली ।। २६ ।।

भवेदपि पतिर्देवि योगिनां परमेश्वरि ।
अथवा चिन्तयेद्देवि यकारादिकमष्टकम् ।। २७ ।।

चेतस् तत्त्व चिन्तन में ही चरितार्थ होता है । चैतसिक चिन्तन की यात्रा में क्षण भर में विश्व भ्रमण सम्पन्न हो जाता है। योगी कुलात्मक ध्यान चक्र में अनवरत एक तरह का भ्रमण ही तो करता है। सारा काल क्रम उसे सूक्ष्माति सूक्ष्म चिन्तन को स्तरीयता प्रदान करता है। इस योग यात्रा में वह उत्कर्ष की पराकाष्ठा को पा लेता है। छह मास की साधना से ही उसके देहभाव का अन्त हो जाता है। योगिनी शक्तियों का कुल उसके लिये सुव्यक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

योगिनी कुल के आविर्भाव का सुपरिणाम यह होता है कि, सारा स्वात्म-विज्ञान प्रकाशमान हो जाता है अर्थात् उसे स्वात्मसाक्षात्कार हो जाता है। इस प्रकाश के प्रकाशित होते ही वह योगी योगियों के कुल में कुलतत्त्वज्ञ रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ २६ ॥

भगवान् कहते हैं कि, परम ऐश्वर्यशालिनि ! देवि पार्वति ! वह अब केवल योगी संज्ञा के योग्य नहीं रहता। अब वह योगोत्कर्ष सम्पन्न योगीश्वर ही हो जाता है अर्थात् योगाचारकुलाचार निष्ठ साधक उसको स्वामी के समान आदर प्रदान करते हैं।

इसके साथ ही साधना को एक नयी प्रक्रिया का निर्देश परमेश्वर शिव कर रहे हैं। उनके अनुसार योगी चाहे तो चिन्तन के विषय के रूप में अन्तःस्थ और ऊष्मा वर्णों को ही स्वीकार कर ले। य र ल व ये चार वर्ण अन्तःस्थ कहलाते हैं और श ष स ह ये चार वर्ण ऊष्मा वर्ण माने जाते हैं। दोनों ही मिलकर यकारादि अष्टक कहलाते हैं। इनके चिन्तन में प्राण, जीव और ब्रह्म सबका चिन्तन हो जाता है ॥ २७ ॥

स्वरूपेण प्रभाकारकरालाकुलविग्रहम् ।
तस्य मध्ये कुलेशानं स्वबोधकमनुस्मरन् ॥ २८ ॥

सर्वमेव च तत्पश्चाच्चक्रं दीपशिखाकृति ।
संभूतं चिन्तयेद्योगी योगिनीपदकाङ्क्षया ॥ २९ ॥

एतस्मिन् व्यक्तिमापन्ने पिण्डस्थं बुद्ध उच्यते ।
ततोऽस्याकस्मिको देवि महामुद्रोपजायते ॥ ३० ॥

शृङ्गारवीरकारुण्यशोककोपादयस्तथा ।
प्रबुद्धमेतदुद्दिष्टं पिण्डस्थममरार्चिते ॥ ३१ ॥

यकारादि के 'स्व' भाव अर्थात् एक-एक अक्षर का तत्त्व भाव, उनका 'स्व' रूप जैसे 'य' वर्ण का यह रूप कैसे निष्पन्न हुआ ? परावाक् 'य' रूप स्थूल आकार में कैसे उल्लसित हुई इत्यादि क्रम से आठों वर्णों का चिन्तक प्रभा के आकार ग्रहण का इतिहास जान लेता है । उसमें कितनी करालता होती है और उससे इनके इस अष्टवर्ण विग्रह में वह कैसे आकुल भाव से भरी हुई है—यह सब व्यक्त हो जाता है ।

इन्हीं अष्ट वर्णात्मक चक्रों के मध्य में कुलेशान भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिये । वस्तुतः कुलेशान रूप भगवान् ही साधक को स्वबोध प्रदान करते हैं । उस चक्र में इनका अनुस्मरण योगी को धन्य कर देता है ॥ २८ ॥

योगिनी शक्तियों की व्याप्ति "रसे रूपे च गन्धे च शब्दे स्पर्शे च योगिनी" की उक्ति के अनुसार सार्वत्रिक है । इस उच्च अनुभूति के स्तर पर प्रतिष्ठित होने का यह एकमात्र उपाय है कि, दीप शिखा की आकृति वाले इस यकारादि वर्ण-चक्र का अनुचिन्तन निरन्तर चलता रहे । उससे उत्पन्न शक्ति का अनुभव योगी को स्वयं होने लगेगा ॥ २९ ॥

इस चिन्तन की चरम अवस्था में चिन्तक योगी 'पिण्डस्थ' संज्ञा से विभूषित होता है । उस अवस्था की अभिव्यक्ति उसे बुद्ध बना देती है । बुध ही बुद्ध होता है । बुद्ध वही व्यक्ति होता है, जिसमें चेतना का चमत्कार घटित हो जाता है । पिण्डस्थ व्यक्ति में अकस्मात् 'महामुद्रा' उत्पन्न होती है ॥ ३० ॥

इस श्लोक में 'प्रबुद्ध' और 'पिण्डस्थ' ये दो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हैं । 'प्रबुद्ध' शब्द के पहले अबुद्ध और बुद्ध ये दो शब्द भी जानने के योग्य हैं और प्रासङ्गिक हैं । भौतिक शरीर में मेय भाव में रमा व्यक्ति अबुद्ध माना जाता

दिवसैरभियुक्तस्य ततोऽस्य बहुभिर्दिनैः ।
धरादितत्त्वभावानां संवित्तिरुपजायते ॥ ३२ ॥

सुप्रबुद्धं तदिच्छन्ति पिण्डस्थं ज्ञानमुत्तमम् ।
चक्रं च त्रिगुणाष्टारमथवा तत्र चिन्तयेत् ॥ ३३ ॥

कादिहान्ताक्षराक्रान्तं पूर्वरूपं सबिन्दुकम् ।
तत्रापि पूर्ववत्सर्वं कुर्वन्नेतत्फलं लभेत् ॥ ३४ ॥

है। मेय शरीर के प्राण व्यापार, प्राणात्मक संप्रेरण और चेतना के संस्पर्श को मान या प्रमाण रूप से जानने वाला 'बुद्ध' होता है। इससे भी आगे भाव स्तर पर श्रृङ्गार, वीर, करुण, शोक और क्रोध आदि का ग्रहीता प्रमाता ही प्रबुद्ध[1] माना जाता है। इससे भी उत्कृष्ट श्रेणी का पुरुष सुप्रबुद्ध कहलाता है। यह स्वात्म विश्रान्त पुरुष माना जाता है। इसमें धरादि सब में तत्त्वभाव की संवित्ति उदित हो जाती है। यह जाग्रत अवस्था का क्रमिक रूप है। इन चारों भेदों से युक्त जाग्रत पुरुष को पिण्डस्थ[2] कहते हैं। भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवों द्वारा वन्दनीय देवि! पिण्डस्थ पुरुषों की इस भेदवादिता का ज्ञान आवश्यक है।

इस प्रकार दिन प्रतिदिन अनवरत रूप से संलग्न पुरुष में ही तत्त्व भाव की संवित्तियाँ होती हैं। उसी समय प्रबुद्ध सुप्रबुद्ध बन जाता है और यही पिण्डस्थ होता है ॥ ३१-३२ ॥

यह सुप्रबुद्ध भाव सर्वोत्तम भाव होता है। इसमें जिस संवित्ति का उदय होता है, उसे पिण्डस्थ ज्ञान की संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं। इस ज्ञान के या संवित्ति के परिवेश में पिण्डस्थ चक्र का अनुसन्धान होता ही रहता है। इस चक्र को दो प्रकार से समझा जा सकता है। १. त्रिगुणमय पिण्ड सत्त्व, राजस् और तमस् इन गुणों से समन्वित होता है। इस तरह यह गुण चक्रमय तथा अष्टार चक्र से भी समन्वित समझा जा सकता है। इसमें[3] तीन भैरव, तीन देवियाँ सातवीं कुलेश्वरी और आठवें अर के रूप में स्वयं कुलेश्वर देव अधिष्ठित रहते हैं। इन सबका अनुसन्धान निरन्तर करते रहना चाहिये ॥ ३३ ॥

पिण्डस्थ जितने चक्र हैं, उसमें विशुद्ध के नीचे का जो चक्र है, उसे अनाहत कहते हैं। इनमें समस्त व्यंजन वर्ण मूलाधार तक आ जाते हैं। आज्ञा चक्र में 'ह'

---

१. मा० वि० २।४३ ; २. श्रीतं० १०।२३७ ;
३. श्रीतं० ४।१३० का भाष्य

आदिवर्णान्वितं वाथ षोडशारमनुस्मरन् ।
मध्यक्रमेण वा योगी पञ्चमं चुम्बकादिभिः ॥ ३५ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां नाभिचक्रके ।
यतः पिण्डत्वमायान्ति तेनासौ पिण्ड उच्यते ॥ ३६ ॥

तत्र स्थितं तु यज्ज्ञेयं पिण्डस्थं तदुदाहृतम् ।
अ ······ मल ······· रकेश ······ कम् ॥ ३७ ॥

भी आ जाता है। इस प्रकार कादि-हान्त अक्षर इनमें व्याप्त हैं। ये सभी कमल दलों में पृथक्-पृथक् उल्लसित होते हैं। इन अक्षरों से आक्रान्त इस चक्रमण्डल की रचना शरीर में योगियों द्वारा आविष्कृत हैं। इन वर्णों पर बिन्दु का प्रयोग भी होना चाहिये। अपने शरीर में इन वर्णों की स्थापना दलों पर करके शरीर को चक्रात्मक रूप देना चाहिये। इससे पूर्ववत् सभी सुपरिणाम प्राप्त होते हैं॥ ३४ ॥

आदि वर्णों से युक्त शरीर में केवल विशुद्ध चक्र है। यह षोडशार होता है। वास्तव में दक्षिण नेत्र भी षोडशार होता है किन्तु उसके अरों में अन्य तत्त्वों की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार शरीर में योग का संचार होता है। चुम्बक[1] आदि योगियों द्वारा इसका नित्य सम्पादन होना चाहिये। इसमें मध्यक्रम की बात कही गयी है। मध्य क्रम को बोध-मध्य भी कहते हैं। वास्तव में बोध मूल-मध्याग्र भेद से तीन प्रकार का होता है। मूलबोध विकल्प युक्त, बोधमध्य विगलित-विकल्प होता है और बोधाग्र चिद्बोध[2] कहलाता है ॥ ३५ ॥

नाभिचक्र में बहत्तर हजार नाडियों का सम्पर्क योगियों के अनुभव का विषय है। ये सभी नाभिचक्र में पिण्डीभूत होकर एक योजनिका में अनुस्यूत होती हैं। इस आधार पर भी इस शरीर को पिण्ड कहते हैं। नाभिचक्र मातृकेन्द्र कहलाता है। यह नाडियों के संचार का भी केन्द्र है ॥ ३६ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवि ! इस पिण्ड में जो कुछ भी है, वह सभी ज्ञेय है। वहीं सब कुछ स्थित है। इस पिण्डस्थ को जो स्वयं जानने में दक्षता प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं भी पिण्डस्थ ही कहा जाता है और है। इसके नीचे की द्वितीय अर्धाली खण्डित है। 'अ' अक्षर को अनेन मान लेने पर 'मल' शब्द के साथ

---

१. श्रीतन्त्रालोक ;
२. श्रीतन्त्रालोक आ० ८।१४-१५

विज्वरत्वमवाप्नोति वत्सरेण यदृच्छया ।
चक्रपञ्चकमेतद्धि पूर्ववद्धृदये स्थितम् ॥ ३८ ॥

पदस्थमिति शंसन्ति चतुर्भेदं विचक्षणाः ।
यत्रार्थावगतिर्देवि तत्स्थानं पदमुच्यते ॥ ३९ ॥

चतुष्कमत्र विज्ञेयं भेदं पञ्चदशात्मकम् ।
सर्वतोभद्रसंसिद्धौ सर्वतोभद्रतां व्रजेत् ॥ ४० ॥

जरामरणनैर्गुण्यनिर्मुक्तो योगचिन्तकः ।
व्याप्तावपि प्रसिद्धायां मायाधस्तत्त्वगोचरः ॥ ४१ ॥

'हानिः स्यात्' लगाकर पढ़ने पर होगा—'अनेन मलहानिः स्यात्' यह वाक्य बनता है। इसके आगे 'केश' शब्द है। इसके अन्त में 'कम्' है। 'केश' और 'कम्' के मध्य में लाभ की दृष्टि से 'पालित्यनाश' शब्द जोड़ने पर पूरी अर्धाली 'अनेन मल-हानिः स्यात्केशपालित्यनाशकम्' बनती है। अर्थात् पिण्डस्थ योगी के इस ज्ञान से मल की हानि हो जाती है। इससे केशपालित्य नहीं होता ॥ ३७ ॥

पिण्डस्थ में अधिष्ठित योगाधिरूढ़ साधक को कभी ज्वर नहीं आ सकता। उसे विज्वरत्व की सिद्धि हो जाती है। यह ज्वर-विजय एक वर्ष की साधना का सुपरिणाम होता है। इस प्रकार अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्ध और पिण्डस्थ रूप पाँच अवस्थाओं का चक्र शरीर को प्रभावित करता है। जब नाभि से हृदय केन्द्र में अधिकारपूर्वक अधिष्ठित होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, तो वह योगी 'पदस्थ' कहलाने लगता है। यह पदस्थ चार भागों में विभक्त कर समझा जाता है। ऐसा विचक्षण लोग कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि, देवि ! योगी जिस उच्चभूमि में अवस्थित हो जाता है, जब उसे समग्र यथार्थ अर्थ सत्य रूप में व्यक्त हो जाते हैं। इस स्थान को 'पद' कहते हैं। यह पद ब्रह्माण्ड के उच्चतम स्थानों में भी उच्च माना जाता है। इस पिण्डस्थ से उच्च स्थान को पद कहते हैं ॥ ३८-३९ ॥

इसके चार भेद होते हैं। उसके भी १५ भेदों का आकलन योगी लोग करते हैं। इस स्थिति में सर्वतोभद्र मण्डल का अनुभव होता है। जो साधक इस दशा को सिद्धि कर लेता है, उसे 'सर्वतोभद्र' संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥ ४० ॥

जरारूप वृद्ध अवस्था और मरणरूप प्राणत्याग इन दोनों से जीव जगत् शश्वत् प्रभावित हैं। जरा-मरण ये दोनों भयङ्कर अवस्थायें हैं। योगी इन दोनों की परवाह नहीं करते। इन दोनों की गुणवत्ता को निश्चित रूप से निरस्त कर

वेत्ति तत्पतितुल्यत्वं तदीशत्वं च गच्छति ।
पदस्थे किंतु चन्द्राभं प्रदीपाभं न चिन्तयेत् ॥ ४२ ॥

एतदेवामृतौघेन देहमापूरयत्स्वकम् ।
चिन्तितो मृत्युनाशाय भवतीति किमद्भुतम् ॥ ४३ ॥

देते हैं। वही इनका नैर्गुण्य है। वास्तव में यहाँ 'वैगुण्य' पाठ होना चाहिये। नैर्गुण्य का अर्थ निकालने के लिए द्रविड-प्राणायाम करना पड़ता है। योगी वैगुण्य और नैर्गुण्य दोनों पर विचार कर इनसे निर्मुक्त हो जाता है। वह अनवरत योग चिन्तन में लगा रहता है। उसे जीने और मरने को कभी कोई चिन्ता नहीं होती।

ये दोनों तो जीव जगत् में व्याप्त हैं। प्रसिद्ध माया में अवस्थित हैं। माया से नीचे अर्थात् उसके आवरण में पड़े हुये हैं। फिर भी योगी हो जाने पर ये सभी तत्त्व दृष्टिगोचर होने लगते हैं। वस्तुतः नीचे की दूसरी अर्धाली अन्वय की दृष्टि से अशुद्ध है किन्तु अर्थ के अध्याहार के आधार पर भगवद्वाक्य मानकर इसे लेखक द्वारा भी अनन्वित शब्द प्रयोग किया हुआ प्रतीत हो रहा है॥ ४१॥

ऊपर कहे गये तत्त्व भाव को समझने और साधने वाला योगी इन सब बातों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उन दोनों का पति अर्थात् स्वामी बन जाता है। उसके अधिकार क्षेत्र में जरा-मरण दोनों आ जाते हैं। वास्तव में जरा-मरण को अधिकार रखने वाली प्रकृति है किन्तु अधिकार की तुल्यता योगी में भी आ जाती है। यही तत्पतितुल्यत्व माना जाता है। इससे भी बढ़कर तदीशत्व भी योगी को प्राप्त हो जाता है।

पदस्थ योगी परमेश्वर के चिन्तन में रत रहता है। उसे चन्द्र और प्रदीप के प्रकाश की क्या चिन्ता! जो परम प्रकाश में तन्मय रहता हो! इसलिये वह सदा चिन्तनरत रहे॥ ४२॥

योग के प्रभाव से उसके सोमतत्त्व से द्रवित अमृत का महाप्रभाव उसके देव भाव पर अपने आप पड़ता रहता है। उसका सूर्य तत्त्व उसके सोमतत्त्व को विगलित करता रहता है। उस अमृत राशि से उसका अस्तित्व ओत-प्रोत रहता है। एक और रहस्य यहाँ अन्तर्निहित है। वस्तुतः प्राण सूर्य और अपानचन्द्र के प्रभाव से सारे लोग प्रभावित हैं। यह दुःख की बात है कि, सामान्य लोग अपनी अमृत राशि को कभी समझने तक की चेष्टा नहीं करते। उल्टे मृत्युनाशाय चिन्तित

उपलक्षणमेतत्ते चन्द्रबिम्बाद्युदीरितम् ।
येन येनैव रूपेण चिन्त्यते परमेश्वरो ॥ ४४ ॥

पिण्डस्थादिप्रभेदेषु तेनैवेष्टफलप्रदा ।
रूपमैश्वरमिच्छन्ति शिवस्याशिवहारिणः ॥ ४५ ॥

यद्भ्रूमध्यस्थितं यस्मात्तेन तत्र व्यवस्थितम् ।
पञ्चकं सूर्यसंकाशं रूपस्थमभिधीयते ॥ ४६ ॥

तत्रापि पूर्ववत्सिद्धिरीश्वरान्तपदोद्भवा ।
रूपातीतं तु देवेशि प्रागेवोक्तमनेकधा ॥ ४७ ॥

रहा करते हैं। भला इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है। यदि कोई योगमार्ग का पथिक मृत्युनाश की चिन्ता करता है, तो यह भी आश्चर्य का ही विषय है ॥ ४३ ॥

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! यह मैंने जो कहा हैं, यह उपलक्षण मात्र हैं। चन्द्र बिम्ब आदि का कथन भी इस सन्दर्भ में उपलक्षण मात्र ही हैं। वास्तविकता यह है कि, आदि शक्ति सर्वैश्वर्यशालिनी शिवा जिन-जिन रूपों में चिन्तन की जाती हैं, सभी रूपों में वही व्याप्त हैं। प्रत्येक चिन्तन उसी का चिन्तन है, यह समझना चाहिये ॥ ४४ ॥

पिण्डस्थ आदि जितने भेद-प्रभेद यहाँ कहे गये हैं, इसी भाव से उनमें भी रत रहने पर वहा समस्त इष्ट और अभिलाषित फल प्रदान करता हैं। तथ्य तो यह है कि, सभी तत्त्व के चिन्तन करने वाले योगी भी ऐश्वररूप का ही साक्षात्कार करना चाहते हैं। समस्त अशिव अनपेक्षित अनिष्ट उपद्रवों को शान्त और निरस्त करने वाले परमेश्वर शिव के साक्षात्कार की ही आकांक्षा योगियों को होती हैं ॥ ४५ ॥

शरीर का भ्रूमध्य ही शिव की लीला स्थली है। जो साधक शिव के इस भाव को वहाँ व्यवस्थित देखता है, जो पिण्डस्थ, पदस्थ आदि भावों को उसी में देखने में समर्थ हो जाता है, वह समस्त पूर्वोक्त पञ्चक पूर्ण होता है, वह सूर्य के सदृश प्रकाशमान हो जाता है। अब वह समस्त रूपों में विद्यमान, रूप-रूप में प्रतिरूप भासित प्रकाशमान परमेश्वर का देखने में समर्थ हो जाता है। इसीलिये उसे 'रूपस्थ' संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥ ४६ ॥

इस स्थिति में भी उत्कर्ष प्राप्त करने वाला योगी ईश्वरान्त पद से समुत्पन्न सिद्धियों का अधीश्वर हो जाता है। ईश्वरान्त सिद्धि शुद्ध अध्वा की सिद्धि

इत्येषा कुलचक्रस्य समासाद्व्याप्तिरुत्तमा ।
कथिता सर्वसिद्ध्यर्थं सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ४८ ॥
सर्वदाथ विभेदेन पृथग्वर्णविभेदतः ।
विद्यादिसर्वसंसिद्ध्यै योगिनां योगमिच्छताम् ॥ ४९ ॥
भूयोऽपि संप्रदायेन वर्णभेदश्च कीर्त्यते ।
स्त्रीरूपां हृदि संचिन्त्य सितवस्त्रादिभूषिताम्[1] ॥ ५० ॥

कहलाती है। यह भौतिक सिद्धियों से अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की सिद्धि मानी जाती है। उस योगी को रूपातीत सिद्ध कहते हैं। इसकी चर्चा पहले की गयी है। इसके भी अनेक भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

संक्षेप में यह कुल चक्र की व्याप्ति वर्णित की गयी है। यह योगमार्ग में उत्तम व्याप्ति मानी जाती है। सिद्ध योगीश्वरी मत का यही मन्तव्य इन समस्त सिद्धियों के लिये अपनाया जाने वाला सर्वोत्तम मार्ग है। यह निर्धारित कर इसको सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसीलिये उसे यहाँ वर्णन का विषय बनाया गया है ॥ ४८ ॥

योगमार्ग में अपने जीवन को धन्य बनाने की इच्छा से आने वाले योगेच्छु साधकों का यह धर्म है कि, वे विद्या आदि विषयक सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने के प्रयत्न करें। वे सर्वदा अभेद भाव में रहते हुए भेदवाद का भी आनन्द लें। वे वर्ण-वर्ण के भेद भिन्न रूपों के ऐक्य से निष्पन्न अर्थवत्ता के रहस्य को समझें और स्वयं परमानन्द-पीयूष का पान करते हुए सबको धन्य बना दें ॥ ४९ ॥

यहाँ से एक नयी साधना का सूत्रपात कर रहे हैं। इस अद्भुत प्रकल्प को अवश्य अपनाना चाहिये। यह ऐसे सम्प्रदाय का मत है, जिसे सब नहीं जानते। यह विश्वहिताय मेरा आशीर्वाद है। शिव कह रहे हैं कि, देवि, मेरे द्वारा यहाँ उसका कथन किया जा रहा है। यह वर्ण विभेद का ही एक चमत्कार है। इसे ध्यान से सुनो।

साधक शुद्ध हो आसन पर विराजमान हो जाय। वह अपने नाभिकेन्द्र में ध्यान केन्द्रित करे। यह सोचे कि, उस केन्द्र में श्वेत वस्त्रों से विभूषित एक देवी रूप धारिणी स्त्री मातृशक्ति शोभायमान हो रही हैं। ध्यान पूर्वक इस चिन्तनात्मक दर्शन में निमग्न हो जाय ॥ ५० ॥

1. क० पु० भूषणामिति पाठः ।

नाभिचक्रोपविष्टां तु चन्द्रकोटिसमप्रभाम् ।
बीजं यत्सर्वशास्त्राणां तत्तदा स्यादनारतम् ।। ५१ ।।
स्वकीयेनैव वक्त्रेण निर्गच्छत्प्रविचिन्तयेत् ।
तारहारलताकारं विस्फुरत्किरणाकुलम् ।। ५२ ।।
वर्णैस्तारकसंकाशैरारब्धममितद्युति ।
मासार्धाच्छास्त्रसंघातमुद्गिरत्यनिवारितम् ।। ५३ ।।
स्वप्ने मासात्समाधिस्थः षड्भिर्मासैर्यथेच्छया ।
उच्छिन्नान्यपि शास्त्राणि ग्रन्थतश्चार्थतोऽपि वा ।। ५४ ।।

वह मातृशक्ति उसी नाभिचक्र में अवस्थित है। उसके शरीर से कोटि-कोटि कलानिधियों की किरणें निकल रही हैं। ऐसी शत-शत सुधांशुओं की सुधारश्मियों से सुशोभित मातृशक्ति का वह दर्शन करे। वह मातृशक्ति कोई दूसरी नहीं, अपितु सर्वशास्त्रराशि की बीजरूपा शक्ति होती है। विशेष रूप से वहाँ विद्यमान उस शक्ति का वह साधक अनारत विश्रान्त दर्शन करे ॥ ५१ ॥

अब उस बीज प्रभा को सर्वरूप से अपने शरीर से निकलता हुआ अनुभूतकरे। उसे यह अनुभव होने लगे कि, मैं ध्यानस्थ हूँ, फिर भी मेरे मुँह से यह वर्णोच्चार अनवरत हो रहा है। वह उच्चार मानों ॐकार की हारमयी मालात्मक लतिका ही बढ़कर इस रूप में भीतर से बाहर आकर लहरा रही हो। उससे विस्फूर्यमाण किरणों से वह आकुल अर्थात् व्याप्त है। इस प्रकार का दर्शन करें ॥ ५२ ॥

तारों के हार के समान वर्ण ही तारक बनकर उस बाह्य प्रसरित किरण सेवा में ग्रथित हो गये हैं। मानो किरण-धागे में तारों की मनियाँ गूँथ दी गयी हों। इस अनिर्वचनीय रमणीय माला के वर्ण वर्णरूप में गूँथे मन को देखता रहे। अमित द्युति वाले और हृदय से आरब्ध इस हार को श्रद्धापूर्वक देखता रहे। इस तरह अनवरत १५ दिनों इस अभ्यास में लगा रहे, तो इसका सुपरिणाम यह होता है कि, वह व्यक्ति शास्त्रों की राशि-राशि का अनवरुद्ध निर्बाधरूप से प्रवचन करने में समर्थ हो जाता है ॥ ५३ ॥

स्वप्न में एक मास तक समाधिस्थ योगी यदि लगातार छः मास तक उक्त ध्यान में लगा रहे तो, जो शास्त्र उच्छिन्न या खण्डित हो गये होते हैं, उनका पुनः समायोजन करने में समर्थ हो जाता है। यही नहीं वह अर्थ सहित शास्त्रों के मूल-सहित स्वरूप को ज्यों का त्यों लिखकर तैयार कर सकने की शक्ति से विभूषित हो जाता ॥ ५४ ॥

जानाति वत्सराद्योगी यदि तन्मयतां[1] गतः ।
अनुषङ्गफलं चैतत्समासादुपवर्णितम् ॥ ५५ ॥

विद्येश्वरसमानत्वसिद्धिरन्याश्च सिद्धयः ।
प्रतिवर्णविभेदेन यथेदानीं तथोच्यते ॥ ५६ ॥

ध्यातव्या योगिभिर्नित्यं तत्तत्फलबुभुक्षुभिः ।
विन्यासक्रमयोगेन त्रिविधेनापि वर्त्मना ॥ ५७ ॥

यो यत्राङ्गे स्थितो वर्णः कुलशक्तिसमुद्भवः ।
तं तत्रैव समाधाय स्वरूपेणैव योगवित् ॥ ५८ ॥

एक वर्ष के अमूल्य समय को इसमें लगा देने का तात्पर्य यह होता है कि, वह समस्त शास्त्रीयता का प्रतीक बन जाता है। परमात्म तत्त्व में तादात्म्य भाव से तन्मय हो जाता है। कुछ अद्भुत शक्ति आ जाती है। अन्य भी कई आनुषङ्गिक फलों से साधक ओत-प्रोत हो जाता है ॥ ५५ ॥

इस साधना से विद्येश्वर के समान सिद्धियाँ तो मिलती ही हैं, अन्य सिद्धियाँ भी उस ध्येय परा शक्ति के अनुग्रह से स्वयं सिद्ध हो जाती हैं। यह साधना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधना है। इसका प्रयोग अध्यवसाय पूर्वक करना चाहिये।

इसके साथ ही प्रतिवर्ण विभेद से सम्बन्धित विज्ञान का महत्त्व भी शास्त्र प्रतिपादित करते हैं। इनके सम्बन्ध में जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये मैं यहाँ वही कहने जा रहा हूँ। इसे ध्यान से सुनो ॥ ५६ ॥

योगियों का यह पावन कर्त्तव्य है कि, उन्हें इसका निरन्तर प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिये। फलभोग की आकाङ्क्षा तो योगी में होती ही है। जो भोगेच्छु हैं, उन्हें इस पर विशेष ध्यान देना ही चाहिये। इसमें विन्यास का क्रम अपनाया जाता है। उसका आंगिक योग किस प्रकार हो, उसके त्रिविध स्वरूप क्या हैं ? इन पर भी विचार करना आवश्यक है ॥ ५७ ॥

जो वर्ण जिस अङ्ग से सम्बन्धित है, उसका निर्णय कुलमार्ग में निर्धारित नियमों के अनुसार सभी कुलशक्ति विज्ञ जानते हैं कि, कौन वर्ण है और वह किस शक्ति से समुद्भूत होता है। उस वर्ण को उसी अङ्ग पर समाहित करना चाहिये। इसमें

---

१. क० पु० चिन्मयतामिति पाठः ।

स्फुरत्प्रभास्ततिमिरं कुर्वन्नत्र मनः स्थिरम् ।
पूर्वकालक्रमादेव तत्त्वाभ्यासोक्तवर्त्मना ॥ ५९ ॥

तद्वर्णव्याप्तिजं सर्वं प्राप्नोति फलमुत्तमम् ।
अथवा योजयेत्कश्चिदेनां वश्यादिकर्मसु ॥ ६० ॥

तदा प्रसाधयत्याशु साधकस्य समीहितम् ।
उदितादित्यवर्णाभां समस्ताक्षरपद्धतिम् ॥ ६१ ॥

इस बात का विशेष ध्यान देना चाहिये कि, उस वर्ण का जो 'स्व' रूप है, वह उस अङ्ग में किस प्रकार समाहित होता है। योगवित् साधकों को इस रहस्य को दत्त-चित्त भाव से सम्पन्न करना चाहिये ॥ ५८ ॥

तिमिर अन्धकार को कहते हैं। अन्धकार के अस्त हो जाने की स्थिति में प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। प्रकाश में प्रभा होती है। प्रभा का धर्म है—शाश्वत स्फुरण। इस प्रकार शाश्वत स्फुरित होने वाली प्रभा के समक्ष भी तिमिर अस्त हो जाता है।

हमारा मन भी अज्ञान के अन्धकार से आच्छन्न रहता है। इसमें ज्ञान के प्रकाश की प्रभा की भास्वरता आवश्यक है। ऐसा मन योगी का हो जाता है। उसे योगी तत्त्वतः क्रिया योग के माध्यम से वश में कर लेता है। मन को स्थिर करने की योजना के सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है। इसमें क्रमिकता होती है। काल क्रम योग से ही तत्त्वाभ्यास के मार्ग पर चल कर योगवित् इसे पूरा कर लेता है ॥ ५९ ॥

उस अङ्ग पर उस वर्ण की व्याप्ति का विशेष ध्यान रखना चाहिये। वर्ण विद्युत् एक प्रकार की आंगिक आश्यानता, उसकी पुष्टि, बलवत्ता, सक्रियता का संवर्धन कर देती है। उसका सुफल योगी प्राप्त करता है। यह ध्यान देने की बात है कि, समग्र वर्ण-पद्धति और सारा वर्ण-समाम्नाय वश्यादिकर्म में योजनीय है। योगी इस पर विशेष विचार करे ॥ ६० ॥

इस प्रकार वर्ण योजनिका में कुशल योगिवर्य की सारी समीहा इसी वर्ण-व्याप्ति के चमत्कार से पूरी हो जाती हैं। इसमें विलम्ब नहीं होता। इधर इच्छा हुई और उधर पूर्त्ति। यही आशु सिद्धि कहलाती है। अक्षर पद्धति वैसी ही होती है, इसमें भी उदित होने वाले आदित्य में आभामयी ऊर्जा को उच्छलित करने वाला ऊर्जस्वल प्रकाश होता है ॥ ६१ ॥

इच्छयैनां सुवर्णाभां स्रवन्तीं मदिरां मुहुः ।
सप्ताहं चिन्तयेद्यस्य सर्वाङ्गेषु यथाक्रमम् ।। ६२ ।।

स वश्यो दासवद् भूत्वा नान्यं स्वामिनमिच्छति ।
त्रिसप्ताद्रूपसंपन्नां पदविभ्रान्तलोचनाम् ।। ६३ ।।

उर्वशीमप्यनायासादानयेत्किमु मानुषीम् ।
अनेनैव विधानेन वायुवह्निपुरान्तगाम् ।। ६४ ।।

वर्ण विन्यास की प्रभावशक्ति का उल्लेख करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, सारी अक्षर पद्धतियों को कुल मार्ग के अनुसार अपनी इच्छा से किसी एक व्यक्ति पर प्रयोग करना शुरू कीजिये। इसमें यह ध्यान देना आवश्यक है कि, वर्ण-वर्ण से एक सोने के रंगवाली महामदकर मदिरा स्रवित हो रही है और उस व्यक्ति का पूरा शरीर उससे नहा सा रहा है। यह क्रिया मात्र सात दिन करने से ही इच्छित फल प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगते हैं। हाँ उस व्यक्ति के सर्वाङ्ग में यथाक्रम इसका ध्यान आवश्यक होता है कि, कुल मार्ग के अनुसार ही यह योजन हो ॥ ६२ ॥

वह व्यक्ति उसका अर्थात् साधक का दास हो जाता है। वह उसकी सेवा में रम जाता है। दूसरे स्वामी की उसके मन में कोई इच्छा नहीं होती। इस प्रक्रिया को यदि योगी तीन सप्ताह तक अनवरत करने में लगा रहे तो, इसका आश्चर्य-जनक परिणाम सामने आता है।

भगवान् कहते हैं कि, पार्वति ! इस विद्या का प्रभाव, अत्यन्त रूपवती यौवन सम्पन्न कामिनी भी, जिसके पद संचार के आकर्षण से सहृदय लोचन भी चंचल हो उठते हों, अथवा पदे-पदे जिस युवती के नेत्र मृगी की तरह चांचल्य से चर्चित हों, ऐसी यदि उर्वशी ही क्यों न हो, उसको भी सामने ला खड़ा करता है, मानुषी की क्या बिसात ॥ ६३ ॥

केवल सात दिन और २१ दिन के इन प्रयोगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, सामान्य व्यक्ति को कौन कहे देव कन्यायें भी वशीभूत हो जाती हैं। इस विद्या के प्रयोग का और इसके प्रायोगिक स्वरूप का महत्त्व इससे सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार के विधान से वायु कन्यायें अर्थात् वायवीय शक्तियाँ, अग्नि-पिण्डात्मिका शक्तियाँ और पुर अर्थात् स्थानप्रकल्पन में विश्व की किसी तत्त्व की शक्तियाँ वश में आ जाती हैं ॥ ६४ ॥

पिण्डाकुष्टिकरी ज्ञेया योजनानां शतैरपि ।
शरत्पूर्णनिशानाथवर्णाभैषानुसन्धिता ॥ ६५ ॥

विदधात्यतुलां शान्तिमात्मनोऽथ परस्य वा ।
द्रुतहेमप्रतीकाशा स्वस्थाने संप्रयोजिता ॥ ६६ ॥

महतीं पुष्टिमाधत्ते दशाहेनैव शाङ्करि ।
जम्बूफलरसाभासां वज्रकीलकसंनिभाम् ॥ ६७ ॥

कीलने चिन्तयेद्योगी मोहने शुकपिञ्छवत् ।
वज्रनीलप्रतीकाशां प्रतिस्थाननिकृन्तनीम् ॥ ६८ ॥

इसी आधार पर इस विद्या का नाम ही 'पिण्डाकुष्टिकरी' विद्या रखा गया है। इसका प्रभाव केवल पार्श्व में ही नहीं होता वरन् आकाश, पाताल और मर्त्य सभी स्थानों पर पड़ता है। वह सबका आकर्षण करने में समर्थ है। इसके रूप के अनुसन्धान के सम्बन्ध में शास्त्र कहता है कि, शरच्चन्द्र का जो चारुतम चितचोर रुचिर रोचिष्णु वर्ण होता है, वैसी ही रूपमयी यह महोदया विद्या है ॥ ६५ ॥

इससे अतुलनीय शान्ति का अनुभव होता है, ऐसी शान्ति का कारक तत्त्व यही है। स्वयं इस शान्ति का अनुभव तो होता ही है, दूसरे भी जो सम्पर्क में आते हैं, आत्यन्तिक शान्ति का अनुभव करते हैं। यह ध्यान में समाहित करने पर तुरत स्वर्णिम प्रभा से भासमान होती है। इस प्रक्रिया में यह विशेषतः ध्यातव्य है कि, स्वस्थान में कुल मार्ग में निर्धारित नियम और अनुशासन के अनुसार ही यह संप्रयोजित को गयी हो ॥ ६६ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, प्रिये! यह परम प्रीतिमयी पुष्टि प्रदान करने वाली-पराप्रक्रिया है। इसका लगातार दश दिन का अभ्यास भी इस तरह के सुपरिणाम प्रदान करते हैं। इसके एक अन्य प्रकार का भी साक्षात्कार होता है। इसके अनुसार यह श्यामलवर्णी, जामुन के फल के समान भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे वाज्रकील अचल होती है, उसी तरह यह भी अचल प्रतीत होती है ॥ ६७ ॥

यह जम्बुफल और वज्रकीलकवत् ध्यान, कीलन करने के सन्दर्भ में करना चाहिये। जिस समय किसी पर मोहन का अभिचार करना हो, उस समय उस शक्ति का रंग शुक की पाँख के समान ध्यान में लाना चाहिये। यदि इसका ध्यान वज्रनील की तरह किया जाय तो, वह चिन्तित प्रत्येक स्थान का निकृन्तन कर देती

कालानलसमस्पर्शां रिपुनाशाय चिन्तयेत् ।
[1]मालायष्टरभीतानां कुलमद्रिसमोपमम् (?) ॥ ६९ ॥
चिन्तयेद्धूमसंकाशामत्यन्तमनलाकुलाम् ।
शान्तिकर्मोक्तवत्कोपप्रशान्तावप्यनुस्मरन् ॥ ७० ॥
तापने तु तथा किंतु स्वरूपं सूर्यवद् बुधः ।
विद्वेषे तु कपोताभां भञ्जने चाषसंनिभाम् ॥ ७१ ॥
उत्सादे नीलहरितपीतरक्तासितां स्मरेत् ।
प्रत्यङ्गव्याधिसंभूतावेकमेव तदुद्भवम् ॥ ७२ ॥

है। जिसको लक्ष्य कर यह अभिचार किया जाय उसे खण्ड-खण्ड में खण्डित कर देती हैं। यह महाक्रूर अभिचार माना जाता है ॥ ६८ ॥

कोई शत्रु नाश के लिये यदि इस प्रक्रिया को अपनाये तो उसे कालानल के समान उष्ण स्पर्शी ध्यान करना चाहिये। जो व्यक्ति मलयज चन्दन के समान समशीत इष्ट-इष्ट की कामना करता हो, उसे इस कुल प्रक्रिया को कुलाद्रि की तरह का ध्यान करना चाहिये। यहाँ 'मालायिष्टर' पाठ भेद से भी भिन्नता का स्पष्टीकरण नहीं हो रहा है। व्युत्पत्ति की दृष्टि भी अपने अभीष्ट से दूर ही रह रही हैं। इसके अन्त में प्रश्नवाचक चिह्न भी इष्टार्थ में सन्देह की पुष्टि कर रहा है ॥ ६९ ॥

धूम्र राशि में कभी लपटें जैसे कौंध सी जाती हैं, उसी तरह क्रोध की मुद्रा में कभी कुप्यमानता विशिष्ट रूप से क्रौंध जाय, ऐसा स्वरूप उस समय ध्यान में लाना चाहिये, जब प्रयोक्ता कोप की प्रशन्ति के उद्देश्य से मन्त्रानुकूल कुलाभिचार करे। शान्ति कर्म के लिये जैसा प्रयोग किये जाने का निर्देश है, उसी तरह इस प्रयोग में भी व्यवहृत करना उचित है ॥ ७० ॥

यदि किसी में ताप की तप्तता का ज्वरादिवत् समाहार करना हो, तो ग्रीष्मकालीन ऊष्माधिपति उष्ण रश्मि का अनुचिन्तन अपेक्षित होता है। विद्वेषण के अभिचार कपोतों पर झपट्टा मारते बाज की तरह का ध्यान उचित है, जिसमें कपोत की भयाकुलता लक्षित हो रही हो ॥ ७१ ॥

किसी का उत्साद ही यदि अपेक्षित हो, उसको उजाड़ना ही यदि अभीष्ट हो, तो अभिचार कर्त्ता को नील, हरित, पीत, रक्त और कृष्ण वर्णों का मिला-जुला

१. ग० पु० मालयिष्टरभीष्टानामिति पाठः ।

वर्णं विचिन्तयेद्योगी मारणोक्तेन वर्त्मना ।
तद्वत्तु शान्तिकर्मोक्तवर्त्मना तत्प्रशान्तये ॥ ७३ ॥

चिन्तयेत्कृतके व्याधिसंघाते सहजेऽपि वा ।
अथवैतां जपन् कश्चिद् वाक्सिद्धिमभिवाञ्छति ॥ ७४ ॥

तदानेन विधानेन प्रकुर्यादक्षमालिकाम् ।
मणिमौक्तिकशङ्खादिपद्माक्षादिविनिर्मिताम् ॥ ७५ ॥

शबलरूप या इनमें से किसी एक वर्ण का ही अनुचिन्तन करना चाहिये। इसी तरह यदि किसी शत्रु के प्रत्यङ्ग में व्याधि क्रिया अपेक्षित हो, तो भी इनमें से किसी एक रंग का अनुचिन्तन ही पर्याप्त होता है ॥ ७२ ॥

मारण प्रक्रिया भी वर्ण पर ही आधृत होती है। उसी मारण विधि के अनुसार योगी उन वर्णों का अनुस्मरण करते हुए प्रयोग करे। इसी तरह जब शान्ति प्रक्रिया अपनानी होती है, तो शान्ति की विधि के अनुसार शान्ति के लिये प्रशम कर्म प्रयोग भी करना चाहिये ॥ ७३ ॥

इसी तरह कृतक, व्याधि, संघात, अथवा सहज कार्यों में भी उन्हीं विधियों का प्रयोग करना चाहिये, जो उन-उन कामों के लिये निर्धारित हैं।

इसके साथ ही इसका एक दूसरा पक्ष भी है। कुल मार्ग में स्वीकृत वर्ण विधि का प्रयोक्ता यदि वर्णों की वाक्सिद्धि के उद्देश्य से जप करना प्रारम्भ करता है, तो निश्चय ही वाक्सिद्ध हो जाता है ॥ ७४ ॥

अक्ष माला का भी जप प्रक्रिया में विशेष महत्त्व होता है। कुलाचार के इस सन्दर्भ में जप के लिये कैसी माला बनायी जाय, इसकी जिज्ञासा स्वभावतः होती है। कितने मनकों की हो ? कितनी लम्बी हो, इसका उत्तर भगवान् ७५-७६ दो श्लोकों में दे रहे हैं—

उनका कहना है कि, माला कुलाचार के नियमों के अनुसार ही बनायी जानी चाहिये। अक्षमाला मुख्यतः रुद्राक्ष की होती है। इसीलिये इसे अक्षमाला कहते हैं किन्तु यह मणियों से भी निर्मित होती हैं। इसमें माणिक्य, मोती और शङ्ख का भी प्रयोग होता है। बहुत लोग कमल बीज की माला बनाकर उससे भी जप करते हैं। तन्त्र में अभिचार की दृष्टि से भी हल्दी आदि की मालायें बनायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्ण-रजत आदि धातु निर्मित मालायें भी व्यवहार में लायी जाती हैं।

हेमादिधातुजां वाथ [1]शतार्धप्रमितां बुधः ।
यथा स्वबाहुमात्रा स्याद्वलयाकृतितां गता ॥ ७६ ॥

तां गृहीत्वां समालभ्य गन्धधूपाधिवासिताम् ।
पूजयित्वा कुलेशानं तत्र शक्तिं निवेशयेत् ॥ ७७ ॥

प्रत्येकमुच्चरेद्बीजं पराबीजपुटान्तगम्[2] ।
प्रस्फुरत्क्षान्तमेकस्मिन्नाद्यक्षे विनियोजयेत् ॥ ७८ ॥

आद्यर्णं व्यापकं भूयः सर्वाधिष्ठायकं स्मरेत् ।
द्विविधेऽपि हि वर्णानां भेदे विधिरयं मतः ॥ ७९ ॥

द्वितीयं व्यापकं वर्णं द्वितीयं पूर्ववन्न्यसेत् ।
तृतीयादिषु वर्णेषु फान्तेष्वप्येवमिष्यते ॥ ८० ॥

माला के मनकों की संख्या शतार्ध अर्थात् पचास ही होनी चाहिये। अपने बाहु को मापकर उसी का वलय बनाइये। इतने वलय की एक माला मानी जाती है ॥ ७५-७६ ॥

उसे हाथ में लें। उसे हृदय से लगायें। पुनः उसे गन्ध से उपलिप्त करें। धूप से अधिवासित करें। कुलेशान शिव की पूजा कर उसमें शक्ति तत्त्व का विनिवेश करें। यह माला को महिमामयी बनाने की विधि है ॥ ७७ ॥

माला के प्रत्येक मनके में आदि वर्ण बीज से 'अ' से 'क्ष' तक के बीजों को पराबीज मन्त्र से सम्पुटित कर विनिविष्ट करना चाहिये। यह पहले मनके की विधि सभी मनकों में लागू होती है ॥ ७८ ॥

'अ' से लेकर 'क्ष' तक प्रचलित वर्णमाला अक्षमाला भी कही जाती है। इसे मातृका भी कहते हैं। इसका आदि वर्ण 'अ' है। यह व्यापक अर्थों से समन्वित है। यह सर्वाधिष्ठायक वर्ण बीज माना जाता है। यह सारे स्वरों और व्यञ्जनों का अधिष्ठान है। यों वर्ण द्विविध होते हैं। सभी प्रकार के भेदों के बावजूद विधि एकमात्र यही प्रयुक्त होती है ॥ ७९ ॥

द्वितीय वर्ण भी सर्वव्यापक वर्ण माना जाता है। उसी तरह द्वितीय वर्ण का भी विनिवेश द्वितीय मनके पर करना चाहिये। यहाँ इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने की बात है कि, यदि साधक मातृका वर्णमाला का प्रयोग करता है, तो उसे

---

१. क० पु० शतार्धाक्षमितामिति पाठ। २. क० पु० बीजपुटं गतमिति पाठः।

ततः शक्तिमनुस्मृत्य सूत्राभामेकमानसः ।
अक्षमध्यगतां कुर्यादक्षसूत्रप्रसिद्धये ॥ ८१ ॥

चक्रवद्भ्रामयेदेनां यदेवात्र प्रभाषते ।
तत्सर्वं मन्त्रसंसिद्ध्यै जपत्वेन प्रकल्पते ॥ ८२ ॥

होमः स्याद्दीक्षिते तद्वद्दह्यमानेऽत्र वस्तुनि ।
विपरीतप्रयोगेन संक्रुद्धो भ्रामयेद्यदि ॥ ८३ ॥

तदा मारयते शत्रुं सभृत्यबलवाहनम् ।
अभिमन्त्र्य यदेवात्र चेतसा कर्म-साधकः ॥ ८४ ॥

क्षान्त वर्णों का विनियोग करना चाहिये। यदि मालिनी वर्णमाला का प्रयोग कुलाचार विधि से करता है, तो न से लेकर फान्त वर्णों का विनिवेश होना चाहिये। सभी वर्ण पराशक्ति की शक्तिमत्ता के ही विस्फार हैं। इसीलिये इस श्लोक में तृतीयादि वर्णों में भी 'फान्त' वर्णमाला के निर्देश दिये गये हैं॥ ८० ॥

मातृका विनिवेश विधि के अनुसार माला को हाथ में लेकर पराशक्ति का अनुस्मरण करे। इसमें मन की एकाग्रता आवश्यक होती है। शक्तित्व को सूत्र रूप में प्रकल्पित कर सभी मनकों के मध्य छिद्र में ग्रथित शक्तिसूत्र रूप शक्तिमत्ता का ध्यान करना चाहिये॥ ८१ ॥

ऐसी माला का आदि से अन्त तक एक-एक मनके का प्रयोग कर चक्रवद् भ्रान्त करना चाहिये। एक-एक मनके से एक-एक मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। इन मनकों को हाथ में लेकर साधक जो कुछ बोलता है, वह सभी मन्त्र सिद्धि के उद्देश्य से किया जाने वाला जप माना जाता है॥ ८२ ॥

उक्त विधि में मनकों के आश्रय से मन्त्र बोलना जप कहलाता है, किन्तु उन्हीं मनकों के आश्रय से मन्त्र बोलते हुए दीक्षित साधक यदि दह्यमान अग्नि में वस्तु प्रक्षेप करता है अर्थात्, हवनीय हविष्य डालता है, तो वही होम कहलाता है। इसमें खतरा भी रहता है। यदि क्रुद्ध साधक विपरीत प्रयोग कर दे, तो अनर्थ होने की बड़ी सम्भावना रहती है॥ ८३ ॥

उसी अनर्थ का उद्घाटन करते हुए भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, साधक यदि विपरीत मन्त्र प्रयोग कर दे, तो वह शत्रु का सर्वनाश कर सकता है। शत्रु को नौकर-चाकर और घोड़े-हाथी और चतुश्चक्री वाहनों के साथ समाप्त कर देता है। इसमें सन्देह नहीं।

रात्रौ सौम्यादिभेदेऽत्र भ्रामयेदक्षसूत्रकम् ।
तदेव सिद्धयते देवि [1]कृतसेवाविधेः प्रिये ॥ ८५ ॥

सेवा चात्राक्षसूत्रस्य षण्मासं परिवर्तनम् ।
विधावत्र नियुक्तस्य योगिनो वत्सरत्रयात् ॥ ८६ ॥

वाक्सिद्धिर्जायते देवि सर्वलोकसुदुर्लभा ।
वाक्सिद्धेर्नापरा सिद्धिरुत्तमा भुवि जातुचित् ॥ ८७ ॥

वाचो वर्णात्मिका यस्माद्वर्णरूपा च मालिनी ।
अथवा चिन्तयेदेनामुल्काकारां विचक्षणः ॥ ८८ ॥

यहीं नहीं, साधक मन्त्र को अभिमन्त्रित कर मन में यदि किसी कार्य का संकल्प लेकर साधना का निश्चय करके रात्रि में सौम्य आदि चान्द्र गणनानुसार तिथि नित्याओं के अनुसार इस अक्षमाला का प्रयोग करना प्रारम्भ कर इस माला को घुमाने लगे अर्थात् जप करना शुरू कर दे, तो उसके उद्देश्य की तत्काल पूर्त्ति होती है। इसका कारण उसकी मन्त्र सेवा और आचार के प्रति आस्था है ॥ ८४-८५ ॥

सेवा शब्द यहाँ पारिभाषिक शब्द की तरह प्रयुक्त है। अक्षसूत्र का छह मास का अनवरत प्रयोग ही सेवा है। अक्षरमाला की इस सेवा से अक्षमाला की देवता प्रसन्न होती है। छह मास में प्रतिदिन जप टूटने से सेवा भङ्ग हो जाती है। इस कुलाचार विधि में नियुक्त साधक यदि तीन वर्ष तक लगातार इष्ट मन्त्र का जप करता रहता है, तो भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! ऐसे साधक को सुदुर्लभ वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वह निश्चित सत्य है कि, संसार में वाक्सिद्धि से बढ़कर कोई दूसरी सिद्धि नहीं होती ॥ ८६-८७ ॥

मालिनी के विषय में एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि, इसे वर्णरूपा अर्थात् शब्द राशि रूपा मानते हैं। दूसरी एक विशिष्ट बात यह भी है कि, व्यवहार की सारी वाणी वर्णरूपा ही होती है। दोनों तथ्यों को मिलाकर देखने से सारा वाक्व्यवहार मालिनीमय ही सिद्ध हो जाता है। मालिनी के सम्बन्ध में एक नयी चिन्तन की विधि का उद्घाटन करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, इसका उल्का के समान प्रकाशमान और बोलते समय ऊपर से गिरकर आने वाली अर्थमयी शक्ति के रूप से अभ्यास या अनुचिन्तन करे ॥ ८८ ॥

---

१. ग० पु० सेवाविविरिति पाठः]।

निर्गच्छन्तीं स्वकाद्देहाद्विस्फुरन्तीं ततोऽप्यतः ।
स्फुलिङ्गैः कोटिसंख्यातैः संततैः किरणाकुलैः ॥ ८९ ॥

ग्रामं व पत्तनं वापि नगरं देशमेव वा ।
मण्डलं पृथिवीं वापि ब्रह्माण्डं वा समस्तकम् ॥ ९० ॥

विस्तीर्णं वा जनानीकमेकैकमुत्तमोत्तमम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं व्याप्य पुनः प्रतिनिवृत्त्य च ॥ ९१ ॥

प्रविशन्तीं स्वकं देहं पूर्वाकारामनुस्मरेत् ।
एवं दिने दिने कुर्यात्तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ९२ ॥

ततोऽस्य मासमात्रेण जनास्तत्र निवासिनः ।
आगच्छन्ति यथा तीर्थं शक्तितेजोपबृंहिताः ॥ ९३ ॥

इस अनुस्मरण के साथ ही प्रयोक्ता यह सोचे कि, यह मेरे शरीर से शाक्त-तत्त्व के रूप में निरन्तर निकलती हुई आकाश में विस्फूर्यमाण हो रही है। हमारे उच्चारण में शत-शत स्फुलिङ्गों की राशि अपनी वैद्युतिक आभा से व्याप्त होकर निरन्तर निकल रही हैं ॥ ८९ ॥

इस महान् विधि के अनुसार हमारे शरीर से त्रिविध उच्चारणों के माध्यम से निःसृत होने वाली यह वाणी शक्ति, संकल्प के अनुसार ग्रामों-ग्रामों को, पत्तनों, को नगरों और समग्र देश को अपने आक्रोश में ले लेती है। संकल्प के बल पर विभिन्न मण्डलों को भी प्रभावित करती है। यही नहीं समग्र भूमण्डल को आत्मसात करती है। इससे भी आगे बढ़कर यह ब्रह्माण्ड के इस विस्तार को, इस विराट् शैव महाप्रसार को भी प्रभावित ही नहीं करती, साधक के उद्देश्य को पूर्ण कर समग्र बाह्य-आभ्यन्तर रहस्यों का भेदन कर रामबाण की तरह साधक के पास लौट भी आती हैं। उसके विमर्श में समाहित हो जाती हैं।

ऐसी मन्त्रात्मक परावाक्-प्रसाद-शक्ति का साधक जप करते समय भी अनु-स्मरण करे। इस प्रकार प्रतिदिन जप के जयनशील जीवन्त विधान को व्यवहार का विषय बनाये। वाणी के अर्थ के साथ सर्वत्र व्याप्ति की विमृष्टि करते हुए आन्तरिक रूप से अर्थ का तादात्म्य प्राप्त करे। यह चमत्कारकारी प्रयोग साधक के लिये सर्वस्व प्रदान करने में समर्थ है ॥ ९०-९१-९२ ॥

यह प्रयोग एक मास की अवधि तक पूरा होने वाला प्रयोग है। अनवरत अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगा साधक यह अनुभव करने लगता है कि, जिस

रूपिण्यो विविधाकारा ललनाद्यास्तथा पराः ।
भूचर्यः क्षोभमायान्ति षण्मासान्नात्र संशयः ॥ ९४ ॥
योनिजा द्वा मजा (?) क्षेत्रजाताः पीठसमुद्भवाः ।
नायिकाश्च महादेवि क्रमात्क्षुभ्यन्ति वत्सरात् ॥ ९५ ॥

स्थान को लक्ष्य कर वह जप कर रहा था, जिस ग्राम या नगर को आत्मसात् कर जप कर रहा था, वहाँ के निवासी उसी प्रकार उसके समीप आने लगते हैं, जिस प्रकार तीर्थ के प्रभाव से भावित लोग तीर्थयात्रा में निकलते हैं। यह उस साधक के शाक्त तेज के उपबृंहण का ही महाप्रभाव माना जा सकता है ॥ ९३ ॥

रमणीय रूपवती रमणियाँ, स्वैरचारिणी अभिसारिका सदृश विहार में उत्सुक ललनायें और समस्त भूचरी देवियाँ और शक्तियाँ छह मास के प्रयोग से काममुग्ध होकर साधक के पास खिंची चली आती हैं। इसमें सन्देह और संशय के लिये कोई स्थान नहीं है ॥ ९४ ॥

इस श्लोक में नायिकाओं के भेदों के सम्बन्ध में प्राचीन काल में प्रचलित शब्दों के प्रयोग हैं। जैसे—

१. योनिजा—योनि से उत्पन्न। वस्तुतः सारी नायिकायें योनि से ही समुत्पन्न होती हैं। किन्तु मनुष्य योनि के अतिरिक्त योनियों में उत्पन्न नायिका नहीं हो सकती। यहाँ योनि का अर्थ स्वजाति भी लगाया जा सकता है। जैसे ब्राह्मण साधक को स्वजाति वाली ब्राह्मणी स्त्री।

२. वामजा—वामायें किसी जाति की नायिकायें वाम अर्थात् प्रतिकूल वंश में उत्पन्न वामजा कहलाती हैं। वामाचाररत नायिकायें भी वामजा हो सकती है। वामजा में द् अक्षर प्राचीन हस्तलेख का दोष है।

३. क्षेत्रजाता—क्षेत्र शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। क्षेत्र सामान्यतः वह भूखण्ड होता है, जहाँ किसी का पूरा प्रभाव होता है। क्षेत्र पहले वे स्थान माने जाते थे, जहाँ निर्धन और अनाथ भोजन पाते थे। उसमें रहकर, खा पीकर पली सुन्दर और भविष्णु राचिष्णु नायिका भी क्षेत्रजा कहला सकती है।

४. पीठजा—प्राचीन काल में साम्प्रदायिक असंख्य पीठ होते थे। वहाँ कुछ समर्पित स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क से उत्पन्न जाति वंश विहीन सुन्दरी स्त्री पीठ समुद्भवा कहलाती था। अब भी मठों आदि में ऐसी सुन्दरियाँ मिलती हैं। देव-दासियों की परम्परा में उत्पन्न नायिका भी पीठजा हो सकती है।

अन्तरिक्षगता दिव्या ब्रह्मलोकगताश्च याः ।
ब्रह्माण्डान्तर्गताः सर्वाः क्षोभं यान्ति समाश्रयात् ॥ ९६ ॥

स्वं स्वं ददति विज्ञानं साधकेन समीहितम् ।
यदि ता न प्रयच्छन्ति साधकेन समीहितम् ॥ ९७ ॥

नश्यते दिव्यविज्ञानं त्रुट्यते कुलसंततिः ।
दत्त्वा तु साधकेन्द्रेण प्रार्थितं फलमादरात् ॥ ९८ ॥

अनुपालितगुर्वाज्ञाः सिद्धिं प्राप्स्यन्त्यनुत्तमाम् ।
ताभ्यो विज्ञानमासाद्य योगी योगिकुले कुली ॥ ९९ ॥

भगवान् कह रहे हैं कि देवि ! पार्वति ! इस प्रकार की सारी नायिकाओं पर एक वर्ष का प्रयोग अपेक्षित है। ये सभी इस प्रयोग से वशीभूत हो जाती हैं और साधक पर मुग्ध होकर स्वयम् आ जाती हैं ॥ ९५ ॥

कभी-कभी साधक अप्रकल्पनीय कल्पना भी कर बैठता है। उसके मन में यदि यह बैठ जाय कि, मैं अन्तरिक्ष मे विचरण करने वाली किसी अदृश्य शक्ति को नायिका के रूप में पाऊँ, दिव्य लोक की उर्वशी आदि अप्सरा का ही उपभोग करूँ, तो वह इसमें सफल हो सकता है। इसके लिये यह शर्त्त है कि, वह तीन साल तक लगातार वशीकार मन्त्र का प्रयोग करता रहे ॥ ९६ ॥

साधकेन्द्र उनसे यदि यह चाहता है कि, वे अपने दिव्य विज्ञान हमें भी दें, तो वे प्रसन्न होकर दे भी देती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि, वे अपना दिव्य-विज्ञान नहीं देतीं। यह अच्छा लक्षण नहीं होता। उनके क्रोध से साधक का भी विज्ञान नष्ट हो जाता है। कुल परम्परा भी टूट जाती है। यह खतरा वहाँ होता है।

यदि साधक का अभिलषित वे पूरा कर देती हैं, तो यह अच्छा लक्षण है। उस समय कुल का संवर्धन भी हो जाता है ॥ ९७-९८ ॥

वास्तविकता यह है कि, गुरुदेव के अनुशासन में रहकर गुरुवर्य के समग्र आदेशों का अनुपालन करने वाला साधकेन्द्र अवश्य ही अभीप्सित परिणाम प्राप्त करने में सफल होता है। गुरु की आज्ञा के ही अनुसार चलकर वह देवी शक्तियों को भी वश में करने में समर्थ हो जाता है। साथ ही उनसे उनका विज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। ऐसा योगिराज अपनी परम्परा अर्थात् कुलाचार सम्प्रदाय में उच्च स्थान प्राप्त करता ही है, अपने वंश का भी कुलदीपक माना जाता है ॥ ९९ ॥

भुक्त्वा यथेप्सितान्भोगान्यात्यन्ते परमं पदम् ।
इत्ययं कथितो लेशात्कौलिको विधिरुत्तमः ॥ १०० ॥
योगिनां सर्वसिद्ध्यर्थं कुलमार्गानुसारिणाम् ॥ १०१ ॥
इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे कुलचक्राधिकार एकोनविंशः ॥ १९ ॥

इस जीवन में अपनी इच्छा के अनुसार सभी उत्तम भोगों का उपभोग कर वह साधक अन्त में परम पद का अधिकारी बन जाता है और पा लेता है। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! यह मैंने संक्षेप में तुमसे कौलिक विधि का उपदेश किया है। यह जीवन को धन्य बनाने वाली उत्तम विधियाँ मानी जाती हैं।

कुलमार्ग का अनुसरण करने वाले कौल योगियों के लिये समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाली इन विधियों के प्रयोग से कुलमार्ग की प्रामाणिकता भी सिद्ध होती है और कौलिक को सारी सिद्धियाँ भी मिल जाती हैं ॥ १००-१०१ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
कुलचक्राधिकार नामक उन्नीसवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ १९ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ विंशोऽधिकारः

अथ पिण्डादिभेदेन शाक्तं विज्ञानमुच्यते ।
योगिनां योगसिद्धयर्थं संक्षेपान्न तु विस्तरात् ॥ १ ॥

पिण्डं शरीरमित्युक्तं तद्वच्छक्तिशिवात्मनोः ।
ब्रह्मानन्दो बलं तेजो वीर्यमोजश्च कीर्त्यते ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेक भाषा-भाष्य संवलितम्

विंशोऽधिकारः

[२०]

यह अधिकार शाक्त-विज्ञान के रहस्य का उद्घाटक है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अवतरित है। इसे संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। इसके विस्तार को महत्त्व नहीं दिया गया है। इस अधिकार के स्वाध्याय से योगियों को योगसिद्धि अवश्यंभावी है। उन्हें इसे अपने स्वाध्याय का विषय बनाना चाहिये ॥ १ ॥

शरीर क्या है ? इस जिज्ञासा की शान्ति भगवान् स्वयं कर रहे हैं। उनके अनुसार यह शरीर एक पिण्ड है। यह तद्वान् अर्थात् पिण्डस्थ भी है। यह शक्तिरूप और परम तत्त्व का प्रतीक है। यह ब्रह्मानन्द का स्थूल विग्रह है। यह प्रत्यक्ष ओज है, बल का उद्बलन है। तेजोमय का तेज है। यह विश्वात्मा का वीर्य है। इसका सर्वातिशायी महत्त्व स्वयम् इसी से व्यक्त हो रहा है। इसको माध्यम बनाकर विश्वात्मा बहुविध विलास लीला सम्पन्न करते हुए उल्लसित है ॥ २ ॥

अज्ञानेन निरुद्धं तदनाद्येव सदात्मनः ।
तदाविर्भूतये सर्वमनिरुद्धं प्रवर्तते ॥ ३ ॥

तेनाविर्भाव्यमानं तत्पूर्वावस्थां परित्यजत् ।
याः संवित्तीरवाप्नोति ता अधस्तात्प्रकीर्तिताः ॥ ४ ॥

तदेव पदमिच्छन्ति सर्वार्थविगतिर्यतः ।
तस्मात्संजायते नित्यं नित्यमेव शिवात्मनोः ॥ ५ ॥

तदेव रूपमित्युक्तमात्मनश्च विनश्वरम् ।
रूपातीतं तदेवाहुर्यतोक्षाविषयं परम् ॥ ६ ॥

सदात्मा परम परमेश्वर का यह सत्स्वरूप है। यह शाश्वत है अर्थात् विश्वमय है। उसी की तरह यह भी अनादि है। इसके साथ एक कुहक घटित हो गया है। यह अज्ञान से निरुद्ध हो गया है। अज्ञान ने इसकी विश्वात्मकता को कीलित और अवरुद्ध कर दिया है। इसकी उत्पत्ति, निष्पत्ति एवम् आविर्भूति के के लिये सब कुछ अनिरुद्ध भाव से प्रवर्त्तित है। अनिरुद्ध प्रवर्त्तन के बाद भी यह अज्ञान से निरुद्ध है। यही विरोधाभास इसके साथ लगा हुआ है ॥ ३ ॥

अज्ञान के द्वारा आविर्भाव्यमान अर्थात् उत्पन्न होने वाला यह अपनी जिस अवस्था में पहले था, उसका परित्याग करना इसकी विश्वमयता बन जाती है। उसी वैवश्य भाव से ग्रस्त होकर जिस शरीर को प्राप्त करता है, इसमें उसके कर्मानुसार उसकी संविति भी उसी प्रकार की होती है। अर्थात् उसी प्रकार के अज्ञान ग्रस्त ज्ञान का उदय उसमें होता है। एक अधः संविति अर्थात् हेयताभरी वैचारिकता का उदय होता है। यह उसके उत्कर्ष का बाधक होता है ॥ ४ ॥

यही उसका पद माना जाता है। इसी पद से प्रभावित उस पुरुष की सभी अर्थों में उसी प्रकार की गति और ज्ञान होना निश्चित हो जाता है। इसका परिणाम उसके लिये अच्छा नहीं होता। वह जन्म-मरण के चक्र में पड़कर इसी संसृति का पात्र बन जाता है। वह शिव होते हुए भी जीवभाव में नित्य रहने को विवश हो जाता है ॥ ५ ॥

वह आत्मा का विनश्वर रूप है। अब वही उसका रूप हो जाता है। रूप-भाव में इन्द्रियों, तन्मात्राओं और मन की मूर्च्छामयी वासनाओं में फँसता चला जाता है। इस अवस्था से ऊपर उठकर अक्ष अर्थात् इन्द्रियों की अविषय अवस्था

भावनां तस्य कुर्वीत नमस्कृत्य गुरुं बुधः ।
तावदालोचयेद्वस्तु यावत्पदमनामयम् ।। ७ ।।
नैवं न चैवं नाप्येवं नापि चैवमपि स्फुटम् ।
चेतसा योगयुक्तेन यावत्तदिदमप्यलम् ।। ८ ।।
कृत्वा तन्मयमात्मानं सर्वाक्षार्थविवर्जितम् ।
मुहूर्तं तिष्ठते यावत्तावत्कम्पः प्रजायते ।। ९ ।।

प्राप्त करने का सौभाग्य उसे मिलता है। इस अवस्था को ही 'रूपातीत' अवस्था कहते हैं। यह 'परात्मक स्थिति' मानो जाती है ।। ६ ।।

बुद्धिमान् साधक इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये सद्गुरु का शरण ग्रहण करता है। प्रणतिपूर्वक उनकी सेवा में लगा रहता है। उनकी कृपा से रूपातीत अवस्था की भावना करता है। अपनी उन्नति के लिये उसे अवश्य ऐसा करना चाहिये। उसे इस अवस्था का पर्य्यालोचन करना चाहिये, जब तक वह उस अनामय भाव का पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर ले। यह सब गुरु कृपा पर ही निर्भर है ।। ७

उसकी संवित्ति जब तत्त्व के पर्यालोचन में लगी रहती है, और वह जब किसी निर्णय पर पहुँचने ही वाला होता है कि, उसको प्रज्ञा उसे इस बात के लिये सचेत कर देती कि, नहीं यह ऐसा नहीं है। यह परम सत्य नहीं। अभी आगे बढ़ो। वह आगे पर्य्यालोचन करने लगता है। फिर किसी तथ्य पर पहुँचते-पहुँचते, उसे लगता है, यह भी ऐसा नहीं जैसा मैं समझ रहा हूँ। इसी तरह बार-बार अङ्गीकृति और अस्वीकृति के ऊहापोह से वह स्फुट सत्य की ओर अग्रसर होता रहता है। उसका चित्त योगयुक्त हो जाता है। वह तब तक इसी प्रकार आन्तर सोच-विचार में जी रहा होता है, जब तक उसे उस अनामय पद की प्राप्ति नहीं हो जाती। वह यह सोचने में समर्थ हो जाता है कि, बस! यह परम सत्य मुझे उपलब्ध हो गया है ।। ८ ।।

अब उस सत्य से वह तादात्म्य स्थापित करता है। उसी तन्मय भाव से भावित हो जाता है। उसे सारे इन्द्रियार्थ से विराम हो जाता है। विषयों के ऊपर उठकर वह विषयातीत भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस अवस्था में एक नयी बात बीच में घटित होने लगती है। उसी तादात्म्य भाव में उसे 'कम्प' का अनुभव होता है। स्थिर भाव में प्रतिष्ठित जितचेता उपासक का शरीर मानों काँपने सा लगता है। निष्कम्प भाव में यह कम्प उसे विचलित नहीं कर पाता। वह अविचलित रूप से आत्मस्थ बना रहता है ।। ९ ।।

भ्रमणोद्भवनिद्राश्च किञ्चिदानन्द इत्यपि ।
तत्र यत्नेन संदध्याच्चेतः परफलेच्छया ॥ १० ॥

तदेतदात्मनो रूपं शिवेन प्रकटीकृतम् ।
यत्र तु यच्च[1] विज्ञेयं शिवात्मकमपि स्थितम् ॥ ११ ॥

तद्रूपोद्वलकत्वेन स्थितमित्यवधारयेत् ।
तत्समभ्यसतो नित्यं स्थूलपिण्डाद्युपाश्रयात् ॥ १२ ॥

चतुर्भेदत्वमायाति भक्त्याभिन्नमपि स्वतः ।
स्थूलपिण्डे द्विधा प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ १३ ॥

यही नहीं, कभी-कभी उसे भ्रमण अर्थात् चक्कर का उद्भव होता हुआ प्रतीत होता है। लगता है कि, शरीर घूम सा रहा है। इसके बाद कभी उसी में नींद आ जाती है और एकनिष्ठ ध्यान में अन्तर सा आ जाता है। साधक को इन अवान्तर उत्पत्ति रूप विकृति से घबड़ाना नहीं चाहिये। वरन् और भी दृढ़तापूर्वक अपने स्वीकृत पथ पर आगे और आगे बढ़ना चाहिये। अन्त में आनन्द की अनुभूति उसे आत्मविभोर कर जाती है। इस अवस्था को स्थायी बनाने हेतु यत्नपूर्वक सन्धान करना चाहिये। इस चैतसिक अनुसन्धान से ही चिन्मयता रूप चरम चेतनात्मक परफल की उपलब्धि हो जाती है ॥ १० ॥

इस अवस्था में स्वयं शिव ही जीव को शिव बनाकर स्वयं स्वात्म को प्रकट कर लेते हैं। इस अप्रकल्प्य अवस्था में जहाँ जो कुछ ज्ञेय है, वह ज्ञाता रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। सब कुछ शिवात्मक हो जाता है ॥ ११ ॥

मन में यह निश्चयात्मक अवधारणाही बना लेनी चाहिये कि, यह अवस्था शिवोपद्वलक अवस्था है। इसमें रूप का हो उद्वलन होता है। रूपस्थ अवस्था की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह उपलब्धि स्थूल पिण्ड के आश्रय पर ही निर्भर है। इसका नित्य अभ्यास अनवरत करना चाहिये ॥ १२ ॥

इस अवस्था में योगी की चार प्रकार की स्तरीयता देखने में आती है। पहले स्तर पर योगी स्थूल पिण्ड में रहते हुए भक्ति की अभिन्नता का अनुभव करता है। द्वितीय अवस्था में आभ्यन्तर पिण्ड की अनुभूति उसे होती है। भक्ति का तादात्म्य भाव वहाँ भी स्फुरित रहता है ॥ १३ ॥

---

१. ग० पु० यत्र त्विति पाठः ।

भौतिकं बाह्यमिच्छन्ति द्वितीयं चातिवाहिकम् ।
तत्राद्योपाश्रयाद्योगी ससंवित्तिरपि स्फुटान् ॥ १४ ॥
बाह्यार्थान्संप्रगृह्णाति किञ्चिदाध्यात्मिकानपि ।
द्वितीयोपाश्रयात्तत्त्वभावार्थान्संप्रपद्यते ॥ १५ ॥
ईक्षते च स्वदेहान्तः पीठक्षेत्रादिकं स्फुटम् ।
स्वरूपालोचनादस्य यत्किञ्चिदुपजायते ॥ १६ ॥
तत्र चेतः स्थिरीकुर्वंस्तदेव सकलं लभेत् ।
तेन तत्र न कुर्वीत चैतदुत्तमवाञ्छया ॥ १७ ॥

यह बाह्य पिण्ड ही भौतिक पिण्ड माना जाता है। दूसरा आभ्यन्तर पिण्ड आतिवाहिक होता है। यह स्थूल पिण्ड के स्थौल्य के संस्कार से संस्कृत रहता हुआ भी इससे उन्मुक्त स्तर का होता है। इसमें बाह्य पिण्ड स्तर के ऊपर आन्तर उपाश्रयी योगी संवित्ति के बावजूद बाह्यार्थ से ही प्रभावित रहता है ॥ १४ ॥

उस बाह्यार्थ संवेदन में रहते हुए भी उसमें एक विशेषता के दर्शन होते हैं। वह कभी आध्यात्मिक अनुभूतियों से भर जाता है। वहीं आभ्यन्तर अवस्था में योगी तत्त्वभाव का दर्शन कर लेता है ॥ १५ ॥

आतिवाहिक देह की अनुभूति के स्तर पर विराजमान योगी स्थूल देह के अन्त को देखने में सक्षम हो जाता है। वह देह सम्बन्धी समस्त पीठों और क्षेत्रों के दर्शन में समर्थ हो जाता है। पीठों के अनेक भेद शास्त्रों में वर्णित है। स्वाध्यायशील व्यक्ति को उन सन्दर्भों का ज्ञान रहना चाहिये। विस्तार-भय से यहाँ देना सम्भव नहीं है।

अपने स्वात्म के 'स्व'रूप का दर्शन दुर्लभ होता है। हम सभी के शरीर के साथ 'स्व' के अतिरिक्त अन्य का समायोजन अधिक मात्रा में है। इसका ज्ञान योगी के लिये आवश्यक हैं। जितना भी हो जाय और जो कुछ भी हो जाय, अपनी स्तरीयता पर निर्भर करता है ॥ १६ ॥

अनुभूति के इस स्तर पर जो कुछ नये आयाम की तरह योगी में उत्पन्न हुआ उत्पन्न होता है, उसमें चित्त को स्थिर करना चाहिये। चित्त के स्थिर होते ही वे अनुभूतियाँ मानों प्रत्यक्ष हो जाती हैं। सत्य का मानो साक्षात्कार सा होने लगता है, वहाँ उसी भाव का आनन्द लेना चाहिये। ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये कि, हमें इससे भी उत्तम कुछ मिले ॥ १७ ॥

पिण्डद्वयविनिर्मुक्ता किञ्चित्तद्वासनान्विता ।
विज्ञानकेवलान्तःस्था पदमित्यभिधीयते ॥ १८ ॥

यत एतामनुप्राप्तो विज्ञानक्रमयोगतः ।
रूपोदयातिविज्ञानपदत्वं प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

एतच्चतुर्विधं ज्ञेयं चतुर्धार्थप्रतिश्रयात् ।
स च तत्त्वादिसंवित्तिपूर्वस्तत्पतितावधिः ॥ २० ॥

अभी तक की उभय प्रकारक स्तरीयता का ही वर्णन किया गया है। इस श्लोक में श्लोक १३ में चर्चित चर्तुभेदत्व के शेष दो स्तरों का वर्णन करने जा रहे हैं। उपर्युक्त दो पिण्डों के स्वरूप पर श्लोक दो से श्लोक १७ तक प्रकाश डाला गया है। इन दोनों से विनिर्मुक्त किन्तु उनको संस्कारवादिता से कुछ-कुछ समन्वित रहते हुए भी एक नयी स्तरीयता का उदय हो जाता है, जिसे विज्ञान-केवल आत्माओं की उच्च अवस्था कह सकते हैं। उसको हम 'पद' संज्ञा से जान सकते हैं। शास्त्र उसे पद ही कहता है ॥ १८ ॥

यह अवस्था यों ही नहीं मिल जाती, वरन् इसमें योगविज्ञान के क्रमिक अभ्यास और उत्कर्षशील अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। इसके बाद ही 'पद' की प्राप्ति होती है। यहाँ आकर जीवन में एक नये प्रकाश का उदय होता है। इसे 'रूपोदयातिविज्ञानपदत्व' कहते हैं। यह सौभाग्य का विषय माना जाता है कि, 'पद' भाव में प्रतियोगी रूपमात्र को विज्ञानातिशयस्तरीय पदता को प्राप्त कर पृथिवी का प्रिय पुत्र बनकर धरा-धाम को धन्य बना देता है ॥ १९ ॥

श्लोक १३ में उक्त चतुर्भेदमयता यहाँ आकर पूरी होती है। यह भेद भिन्नता केवल पद और रूप नामक दो भेदों पर ही निर्भर है। यह चतुर्विधत्व तत्त्ववादिता और शास्त्र के रहस्य की संवित्ति में ही चरितार्थ होती है और तब तक यह भेद-मयता रहती है, जब तक योगी इसी प्रकार के संवित्ति-असंवित्ति के ऊहापोह में ही पतित रहता है। यहाँ पतित शब्द पापी अर्थ में नहीं प्रयुक्त है, वरन् उसकी अर्थात् योगी को उस अवस्था का ज्ञापन कर रहा है, जहाँ वह अभी भेदवाद का परित्याग नहीं कर पाया होता है। इससे निकलना ही श्रेयस्कर है ॥ २० ॥

पदभावविनिर्मुक्ता किञ्चित्तदनुवर्जिता ।
अवस्था स्वस्वरूपस्य प्रकाशकरणी यतः ॥ २१ ॥

तेन सारूप्यमित्युक्ता रूपस्थं यत्तदान्वितम् ।
उदितादिप्रभेदेन तदप्युक्तं चतुर्विधम् ॥ २२ ॥

ज्ञानोदया च देवेशि ममत्वात्तत्फलप्रदम् ।
अमुना क्रमयोगेन अन्तरा येषु संदधत् ॥ २३ ॥

चेतः शुद्धमवाप्नोति रूपातीतं परं पदम् ।
चतुर्विधं तदप्युक्तं संवित्तिफलभेदतः ॥ २४ ॥

योगी को पद भाव से विनिर्मुक्त होना ही चाहिये। पदभाव का संकोच पूर्णतया निरस्त करने पर ही, उसकी किंचित्तदनुवर्त्तिता समाप्त होनी चाहिये। 'स्व' रूप के उदय की अवस्था ही वस्तुतः प्रकाशकरणी मानी जाती है। ज्ञान का प्रकाश करने वाली शक्ति को शास्त्र में प्रकाशकरणी कहते हैं। यह प्रकाशकरणी शक्ति ही 'स्व' स्वरूप का प्रकाशन कर सकती है। इसी अवस्था को पद भाव से विनिर्मुक्त योगी प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयास करता है ॥ २१ ॥

इस अवस्था का सारूप्य ही रूपस्थ दशा है। रूपस्थ दशा प्रकाशकरणी अवस्था की उपलब्धि है। यह भी चार भेदों से भिन्न होती हैं। उनमें सर्वप्रथम अवस्था का नाम उदित अवस्था है। इसमें रूपस्थता का उदय होता है ॥ २२ ॥

इसके बाद जिस अवस्था का उदय होता है, उसे ज्ञानोदया कहते हैं। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, यह मेरी प्रिय अवस्था है। इसमें मेरे ही ज्ञान का उदय योगी भक्त के हृदय में होता है। यह मेरे ज्ञान का ही फल देने वाली अवस्था है। वह एक क्रम है। सर्वप्रथम उदित अवस्था उत्पन्न हुई। उसके बाद अभ्यास-रत रहते हुए योगी में ज्ञानोदया का उदय हुआ। इसमें आन्तर अनुसन्धान की महती सक्रियता योगी को और भी उच्चता की ओर अग्रसर कर देती है ॥ २३ ॥

इस अनवरत अनुसन्धान से चित्त में एक प्रकार की नयी पावनता का आविर्भाव होता है। इसे शास्त्र की भाषा में 'शुद्धि' कहते हैं। इसे रूपातीत पद कहते हैं। यह उत्कृष्ट पद माना जाता है। यह भी संवित्ति जन्य फलवत्ता के आधार पर चार प्रकार का होता है ॥ २४ ॥

त्रिविधं तत्समभ्यस्य सर्वसिद्धिफलेच्छया ।
चतुर्थात्तु तनुं त्यक्त्वा तत्क्षणादपवृज्यते ।। २५ ।।
इति पिण्डादिभेदेनन शिवज्ञानमुदाहृतम् ।
योगाभ्यासविधाने मन्त्रविद्यागणं शृणु ।। २६ ।।
पूर्वोक्तविधिसंनद्धः प्रदेशे पूर्वचोदिते ।
नाभ्यादिपञ्चदेशानां परार्णं क्वापि चिन्तयेत् ।। २७ ।।

समस्त सिद्धियों की उपलब्धि के उद्देश्य से पहली तीन अवस्थाओं का अभ्यास अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। इसके उपरान्त चतुर्थ भाव में प्रवेश प्राप्त होता है। यह परम सौभाग्य का विषय माना जाता है कि, चतुर्थ मे प्रविष्ट योगी शरीर त्याग होते ही मुक्ति को उपलब्ध हो जाता है। उसे जीवित रहते हुए भी अपवर्ग तो प्राप्त रहता ही है। त्यक्त्वा की जगह जित्वा पाठ का भाव शैवमहाभाव की अभिव्यक्ति के अनुरूप होता ।। २५ ।।

यहाँ तक अर्थात् पिण्ड से लेकर रूपातीत संवित्ति और अपवर्ग पर्यन्त जो वर्णन किया गया है, यह योगियों के अभ्यास की एक आध्यात्मिक यात्रा है। इनको पार कर लेने वाला योगी शिवैक्य की चिन्मयता में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह सारा प्रकरण 'शिवज्ञान' प्रकरण है। योगाभ्यास के विधि विधान से यह महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।। २६ ।।

पहले याग प्रदेश के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। उसी तरह का यज्ञ स्थान निर्धारित करना चाहिये। पहले ही की तरह योग-विधि पूरी करने में दक्षता, सहिष्णुता और धैर्य की आवश्यकता होती है। उस पर अर्थात् आसन पर विराजमान होना चाहिये।

आसन पर बैठने के उपरान्त चक्र प्रक्रिया प्रारम्भ करनी चाहिये। साधक पूर्वोक्त विधि से सन्नद्ध है। अर्थात् अब तक इस विषय में बताये गये मार्ग का अभ्यास कर साधना-विधि में दक्ष हो गया है और आगे के अभ्यास के लिये तैयार हैं। अब उसे नाभि से प्रारम्भ कर द्वादशान्त पर्यन्त पाँच चक्रों की यात्रा का अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इसी क्रम में परार्ण का चिन्तन उसको उत्कर्ष के शिखर पर आरूढ़ कर देता है।

यहाँ पाँच देश और परार्ण विचारणीय है। यद्यपि यह अत्यन्त सुगोप्य है फिर भी साधकों के कल्याण के उद्देश्य से इसे उद्घाटित कर रहा हूँ। वे चक्र क्रमशः इस प्रकार हैं—

स्वरूपेण प्रभाभारप्रकाशिततनूदरम् ।
दीप्तिभिस्तस्य तीव्राभिराब्रह्मभुवनं ततः ॥ २८ ॥

एवं संस्मरतस्तस्य दिवसैः सप्तभिः प्रिये ।
रुद्रशक्तिसमावेशः सुमहान्संप्रजायते ॥ २९ ॥

---

१. **नाभि**—इसे मातृकेन्द्र, पौर्णमास केन्द्र और मणिपूर चक्र भी कहते हैं। इसे साधक सिद्ध करने के बाद ही आगे बढ़ सकता है।

२. **हृत्**—मेरुदण्ड में हृदय केन्द्र अवस्थित है। इसका प्रतिबिम्ब ही अनाहत चक्र कहलाता है।

३. **विशुद्ध**—यह षडोश-दल कमल वाला चक्र स्वर-केन्द्र माना जाता है। मेरुदण्ड का ऊपर से नीचे वाला दूसरा पड़ाव है। भुवर्लोक की सीमा यहाँ समाप्त हो जाती है।

४. **आज्ञाचक्र**—यह शरीरस्थ स्वः भाग का मुख्य केन्द्र हैं। द्विदल चक्र भ्रूमध्य का त्रैनेत्रिक क्षेत्र है। यहाँ से ऊपर निरोधिका तक माया का राज्य समाप्त हो जाता है। इसके ऊपर नाद क्षेत्र है। वहाँ सुषुम्ना समाप्त हो जाती है।

५. **द्वादशान्त**—यहाँ तक जाने के लिये नाद, नादान्त, शक्ति, समना और उन्मना की आकाश-यात्रा योगी करता है। उन्मना का परिवेश द्वादशान्त क्षेत्र में ही आता है।

६. **परार्ण**—तन्त्र शास्त्र का सर्वोत्तम बीज मन्त्र है। कूटभाषा में जीव के साथ चतुर्दश धाम लगाकर बिन्दु के योग करने पर यह बनता है। अपने गुरुदेव से इसे जानना चाहिये।

इसके रहस्यात्मक महत्त्व को भगवान् 'क्वापि ?' प्रश्नात्मक चमत्काराशय वाचक शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। 'चिन्तयेत्' क्रिया विधि का निर्देश कर रही है ॥ २७ ॥

यह परार्ण बीजमन्त्र 'स्व' रूप में प्रभा की भास्वरता से भरपूर है। इसकी पूरी आकृति ललित आलोक से ललाम लगती है। इसके उदर में प्रकाश का विमर्श उद्वेलित होता रहता है। इसकी तीव्र दीप्तियों से आब्रह्माण्ड सारा भुवन मण्डल आमण्डित होता रहता है ॥ २८ ॥

इस परार्ण के चिन्तन में अनवरत संलग्न योगी यदि मात्र सात दिन तक लगातार इसे करता रहता है, तो उसका सुपरिणाम उसे द्रुत उपलब्ध होने लगता

आविष्टो बहुवाक्यानि संस्कृतादीनि जल्पति ।
महाहास्यं तथा गेयं शिवारुदितमेव च ॥ ३० ॥

करोत्याविष्टचित्तस्तु न तु जानाति किंचन ।
मासेनैवं यदा मुक्तो यत्र यत्रावलोकयेत् ॥ ३१ ॥

तत्र तत्र दिशः सर्वा ईक्षते किरणाकुलाः ।
यां यामेव दिशं षड्भिर्मासैर्युक्तस्तु वीक्षते ॥ ३२ ॥

है। सर्वप्रथम उसमें रुद्रशक्ति का समावेश हो जाता है। रुद्र और शक्ति कहिये या रुद्र की शक्ति कहिये दोनों समावेश एक ही हैं। क्योंकि रुद्र से रुद्र की शक्ति का नान्तरीयक सम्बन्ध हैं। श्री भगवान् ने इसे सुमहान् कहा है। एक तो महान् स्वयं महान् हैं। उसमें 'सु' उपसर्ग महत्ता में सौन्दर्यात्मक चमत्कार भर रहा है। इसी तरह 'सम्प्रजायते' क्रिया में भी 'सम्' और 'प्र' दोनों उपसर्ग 'जायते' क्रिया शक्ति में साधना के साफल्य की ध्रुवता का आध्मान कर रहे हैं। अर्थात् यह सात दिन की साधना ही सत्यलोक में प्रतिष्ठित कर देती है ॥ २९ ॥

इसमें आविष्ट योगी अनेक संस्कृत आदि भाषाओं में संस्कारमय वाक्यों का उच्चारण करने लगता है। भले वह उन भाषाओं से परिचित न हो। इसी आवेश में वह कभी अट्टहास भी करने लगता है, सुन्दर गान गाने लगता है और इसी आवेश में वह शिवारुदित से भी लोगों को डरा तक देता है। यह सारी क्रिया उसके आवेश की परिचायिका ही है ॥ ३० ॥

आवेश के प्रभाव से भावित भक्त बोलता तो है, किन्तु उसे यह पता नहीं रहता कि, मैं क्या बोल रहा हूँ? अधिक आवेश की यह दशा अपने आप समाप्त होती है। एक मास तक यह दशा रहती है।

इसके बाद भी उक्त बीज मन्त्र के चिन्तन से इसे विरत होना चाहिये। वह इसे एक मास लगातार करता है, तो आवेश के एक मास के पूरा हो जाने पर जहाँ भी दृष्टि डालता है, एक विचित्र अनुभव उसे होता है ॥ ३१ ॥

उसे चारों ओर चारों दिशायें प्रकाश की किरणों से व्याप्त दीख पड़ती हैं। चतुर्दिक प्रकाश की प्रखर प्रभा की भास्वरता ही दृष्टिगोचर होती हैं। इसी में छहः मास तक का अपना समय लगा देने वाला योगी जिधर ही जिधर दृष्टि दौड़ाता है, उसे नाना प्रकार की आकृतियाँ भी दिखलायी पड़ती हैं। सभी दिशाओं में

नानाकाराणि रूपाणि तस्यां तस्यां प्रपश्यति ।
न तेषु संदधेच्चेतो न चाभ्यासं परित्यजेत् ।। ३३ ।।

कुर्वन्नेतद्विधं योगी भीरुरुन्मत्तको भवेत् ।
वीरः शक्तिं पुनर्याति प्रमादात्तद्गतोऽपि सन् ।। ३४ ।।

वत्सराद्योगसंसिद्धिं प्राप्नोति मनसेप्सिताम् ।
परापरामथैतस्या अपरां वा यथेच्छया ।। ३५ ।।

सद्भावं मातृसंघस्य हृदयं भैरवस्य वा ।
नवात्मानमपि ध्यायेद्रतिशेखरमेव वा ।। ३६ ।।

समान रूप से यह उसे दीख पड़ने लगता है । यहाँ बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है । न तो उन आकृतियों पर ध्यान ही केन्द्रित करना चाहिये और न ही इस अभ्यास को ही छोड़ना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, योगी साधक इस प्रकार इस अध्यवसाय साध्य योगाभ्यास को करते हुए कभी डर भी सकता है । इसी तरह वह मृत्यु के समान भयप्रद उन्मत्त भी हो सकता है । यह उसके प्रमाद के कारण हो जाता है । प्रमाद-पूर्ण जपादि अभ्यास से भी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । किन्तु यह याद रखने की बात है कि, योगी कुछ भोग भोग लेने पर अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त कर पुनः स्वस्थ हो जाता है और परमानन्द का भागी बनता है ॥ ३४ ॥

एक वर्ष तक इस साधना में समय लगाने वाले योगी के विषय में भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! वह मनसेप्सित सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है । उसे परापरा विद्या का उद्योत तो प्राप्त होता ही है, अपरा की भी यथेच्छ अधिगति उसे हो जाती है ॥ ३५ ॥

इस साधक के हृदय में मातृसद्भाव[१] की संभूति-भव्यता भर जाती है । भैरव सद्भाव[२] का वह अधिकारी बन जाता है । वह नवात्मक[३] दृष्टि से भी आराधना में समर्थ हो जाता है । उसे रतिशेखर[४] मन्त्र का भी अधिकार मिल जाता है ॥ ३६ ॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक ३।१७७; २. तदेव ६।२१८
३. तदेव ५।१५।२२, १।१११; ४. तदेव भाग ५।१५।२४३

अघोर्यादिष्टकं वापि माहेश्यादिकमेव वा।
अमृतादिप्रभेदेन रुद्रान्वा शक्तयोऽपि वा ॥ ३७ ॥
सर्वे तुल्यबलाः प्रोक्ता रुद्रशक्तिसमुद्भवाः।
अथवामृतपूर्णानां प्रभेदः प्रोच्यते परः ॥ ३८ ॥
प्राणस्थं परयाक्रान्तं प्रत्येकमपि दीपितम्।
विद्यां प्रकल्पयेन्मन्त्रं प्राणाक्रान्तं परासनम् ॥ ३९ ॥

अघोर मन्त्र के निर्दिष्ट देवों को शक्तियों के अष्टक को अघोर्यष्टक[1] कहते हैं। इसी तरह कवच वर्णित सात देवियों के साथ एक और देवी को जोड़ने पर माहेश्यष्टक[2] कहते हैं। इसी रुद्र के अमृत आदि प्रभेद से रुद्र भेद भी निश्चित हैं। इनके साथ इनकी शक्तियाँ भी आराध्य मानी जाती हैं। इन समस्त शक्तियों और शक्तिमन्तों का ध्यान ऐसे योगी के लिये आवश्यक होता है। माहेशी, ब्राह्मी कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, वाराही, चामुण्डा और योगेशी (महालक्ष्मी) ये आठों माहेश्यष्टक कहलाता है। इसी ग्रन्थ (३।१४) में यह वर्णित हैं। अवर्ग–अघोरा, कवर्ग–परमघोरा, चवर्ग–घोररूपा, टवर्ग–घोरमुखा, तवर्ग–भीमा, पवर्ग–भीषणा, यवर्ग–वमनी, शवर्ग–पिबनी–यह अघोराष्टक शक्तियाँ हैं। इसी के साथ अमृतादि रुद्र की चर्चा भी भगवान् कर रहे हैं। इनका वर्णन इसी ग्रन्थ (३।१७-१९) में किया गया है। ये १६ होते हैं। इसी नाम की इनकी शक्तियाँ भी होती हैं। इन समस्त देवों के दर्शन साधक योगी एक साल से अधिक की साधना में प्राप्त कर सकता है ॥३७॥

ये सभी शक्तिमन्त भैरव और रुद्र संज्ञक देव समान बल वाले माने जाते हैं। ये सभी बीज योनि समुद्भव शक्तिमन्त हैं। यह पूर्व के कथन (३।२४-२५) से प्रमाणित हैं। इसी तरह अमृतपूर्ण रुद्र के भेद-प्रभेद भी इस दृष्टि से विचारणीय हैं। इसे 'पर' संज्ञा से विभूषित किया गया है ॥ ३८ ॥

प्राणस्थ रुद्र का प्रकल्पन भी साधना का विषय है। यह परातत्त्व से आक्रान्त होता है। वस्तुतः प्राण सूर्य ही परा के प्रभाव से सतत संवलित रहता है। इसके सभी प्रभेद परा दीप्ति से दीप्तिमन्त रहते हैं। एतत्सम्बन्धिनी विद्या भी पराविद्या ही होती है। इसे प्राणविद्या भी कह सकते हैं। इसका परामन्त्र सर्वमन्त्रवरेण्य मन्त्र होता है। वह भी प्राणाक्रान्त मन्त्र माना जाता है। इस सन्दर्भ में परासन (त्रिशूलाब्ज) विज्ञान का भी अत्यन्त महत्त्व है। वस्तुतः सदाशिव पर्यन्त आसन-विज्ञान का परिवेश प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

---

१. मा० वि० ३।१३, श्रीत० ६।१६।१५५; २. तदेव १।१११, स्वच्छन्द प० १।३४-३१

द्वादशारस्य चक्रस्य षोडशारस्य वा स्मरेत् ।
अष्टारस्याथ वा देवि तस्य त्रेधा शतस्य वा ॥ ४० ॥

षडरस्याथ वा मन्त्री यथा सर्वं तथा शृणु ।
संक्षेपादिदमाख्यातं सार्धं चक्रशतद्वयम् ॥ ४१ ॥

एतत्त्रिगुणतां याति स्त्रीपुंयामलभेदतः ।
शान्त्यादिकर्मभेदेन प्रत्येकं द्वादशात्मताम् ॥ ४२ ॥

दो प्रकार के द्वादशार चक्र इस शरीर में ही अवस्थित हैं।

१. एक द्वादशार चक्र अनाहत-चक्र होता है। इसमें क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट और ठ—ये १२ वर्ण रूप अरे होते हैं।

२. दूसरा द्वादशार वाम नेत्र भी माना जाता है। इसमें दश इन्द्रियाँ, बुद्धि और मन तत्त्व[1] माने जाते हैं। भैरवदेव भी द्वादशार मत चक्र नायक माने जाते हैं।

षोडशार चक्र भी शरीर में दो संख्या में हैं—१. विशुद्ध चक्र है। इसमें सोलह स्वर अर रूप में विराजमान हैं। २. दक्ष नेत्र भी षोडशार होता है। अष्टार चक्र भ्रूमध्य माना जाता है। इसमें त्रैनेत्रिक शक्ति का सामरस्य ओत-प्रोत होता है।

इसके भी तीन भेद होते हैं। कई अन्य तन्त्र ग्रन्थों में इसके सौ भेद भी स्वीकार करते हैं। सौ भेद का तात्पर्य शतार चक्र से लेना चाहिये। इसे षडर भी मानते हैं। इन सबके विषय में साधक को जानकारी रखनो चाहिये ॥ ४० ॥

मन्त्र-साधक के हित के उद्देश्य से भगवान् शङ्कर ने इस प्रकार प्रकाश प्रक्षेप करने का अनुग्रह किया है। उन्होंने देवी पार्वती को इसे सुनाया। उनके अनुसार संक्षेप से उन दो सौ पचास ऐसे चक्रों के सम्बन्ध में कहने की कृपा की है, जिनको इसी सन्दर्भ में बतलाना आवश्यक था ॥ ४१ ॥

ये सभी स्त्री, पुरुष और यामल लिङ्गों की दृष्टि से त्रिगुण संख्यक माने जाते हैं। शान्ति आदि कर्मों की दृष्टि से प्रत्येक के १२ भेद और भी हो जाते हैं। इन भेदों पर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥ ४२ ॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक १।१११।

दक्षश्चण्डो हरः शौण्डी[1] प्रमथो भीममन्मथौ ।
शकुनिः सुमतिर्नन्दो गोपालोऽथ पितामहः ॥ ४३ ॥

नन्दा भद्रा जया काली कराली विकृतानना ।
क्रोष्टकी भीममुद्रा च वायुवेगा हयानना ॥ ४४ ॥

गम्भीरा घोषणी चैव द्वादशैताः प्रकीर्तिताः ।
आग्नेय्यादिचतुष्कोणा ब्रह्माण्याद्या अपि प्रिये ॥ ४५ ॥

सिद्धिर्ऋद्धिस्तथा लक्ष्मीर्दीप्तिर्माला शिखा शिवा ।
सुमुखी वामनी नन्दा हरिकेशी हयानना ॥ ४६ ॥

विश्वेशी च सुमाख्या[2] च एता वा द्वादश क्रमात् ।
एतासां वाचका ज्ञेयाः स्वराः षण्ठविवर्जिताः ॥ ४७ ॥

दक्ष, चण्ड, हर, शौण्डी, प्रमथ, भौम, मन्मथ, शकुनि, सुमति, नन्द, गोपाल और पितामह ये १२ नाम उन शक्तिमन्तों के हैं, जिनके साथ द्वादश शक्तियों के नाम भी गिनाये गये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

नन्द्रा, भद्रा, जया, काली, कराली, विकृतानना, क्रोष्टकी भीममुद्रा, वायुवेगा और हयानना, गम्भीरा और घोषणी। ये ही १२ देवियाँ हैं। ये सभी आग्नेय कोण के क्रम से सभी दिशाओं में प्रतिष्ठित हैं। ब्राह्मी आदि देवियाँ भी इसी तरह प्रतिष्ठित हैं ॥ ४३-४५ ॥

इसी तरह अन्य द्वादश देवियों के नाम भी सुप्रतिष्ठित हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—

सिद्धि (ऋद्धि), लक्ष्मी, दीप्ति, माला, शिखा (शिवा), सुमुखी, वामनी, नन्दा, हरिकेशी, हयानना, विश्वेशी और सुमा—ये द्वादश देवियाँ भी क्रमशः अग्नि, यम, निर्ऋति, पश्चिम, वायु, उत्तर, ईशान, पूरब, ऊर्ध्व, अधः और अनन्त एवं ब्रह्मा के स्थान रूप १२ स्थानों में प्रतिष्ठित हैं।

इन शक्तियों के प्रतीक द्वादश स्वर भी माने जाते हैं। यों स्वर तो सोलह होते हैं, किन्तु षण्ठ चार स्वर (ऋ ॠ ऌ ॡ) निकाल देने पर १२ स्वर ही शेष रहते हैं ॥ ४६-४७ ॥

---

१. क० पु० हरिश्चण्डोति पाठः ।   २. ग० पु० समाख्या चेति पाठः ।

षोडशारेऽमृताद्याश्च स्त्रीपुंषाठप्रभेदतः ।
श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मौ च त्रिमूर्तिः शर्वरीश्वरः ॥ ४८ ॥

अर्घेशो भारभूतिश्च स्थितिः स्थाणुर्हरस्तथा ।
झिण्ठीशो भौतिकश्चैव सद्योजातस्तथापरः ॥ ४९ ॥

अनुग्रहेश्वरः क्रूरो महासेनोऽथ षोडश ।
सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः स्वधा धृतिः ॥ ५० ॥

दीप्तिः पुष्टिर्मतिः कीर्तिः संस्थितिः सुगतिः स्मृतिः ।
सुप्रभा षोडशी चेति श्रीकण्ठादिकशक्तयः ॥ ५१ ॥

षोडशारे स्वरा ज्ञेया वाचकत्वेन सर्वतः ।
अघोराद्यास्तथाष्टारे अघोर्याद्याश्च देवताः ॥ ५२ ॥

षोडशार में भी १६ शक्तिमन्तों और १६ शक्तियों की प्रतिष्ठा मानी जाती है। यह शक्तिमन्त रूप पुरुष तत्त्व और शक्ति रूप स्त्री तत्त्व का सामरस्य है जो इनमें उल्लसित हैं। उन शक्तिमन्तों के नाम इस प्रकार हैं—

श्रीकण्ठ, अनन्त, सूक्ष्म, त्रिमूर्त्ति, शर्वरीश्वर, अर्घेश, भारभूति, स्थिति, स्थाणु, हर, झिण्ठीश, भौतिक-सद्योजात, अनुग्रहेश्वर, क्रूर और महासेन ये सोलह हैं। इसी तरह अमृत आदि शक्तिमन्त भी अपनी स्त्री-शक्तियों के साथ षोडशार में प्रतिष्ठित माने जाते हैं।

इसी तरह शक्तियों के नाम भी इस क्रम से हैं—१. सिद्धि, २. ऋद्धि, ३. द्युति, ४. लक्ष्मी, ५. मेधा, ६. कान्ति, ७. स्वधा, ८. धृति, ९. दीप्ति, १०. पुष्टि, ११. मति, १२. कीर्त्ति, १३. संस्थिति, १४. सुगति, १५. स्मृति, १६. सुप्रभा। ये भी संख्या में १६ ही हैं। श्रीकण्ठ आदि की शक्तियाँ भी इसी तरह प्रतिष्ठित मानी जाती हैं ॥ ४८-५१ ॥

षोडशार में १६ स्वर भी इसी तरह वाचक रूप से प्रतिष्ठित माने जाते हैं। सोलह स्वर प्रसिद्ध हैं। ये मातृका वर्ण माला में अकार से लेकर अःकार तक १६ माने जाते हैं। यही स्थिति अष्टार की भी है। अष्टार में अघोरी आदि आठ शक्तियां और अघोर आदि आठ देव भी प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ५२ ॥

माहेश्याद्यास्तथा देवि चतुर्विंशत्यतः शृणु ।
नन्दादिकाः क्रमात्सर्वा ब्रह्माण्याद्यास्तथैव च ॥ ५३ ॥

संवर्तो लकुलीशश्च भृगुः श्वेतो बकस्तथा ।
खड्गी पिनाकी भुजगो[1] नवमो बलिरेव च ॥ ५४ ॥

महाकालो द्विरण्डश्च[2] च्छगलाण्डः शिखी तथा ।
लोहितो मेषमीनौ च [3]त्रिदण्ड्याषाढिनामकौ ॥ ५५ ॥

उमाकान्तोऽर्धनारीशो दारुको लाङ्गली तथा ।
तथा सोमेशशर्माणौ चतुर्विंशत्यमी मताः ॥ ५६ ॥

कादिभान्ताः परिज्ञेया अष्टारे याद्यमष्टकम् ।
मकारो बिन्दुरूपस्थः सर्वेषामुपरि स्थितः ॥ ५७ ॥

माहेशी आदि, नन्दा आदि, ब्राह्मी आदि ये २४ देवियाँ भी अष्टार के अरों में विद्यमान रहकर बिम्ब को व्यवस्थित करती हैं ॥ ५३ ॥

इनके साथ २४ शक्तिमन्त भी वहाँ प्रतिष्ठित माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

प्रथम अष्टक—संवर्त्त, लकुलीश, भृगु, श्वेत, बक, खड्गी, पिनाकी, भुजग।

द्वितीय अष्टक—बलि, महाकाल, द्विरण्ड, छगलाण्ड, शिखी, लोहित, मेष मीन।

तृतीय अष्टक—त्रिदण्डि, आषाढि, उमाकान्त, अर्धनारीश, दारुक, लाङ्गली सोम और ईश।

ये सब मिलकर चौबीस होते हैं ॥ ५४-५६ ॥

इनके वाचक व्यञ्जन हैं। ये क से लेकर भ तक माने जाते हैं। अष्टार के मुख्य वाचक अन्तःस्थ और ऊष्मा वर्ण मिलाकर आठ व्यञ्जन वर्ण हैं। मकार अनुस्वार रूप में परिवर्तित होकर सबके शिर का मुकुटमणि बनकर सबके शिर की शोभा का संवर्धन करता है ॥ ५७ ॥

---

१. क० पु० भुजगी नवमा दालिरित्येवंविधः पाठः । २. क० पु० दुरण्डश्चेति पाठः ।
३. क० पु० त्रिदण्डाषाढेति पाठः ।

जुंकारोऽथ तथा स्वाहा षडरे षट् क्रमेण तु ।
बलिश्च बलिनन्दश्च दशग्रीवो हरो हयः ॥ ५८ ॥
माधवश्च महादेवि षष्ठः संपरिकीर्तितः ।
विश्वा विश्वेश्वरी चैव हाराद्री वीरनायिका ॥ ५९ ॥
अम्बा गुर्वीति योगिन्यो बीजैस्तैरेव षट् स्मृताः ।
अन्योन्यवलिताः सर्वे स्वाम्यावरणभेदतः ॥ ६० ॥
अकारादिक्षकारान्ताः सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।
ध्यानाराधनयुक्तानां योगिनां मन्त्रिणामपि ॥ ६१ ॥

षडर में जुं (स्वाहा के साथ माहेश्वर बीज) मध्य में शाश्वत उल्लसित हैं। इसमें प्रत्येक अर में क्रमशः बलि, बलिनन्द, दशग्रीव, हर, हय और माधव नामक शक्तिमन्त प्रतिष्ठित हैं। विश्वा, विश्वेश्वरी, हाराद्री, वीरनायिका, अम्बा और गुर्वी नामक योगिनी शक्तियाँ भी वहाँ समायोजन कर विद्यमान रहती हैं। ये सभी अपने-अपने बीज मन्त्रों के साथ विराजमान रहती हैं। ये सभी अन्योन्य वलित एक दूसरे के प्रति पूर्णतया समर्पित हैं। इनके स्वामी भी इन्हें आवृत कर वहाँ उल्लसित रहते हैं ॥ ५८-६० ॥

'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त मातृका वर्णमाला के ५० अक्षर हैं। इनमें १६ स्वर तथा ३४ व्यञ्जन वर्ण माने जाते हैं। ये वर्ण स्वयं परावाक् के प्रतीक हैं। ये सभी सिद्धियों को प्रदान करने में तत्पर रहते हैं। ध्यान और आराधना में संलग्न योगियों और मन्त्रों को सिद्ध करने में लगे मन्त्री साधकों के ये सर्वस्व रूप हैं ॥ ६१ ॥

उक्त सभी साधना विधियाँ एक से एक बढ़कर अपना महत्त्व रखती हैं। उनका प्रातिस्विक अभ्यास तदनुकूल परिणाम से साधक को साध्य की ओर अग्रसर करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि इसे और भी गहरायी से सोचा जाय, तो भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, एक इन सबसे विलक्षण विधि भी है। वह है, सभी चक्रों के मध्य में अवस्थित विद्या की साधना। इस विद्या के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि, साधक जैसी अभिलाषा करता है और उसका स्मरण करता हुआ इसका ध्यान करता है अथवा, ध्यान करते हुए जप करता है अथवा, उस मन्त्र का जप करते हुए और तद्विषयक उस विद्या का ध्यान करता है, तो अवश्य ही विशिष्ट सिद्धियों को प्राप्त करता है ।

अथवा सर्वचक्राणां मध्ये विद्यां यथेप्सिताम् ।
मन्त्रं वा पूर्वमुद्दिष्टं जपन्ध्यायन्प्रसिद्ध्यति ॥ ६२ ॥
इति संक्षेपतः प्रोक्तं सर्वकामफलप्रदम् ।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे सर्वमन्त्रनिर्णयो नाम
विंशतितमोऽधिकारः ॥ २० ॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि परमेश्वर्यशालिनी पार्वति । तुमने जितनी भी जिज्ञासायें की है, उन्हें मैंने यहाँ कह कर संक्षेप रूप से तुमसे सुनाया । इसके अनुसार जो साधक आचरण करता है, मैं यह घोषणा करता हूँ कि, उसकी मनोकामना अवश्य पूरी होती है । यह सारी सिद्धि प्रदान करने वाली और काम्य कर्मों की पूर्त्ति करने वाली हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ ६२ ॥

परमेशमुखोद्‌भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
सर्वमन्त्रनिर्णय नामक बीसवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ २० ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥

अथ एकविंशतितमोऽधिकारः

अथातः परमं गुह्यं शिवज्ञानामृतोत्तमम् ।
व्याधिमृत्युविनाशाय योगिनामुपवर्ण्यते ॥ १ ॥

षोडशारे खगे चक्रे चन्द्रकल्पितकर्णिके ।
स्वरूपेण परां तत्र स्रवन्तीममृतं स्मरेत् ॥ २ ॥

सोः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेकनामकभाषाभाष्यसमन्वितम्

एकविंशतितमोऽधिकारः

[२१]

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, इन अन्य साधना विधियों के वर्णन के बाद मैं यहाँ योगियों के परम कल्याण के लिये अत्यन्त गुह्य अमृत के समान शैवज्ञान उद्घाटित कर रहा हूँ। इस ज्ञान के अनुसार आचरण करने वाला योगी समस्त व्याधियों से छुटकारा पा सकता है। वह मृत्युजित् हो सकता है। व्याधिजन्य मृत्यु का विनाश योगी कर सकता है। अतः अनवरत शिवयोग साधना के लिये यह जानना नितान्त आवश्यक है ॥ १ ॥

षोडशार चक्र विशुद्ध चक्र माना जाता है। इसमें १६ स्वर प्रत्येक दल में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसको विशुद्ध पद्म भी कहते हैं। यह 'खग' अर्थात् शुद्ध अध्वा के आकाश में विचरण करने का प्रेरक होता है। इस पद्म की कर्णिका चन्द्रमा के समान कान्ति युक्त होती है।

उसी कर्णिका में एक सर्वेश्वरी शक्ति का अधिष्ठान होता है। वह स्वरूप से पराशक्ति के समान मानी जाती है। यों पराशक्ति उन्मना में अवस्थित रहती हैं। यह परा सदृश शक्ति सोमतत्त्व समन्वित होती हैं। यहाँ योगी यह स्मरण करे कि,

पूर्वन्यासेन सन्नद्धः क्षणमेकं विचक्षणः ।
ततस्तु रसनां[1] नीत्वा लम्बके विनियोजयत् ।। ३ ।।
स्रवन्तममृतं दिव्यं चन्द्रबिम्बसितं[2] स्मरेत् ।
मुखमापूर्यते तस्य किञ्चिल्लवणवारिणा ।। ४ ।।
लोहगन्धेन तच्चात्र न पिबेत्किंतु निक्षिपेत् ।
एवं समभ्यसेत्तावद्यावत्तत्स्वादु जायते ।। ५ ।।
जराव्याधिविनिर्मुक्तो जायते तत्पिबंस्ततः ।
षड्भिर्मासैरनायासाद्वत्सरान्मृत्युजिद्भवेत् ।। ६ ।।

विशुद्ध पद्म चक्र को कर्णिका में अवस्थित वह सोमतत्त्व समन्वित शक्ति अमृतद्रव की वर्षा कर रही हैं । उस अमृत की फुहार से आन्तर तत्त्व अभिषिक्त हो रहे हैं ।। २ ।।

पूर्व में उक्त न्यास से शक्ति प्राप्त कर उस शक्ति से सन्नद्ध साधक अत्यन्त विचक्षण भाव से साधना में अवस्थित हो जाय । पूरी तरह सन्नद्ध होकर अपनी जोभ को उलट कर गले की ओर ले जाने का अभ्यास करे और अभ्यस्त हो जाने पर गले में लटकने वालो लम्बिका में योजित कर दे । यह विनियोजन महत्त्वपूर्ण साधना का ही एक अङ्ग माना जा सकता है ।। ३ ।।

वहाँ यह स्मरण करे कि, वहाँ ऊपर से अमृत द्रवित होकर रसना के अग्रभाग में मिल रहा है । उस अमृत का वर्ण चन्द्रबिम्ब के समान श्वेत है । वह दिव्यता से ओत-प्रोत है । उस समय साधक का मुँह कुछ खारे नमकीन द्रव-वारि से भर जाता है ।। ४ ।।

वह लोह गन्धो जल पीने योग्य नहीं होता । उसे गले के नीचे नहीं जाने देना चाहिये । अपितु उसका बाहर निक्षेप कर देना चाहिये । उसको थूक देना ही श्रेयस्कर होता है । यह अभ्यास तब तक अनवरत चालू रखना चाहिये, जब तक उसमें स्वाद न आ जाय । स्वादिष्ट जल आने लगना साधक की सफलता का द्योतक माना जाता है ।। ५ ।।

उस स्वादिष्ट स्राव में अमृतत्व मिश्रित रहता है । उसको पोने से साधक जरा और व्याधियों से मुक्त हो जाता है । जराप्रद कोई व्याधि नहीं होतो । जरा

१. ग० पु० रसनीं नोत्वेति पाठः ।
२. क० पु० बिम्बास्मितं स्मरेदिति पाठः ।

तत्र स्वादुनि संजाते तदाप्रभृति तत्रगम् ।
यदेव चिन्तयेद् द्रव्यं तेनास्यापूर्यते मुखम् ॥ ७ ॥

रुधिरं मदिरां वाथ वसां वा क्षीरमेव वा ।
घृततैलादिकं वाथ द्रवद्द्रव्यमनन्यधीः ॥ ८ ॥

अथान्यं संप्रवक्ष्यामि संक्रान्तिविधिमुत्तमम् ।
मृते जीवच्छरीरे तु प्रविशेद्योगविद्यया ॥ ९ ॥

अवस्था स्वयम् एक व्याधि है। इससे साधक हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है। अनवरत छः माह इस प्रक्रिया को अपनाना आवश्यक है। व्याधिमुक्ति के लिये छह मास का अभ्यास पर्याप्त होता है। एक वत्सर पर्यन्त साधक इसे यदि लगातार करता रहे, तो यह निश्चय है कि, मृत्युजेता बन सकता है ॥ ६ ॥

उस लम्बिका में समायोजित रसना में जब स्वादिष्ट वारि ऊपर से स्रवित होने लगता है, तब से यह ध्यान रखना चाहिये कि, अब इसमें क्या चमत्कार घटित होना शुरू हुआ है। प्रथम चामत्कारिक बात यह होती है कि, उस समय साधक जिस द्रव्य का चिन्तन करता है, उसी के स्वाद से मुँह भर जाता है अर्थात् उसी का स्वाद उसे मिलने लगता है ॥ ७ ॥

अनन्य बुद्धि से उस द्रव में चिन्तन करने से लगता है कि, वही द्रव्य उतर आया है। किसी ने मान लीजिये, रुधिर का ध्यान किया, तो रुधिर के आस्वाद की ही अनुभूति होगी। इसी तरह 'मदिरा' का, वसा अर्थात् चर्बी का, दूध का, घी का, तेल का तथा आदि शब्द के आधार पर किसी खाद्याखाद्य पदार्थ का ध्यान यदि उसने किया तो उसी पदार्थ के स्वाद से साधक का मुँह भर जाता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं ॥ ८ ॥

उक्त विधि के अनन्तर एक दूसरी संक्रान्ति विधि पर प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे हैं। यह विधि भी बड़ी उत्तम मानी जाती है। यह योग विद्या है और इतनी अद्भुत है कि, मृत शरीर में प्रवेश कर उसे जीवित शरीरवत् कर देता है। यह परकाया प्रवेश विद्या मानी जाती है। जीवित शरीर में भी प्रवेश कर उसे अपनी इच्छा के अनुसार संचालित किया जा सकता है ॥ ९ ॥

निवातस्थो जितप्राणो जितासनविधिक्रमः ।
कुर्वीत वायुनावेशमर्कतूले शनैः शनैः ॥ १० ॥
स्वादाकृष्टविधि[1] यावद्गुडे निम्बे च कारयेत् ।
श्रीखण्डगुडकर्पूरैस्ततः कृत्वाकृतिं शुभाम् ॥ ११ ॥
प्रगुणामगुण ··· ··· न्यङ्गेषु संदधत् ।
न्यासं कृत्वापि तत्रापि वेधं कुर्याच्छनैः शनैः ॥ १२ ॥

इसको विधि पर प्रकाश डाल रहे हैं और क्रमिक रूप से इसे प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. निर्वात कक्ष में अवस्थित होना आवश्यक है ।

२. प्राणायाम साधकर उस समय प्राणजित अवस्था में बैठ जाना चाहिये ।

३. आसनजित का तात्पर्य एक आसन इतना सिद्ध होना चाहिये, जिस पर घण्टों विना हिले डुले एक रस योगी बैठ सके ।

४. इस अवस्था में अर्कतूल (मदार का फूल) लेकर उसमें छिद्र कर उसी में प्राणवायु का धीरे धीरे संचार शुरू करें ॥ १० ॥

५. इस अवस्था में स्वादाकृष्टि विधि (श्लो० ७) का प्रयोग करें । विशेष रूप से गुड़ के स्वाद का आकर्षण करें अथवा निम्ब के कड़वे आस्वाद की आकृष्टि करनी चाहिये ।

६. तत्पश्चात् श्रीखण्ड, गुड़ और कर्पूर इनके सम्मिलित मिश्रण से एक शुभ अर्थात् उत्तमोत्तम आकृति का निर्माण करे ॥ ११ ॥

७. बारहवाँ श्लोक खण्डित है । इसकी पहली अर्धाली में इस प्रकार समायोजन किया जाने पर अन्वयपूर्वक अर्थ किया जा सकता है—"प्रगुणामगुण (प्रख्यां भवा) न्यङ्गेषु संदधत्'

इस ऊहात्मक श्लोक पूर्त्ति से 'प्रगुणां' शब्द और अगुणप्रख्यां दोनों शब्द आकृति के विशेषण का काम करेंगे । भवानि! सम्बोधन और अङ्गेषु अर्थात् आकृति के अङ्गों में संदधत् क्रिया (शतृप्रत्ययान्त) से अन्वय हो जायेगा ।

८. मेरी दृष्टि से अर्कतूल वाले पुष्प में स्वादाकृष्टि के बाद श्रीखण्डादि द्रव्यों से प्रगुणता विशिष्ट अगुणप्रख्य देवता के समान मूर्त्ति बनाकर उसके अङ्गों में

---

१. क० पु० स्वादाकृष्येति पाठः ।

निरोधं तत्र कुर्वीत घट्टनं तदनन्तरम् ।
घट्टनं नाम विज्ञेयमङ्गप्रत्यङ्गचालनम् ॥ १३ ॥

एवमभ्यसतस्तस्य योगयुक्तस्य योगिनः ।
चलते प्रतिमा सा तु धावते चापि संमुखी ॥ १४ ॥

पुनस्तां प्रेरयेत्तावद्यावत्स्वस्थानमागताम् ।
पतितां चालयेद् भूय उत्तानां पार्श्वतः स्थिताम् ॥ १५ ॥

एवं सर्वात्मनस्तावद्यावत्स्ववशतां गता ।
ततः प्रभृत्यसौ योगी प्रविशेद्यत्र रोचते ॥ १६ ॥

मिलाते हुए प्रयोग करना चाहिये । उसमें मृत या जीवित का न्यास करना चाहिये । न्यास करने के बाद उस मूर्त्ति में शनैः शनैः वेध का प्रयोग करना चाहिये । इससे उस मूर्त्ति में शक्तिमत्ता आ जाती है ॥ १२ ॥

९. उस न्यस्त शरीर में जिसका न्यास किया गया है, उसका निरोध करना चाहिये ।

१०. निरोध के बाद घट्टन का प्रयोग किया जाता है । घट्टन अङ्ग प्रत्यङ्ग के चालन को कहते हैं ॥ १३ ॥

११. इस प्रकार के अभ्यास से योगी उस आकृति में इतनी शक्ति भर देता है, जिससे उस प्रतिमा में गति उत्पन्न हो जाती है । वह चलने लगती है । वह कुछ दूरी पर रखने पर दौड़ भी पड़ती है और योगी के संमुखीन रहती है ॥ १४ ॥

योगी उसे दूर जाने पर या सामने आने पर इस बात के लिये प्रेरित करता है कि, तुम अपने स्थान पर चली जाओ । इस प्रेरणा से वह अपने स्थान पर आदेशानुसार चली जाती है । उसे पुनः पुनः प्रेरित कर उसकी शक्ति का परीक्षण योगी कर लेता है । मान लीजिये यदि वह गिर गयी, तो उसे चलने को प्रेरित करना चाहिये । भले ही वह उत्तान हो, पार्श्व में ही स्थित हो ॥ १५ ॥

इस प्रकार योगी अपने योग के प्रभाव से, न्यास और प्राणसन्धान एवं मूर्त्ति ध्यान से उसे तब तक शक्ति देता रहे, जब तक वह पूरी तरह उसके वश में न आ जाय । इस मूर्त्ति प्रयोग की इस विद्या की सिद्धि के अनुसार उसी तरह सर्वत्र प्रवेश की सिद्धि उसे प्राप्त हो जाती है ॥ १६ ॥

मृते जीवच्छरीरे वा संक्रान्त्याक्रान्तिभेदतः ।
प्रक्षिप्य जलवच्छक्तिजालं सर्वाङ्गसन्धिषु ।। १७ ।।

प्रत्यङ्गमङ्गतस्तस्य शक्तिं तेनाक्रमेद्‌बुधः ।
स्वकीयं रक्षयेद्देहमाक्रान्तावन्यथा त्यजेत् ।। १८ ।।

बहून्यपि शरीराणि दृढलक्ष्यो यदा भवेत् ।
तदा गृह्णात्यसन्देहं युगपत्संत्यजन्नपि ।। १९ ।।

शरीर मृत हो या जीवित उसमें संक्रान्ति और आक्रान्ति प्रक्रिया इस कर्म को पूर्ण करने के लिये अपनायी जाती है। जिस तरह जल का प्रक्षेप शरीर पर करके उसे आर्द्र किया जाता है, उसी तरह मृत या जीवत् शरीर पर शक्तिपात किया जाता है। यह शक्ति जाल प्रयोग उसके अवयवों की सभी सन्धियों पर अर्थात् जहाँ गाँठों के जोड़ हैं, उन-उन अङ्गों पर विशेष रूप से शक्तिपात का प्रयोग करना चाहिये ।। १७ ।।

शक्तिजाल का यह प्रयोग इस प्रक्रिया में निष्णात योगी को ही करना चाहिये। यह शक्तिजाल निक्षेप अपने ही शरीर से उस शरीर पर किया जाता है। अपने उन-उन अङ्गों की शक्ति दूसरे शरीर के उन्हीं-उन्हीं अङ्गों पर प्रक्षिप्त की जाती है। इसलिये भगवान् ने कहा है कि, 'बुधः आक्रमेद्' अर्थात् इस प्रयोग को बुद्धि से सम्पन्न दक्ष योगी ही अपनी शक्ति आक्रान्त करे। इस अवस्था में अपनी शक्ति का ह्रास भी होता है। इसलिये अपने शरीर की पूरी सुरक्षा की दृष्टि भी आवश्यक है। दूसरा भाव यह भी है कि, परकाय में प्रवेश के समय अपने शरीर को सुरक्षित रखना चाहिये। ऐसी व्यवस्था पहले से ही करके रखनी चाहिये, ताकि अपना शरीर सुरक्षित रहे। यदि ऐसा सम्भव न हो, तो छोड़ ही दें ।। १८ ।।

इसमें पूर्ण समर्थ योगी अनेक शरीरों को भी आक्रान्त कर सकता है। ऐसा दृढ़ लक्ष्य योगी अपनी शक्ति की इयत्ता का सन्तुलन बनाये रखने में दक्ष होता है। शरीर अनेक होने पर उतने ही अनुपात में शक्ति की आवश्यकता होती है। उतनी शक्ति से सम्पन्न महायोगी आक्रान्ति के उद्देश्य से निःसन्देह अनेक शरीरों का ग्रहण कर सकता है। एक साथ ही अपने शरीर का उसे परित्याग भी करना पड़ता है, यह वह जानता है। इस अवस्था में भी वह यह प्रयोग करता है और सफल रहता है। पुनः अपने शरीर में लौटने के लिये अपने शरीर की रक्षा का प्रबन्ध करना ही चाहिये ।। १९ ।।

अथापरं प्रवक्ष्यामि सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
समाधानामृतं दिव्यं योगिनां मृत्युनाशनम् ॥ २० ॥
चन्द्राकृष्टिकरं नाम मासाद्वा योगभोगदम् ।
शुक्लपक्षे द्वितीयायां मेषस्थे तिग्मरोचिषि ॥ २१ ॥
स्नातः शुचिर्निराहारः[1] कृतपूजाविधिर्बुधः ।
न्यसेच्चन्द्रे कलाजालं परया समधिष्ठितम् ॥ २२ ॥

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, अब मैं एक ऐसी विद्या का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसके प्रयोग से लोगों में योगविद्या के प्रति तुरत विश्वास हो जाता है। इस प्रयोग को 'सद्यः प्रत्ययकारक' प्रयोग कहते हैं। यह दिव्य प्रयोग योगियों की समस्त समस्याओं का समाधान करता है। योगियों अथवा किसी के भी मृत्यु भय को दूर भगाने वाले इस अमृत प्रयोग को मैं यहाँ बताने जा रहा हूँ ॥ २० ॥

इस प्रयोग को 'चन्द्राकृष्टिकर' प्रयोग कहते हैं। एक मास अनवरत इसे करने में यदि योगी सफल हो जाये, तो उसका योग भी सिद्ध होता है और सभी इच्छित भोगों की प्राप्ति भी सरल हो जाती है। इसका समय वह होता है, जब ज्योतिःशास्त्र के अनुसार सूर्य मेष राशि में रहता है। जहाँ तक तिथि का प्रश्न है, वह शुक्ल पक्ष की द्वितीया तिथि होनी चाहिये। ज्योतिष् से यह ज्ञात हो जाता है कि, सूर्य कब किस राशि पर आते या होते हैं, यह निर्धारित है। इस काल गणना में मास की गणना भी निश्चित होती है ॥ २१ ॥

उस दिन विधिपूर्वक नित्य कर्म से निवृत्त होकर शास्त्रीय विधि से स्नान करे। सन्ध्यावन्दन आदि से बाह्य और आभ्यन्तर सभी तरह शुचिता से सम्पन्न हो जाये। उस दिन निराहार व्रत करे। अपनी परम्परा के अनुसार सारी पूजा की विधि विधानपूर्वक सम्पन्न करे। दिन भर पूरी तरह से अपने व्यक्तित्व को स्वात्म में समाहित रखे।

शुक्ल पक्षीय द्वितीया का चन्द्र लघुकाय होते हुये भी महत्त्वपूर्ण होता है। ज्यों ही चन्द्र दर्शन हो, उसी समय योगी यह प्रक्रिया प्रारम्भ करे। चन्द्र की सोलह कलाओं में से उस समय मात्र दो कलायें होती हैं। शेष तेरह कलायें पराशक्ति में समाहित रहती हैं। उन सभी कलाओं को चन्द्रमा में तृतीया, चतुर्थी क्रम से न्यस्त करना प्रारम्भ कर उसे पूर्णकलाकलित चन्द्र की तरह प्रकल्पित करे ॥ २२ ॥

1. क० पु० निराकार इति पाठः ।

सर्वबाधापरित्यक्ते प्रदेशे संस्थितो बुधः ।
एकचित्तः प्रशान्तात्मा शिवसद्भावभावितः ॥ २३ ॥

तावदालोकयेच्चन्द्रं यावदस्तमुपागतः ।
ततो भुञ्जीत दुग्धेन चन्द्रध्यानसमन्वितः ॥ २४ ॥

एवं दिने दिने कुर्याद्यावत्पञ्चदशी भवेत् ।
शेषां रात्रिं स्वपेद्ध्यायंश्चन्द्रबिम्बगतां पराम् ॥ २५ ॥

पौर्णमास्यां तथा योगी अर्धरात्र उपस्थितः ।
जने निःशब्दतां याते प्रसुप्ते सर्वजन्तुभिः ॥ २६ ॥

उस समय योगी को ऐसे स्थान पर अधिष्ठित रहना चाहिये, जहाँ किसी प्रकार की कोई बाधा न हो। निर्विघ्नता का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये और सावधानी रखनी चाहिये। उसका चित्त समाहित हो, अर्थात् आत्मस्थ रहे। सबसे उत्तम बात यह होनी चाहिये कि, योगी शिवसद्भाव से भावित हो। शैवतादात्म्य सिद्ध योगी ही शिवसद्भाव से भावित होता है ॥ २३ ॥

इस अवस्था में वह चन्द्रमा को तब तक एकटक निहारता रहे, जब तक अस्त न हो जाय। इसके बाद दूध और दूध से बने पदार्थों का दूध से ही सेवन करें। उस समय भी उसका ध्यान चन्द्रमा में ही रहे और वह उसी में समाहित रहे ॥ २४ ॥

यह प्रक्रिया उसे प्रतिदिन करनी चाहिये। यह तब तक करनी चाहिये, जब तक पूर्णिमा न आ जाय। यह व्रत एक प्रकार से चौदह दिवसीय माना जाता है। शेष रात्रि को वह चन्द्र बिम्ब में सोमशक्ति के रूप में विराजमान परा देवी का ध्यान करते हुए सोने में व्यतीत करे। पूर्णिमा के दिन तो पूरी रात इसी ध्यान में उसे बिताना पड़ता है क्योंकि चन्द्रास्त तक चन्द्र दर्शन की प्रक्रिया अनवरत रूप से अपनानी अत्यन्त आवश्यक है ॥ २५ ॥

पूर्णिमा के दिन एक विशिष्ट चामत्कारिक घटना घटित होती है। ठीक अर्धरात्रि के समय, जबकि, पूरी तरह निर्जनता व्याप्त रहती है। निःशब्द स्तब्ध शान्त वातावरण की पावन एकान्तता होती है। उस समय संसार के सारी जीव-जाति सुषुप्ति के आनन्द में डूबी रहती है। उसी अवस्था को भगवान् कृष्ण सर्वभूत निशा कहते हैं। इसी निशा के निशीथ समय में यह चन्द्रमा संयमी जाग रहा होता है ॥ २६ ॥

चन्द्रकोटिकरप्रख्यां तारहारविभूषणाम् ।
सिताम्बरपरीधानां सितचन्दनर्चाचिताम् ॥ २७ ॥
मौक्तिकाभरणोपेतां सुरूपां नवयौवनाम् ।
आप्यायनकरीं देवीं समन्तादमृतस्रवाम् ॥ २८ ॥
राजीवासनसंस्थां च योगनिद्रामवस्थिताम् ।
चन्द्रबिम्बे परां देवीमीक्षते नात्र संशयः ॥ २९ ॥
ततस्तां चेतसा व्याप्य तावदाकर्षयेत्सुधीः ।
यावन्मुखाग्रमायाता तत्र कुर्यात्स्थिरं मनः ॥ ३० ॥

उसी शुभ्र वातावरण और चाँदनी से नहायी चारों दिशाओं की प्रशान्त चारुता में चन्द्र बिम्ब में एक चमत्कार दृष्टिगोचर होता है।

१. उस चन्द्र बिम्ब में ही करोड़ों चन्द्रमा की किरणों के पुञ्ज की प्रभा से भावित शोभा से सम्पन्न,

२. तारकहार धारण करने से मणि भूषण के समान विभूषित ,

३. अत्यन्त शुभ्र श्वेत परिधान धवल ,

४. श्वेत चन्दन से चर्चित चारुतामयी ,

५. मौक्तिक आभरणों के भूषाभार से भव्य ,

६. नितान्त रूपवती नवयौवन-सम्पन्ना युवती के समान ,

७. उसके शरीर से मानो अमृत की वर्षा सी हो रही हो और उससे समस्त प्राणिमात्र को आप्यायित करने की शक्ति से सम्पन्न ,

८. कमलासन पर विराजमान योगनिद्रा में अवस्थित महायोगिनी पराशक्ति परमाम्बा के दर्शन होने लगते हैं। इस दिव्य दर्शन से वह साधक योगी धन्य हो जाता है। इसमें संशय नहीं करना चाहिये ॥ २७-२९ ॥

उस दिव्य परामूर्त्ति में अपनी चेतना को पूरी तरह व्याप्त कर चेतस् शक्ति से उसका आकर्षण करना चाहिये। वह जब तक समक्ष अर्थात् अपने मुँह के ठीक सामने आकर उपस्थित न हो जाय, तब तक आकर्षण की प्रक्रिया चलती रहनी चाहिये। उसमें अपने मन को एकाग्र कर स्थिर कर दे। विचक्षण सुधी योगविद्या विशारद ऐसे ही उसके आकर्षण में सफल हो सकता है ॥ ३० ॥

ततः प्रसार्य वदनं ध्यानासक्तेन चेतसा ।
निगिरेत्तां समाकृष्य भूयो हृदि विचिन्तयेत् ।। ३१ ।।

तया प्रविष्टया देहं योगी दुःखविवर्जितः ।
शक्तितुल्यबलो भूत्वा जीवेदाचन्द्रतारकम् ।। ३२ ।।

एकोऽप्यनेकधात्मानं संविभज्य निजेच्छया ।
त्रैलोक्यं यौगपद्येन भुनक्ति वशतां[1] गतम् ।। ३३ ।।

आसाद्य विपुलान्भोगान्प्रलये समुपस्थिते ।
परमभ्येति निर्वाणं दुष्प्रापमकृतात्मनाम् ।। ३४ ।।

जब वह मुख के सामने उपस्थित हो जाय, उस समय अपने मुँह को फैलाकर उसे निगल लेने की प्रक्रिया योगी अपनाये और उस प्रकाश-प्रतिमा को आत्मसात् कर ले। उस समय ध्यान में पूरी तरह वह प्रतिमा और उसे आन्तर भाव से हृदय में अवस्थित करने की तैयारी में रहना चाहिये। उसे निगल लेने पर फिर उसका हार्दिक चिन्तन और उसका अर्चन करना चाहिये ।। ३१ ।।

जिस समय वह प्रकाश प्रतिमा अपने हृदय में आ जाय, उस समय योगविद्या का चमत्कार पूरी तरह घटित माना जाता है। उस समय योगी समस्त दुःखों से, व्याधियों से मुक्त हो जाता है। उसकी शक्ति अनन्त गुणा बढ़ जाती है। एक तरह से वह मृत्युजित् ही हो जाता है। उसमें ऐसी प्रतिभा का उदय हो जाता है, जिससे आचन्द्रतारक उसकी कीर्ति स्थिर रहती है ।। ३२ ।।

उसके अन्दर ऐसी शक्ति का विकास हो जाता है कि, वह एकाकी होते हुये भी अपने स्वरूप को कयी भागों में व्यक्त कर सकता है। वह एक जगह रहते हुए भी अन्यत्र दृष्टिगोचर हो सकता है। यह विभाजन वह किसी के दबाव से नहीं, स्वेच्छा से ही करने में सक्षम हो जाता है। ऐसा शक्तियोग सम्पन्न महायोगी एक साथ ही त्रैलोक्य सुखों का उपभोग कर सकता है। इसका कारण यह है कि, पूरा त्रैलोक्य उसके वशीभूत हो जाता है ।। ३३ ।।

ऐसा शाक्तयोग सिद्ध योगी इस चन्द्राकृष्टि योग की सिद्धि के परिणाम-स्वरूप अनन्त-अनन्त भोगों का उपभोग करता है। युगों तक स्वेच्छा से जीवित रहता है। प्रलय के उपस्थित हो जाने पर परमनिर्वाण को प्राप्त करता है। यह निर्वाण सुख सामान्य व्यक्तियों के लिये दुर्लभ माना जाता है ।। ३४ ।।

१. क० पु० वशमेति चेति पाठः ।

अथवा तन्न शक्नोति गगने परिचिन्तितुम् ।
प्रतिबिम्बे तथा ध्यायेदुदकादिषु पूर्ववत् ॥ ३५ ॥
तत्पीत्वा मनसा शेषां स्वपेद्रात्रिमनुस्मरन् ।
पूर्वोक्तं समवाप्नोति षड्भिर्मासैरखण्डितम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे चन्द्राकृष्टयधिकार एकविंशतितमः ॥ २१ ॥

चन्द्राकृष्टि कर योग का एक दूसरा विकल्प प्रस्तुत करते हुये भगवान् कहते हैं कि, यदि इस प्रकार के कठिन योग करने में यदि वह समर्थ नहीं हो पाता अर्थात् आकाश स्थित चन्द्र में तिथ्यनुसार ध्यान कर तपःपूत रहते हुए आकाश में दृष्टि स्थिर कर चन्द्राकृष्टिकर योग नहीं कर पाता है, तो उसके लिये निम्नलिखित विकल्प भी लाभदायक हो सकता है।

वह ऊपर आकाश में यदि नहीं देख सके, तो पूर्ववत् उदक (जल) आदि से, दर्पण आदि में उसी तरह तिथि के अनुसार प्रतिबिम्ब में ही साधना करे। यह प्रयोग भी उसके लिये लाभदायक हो सकता है ॥ ३५ ॥

उस प्रतिबिम्ब को यदि जल में देखने की व्यवस्था करे, तो उस जल को चन्द्रास्त के बाद स्वयं पी जाय। यदि दर्पण में व्यवस्था करे तो उसका अभिषेचनीय यन्त्र से दर्पण के प्रतिबिम्ब का अभिषेक करता रहे और उसे भी स्वयं पिये। इस प्रकार छह मास तक लगातार करने से इस योगी को भी वही सिद्धि मिलती है। इसमें मुख्य क्रिया उस जल को पीकर सोने की भी है। मन में इसका चिन्तन पूर्ववत् होना ही चाहिये ॥ ३६ ॥

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
इक्कीसवाँ चन्द्राकृष्टिकर योगाधिकार परिपूर्ण ॥ २१ ॥
॥ ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ॥



अथ द्वाविंशतितमोऽधिकारः

अथान्यत्परमं गुह्यं कथयामि तव प्रिये ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं योगामृतमनुत्तमम् ।। १ ।।
सूर्याकृष्टिकरं नाम योगिनां योगसिद्धिदम् ।
सम्यङ्मासचतुष्केण दिनाष्टाभ्यधिकेन तु ।। २ ।।

द्वाविंशोऽधिकारः

[२२]

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! तुमसे पूछे जाने पर अब तक तुमसे मैंने कई शास्त्रीय रहस्यों का उद्‌घाटन किया है । यहाँ मैं एक नयी रहस्य योगविद्या का विवरण तुम्हें दे रहा हूँ । इसके सम्बन्ध में मेरे अतिरिक्त कोई कुछ नहीं जानता । मैंने भी इस अमृतमयी रहस्य योगविद्या के सम्बन्ध में किसी से कुछ नहीं कहा है । यह अद्यावधि अनाख्यात सर्वातिशायी रहस्य योग तुम्हारे समक्ष सर्वप्रथम उद्घाटित कर रहा हूँ ।। १ ।।

इस योग विद्या का नाम सूर्याकृष्टिकर-योग है । यह योगियों के लिये समस्त आकाङ्क्षित सिद्धियों को तत्काल प्रदान करने में सक्षम है । यह योग चार माह आठ दिन की अवधि में सिद्ध हो जाता है । इतने दिन में अनवरत सम्यक् रूप से इसे सिद्ध करना चाहिये ।। २ ।।

प्रहरस्याष्टमो भागो नाडिकेत्यभिधीयते ।
तत्पादक्रमवृद्धया तु प्रतिवासरमभ्यसेत् ॥ ३ ॥
उदयास्तमयं यावद्यत्र सूर्यः प्रदृश्यते ।
प्रदेशे तत्र विजने सर्वबाधाविवर्जिते ॥ ४ ॥
अहोरात्रोषितो योगी मकरस्थे दिवाकरे ।
शुचिर्भूत्वा कृतन्यासः कृतशीतप्रतिक्रियः ॥ ५ ॥
भानुबिम्बे न्यसेच्चक्रमष्टषट्द्वादशारकम् ।
शिवशक्तिघनोपेतं भैरवाष्टकसंयुतम् ॥ ६ ॥

प्रहर का आठवाँ भाग नाडिका संज्ञा से व्यवहार में लाया जाता है। नाडिका का १/४ भाग प्रतिदिन बढ़ाते हुए इस योग का अभ्यास करना चाहिये। जैसे दिन को ८ भागों में बाँटने पर आठवाँ भाग १/८ माना जायेगा। १/८ भाग नाडिका माना जाता है। इसका भी प्रतिदिन १/८ भाग बढ़ाते हुए यह प्रयोग करना पड़ता है ॥ ३ ॥

यह प्रक्रिया उस प्रदेश में प्रारम्भ करनी चाहिये, जहाँ उदय से लेकर अस्तमनवेलापर्यन्त सूर्य परिदृश्यमान रहते हैं। वह भी एकान्त निर्जन और ऐसा शान्त होना चाहिये, जहाँ किसी प्रकार की कोई बाधा न हो, किसी प्रकार के विघ्न की सम्भावना न हो और लगातार साधना सुचारु रूप से की जा सके। जिससे स्वास्थ्य में भी कोई अन्तर न पड़ सके ॥ ४ ॥

योगी जिस समय यह प्रयोग प्रारम्भ करे, अहोरात्र अर्थात् दिन और रात दोनों मिलाकर २४ घण्टे का उपवास करे। यह निर्धारित कर ले कि, सूर्य मकर राशि के हों। मकरस्थ सूर्य से ही इसका प्रारम्भ करना चाहिये। अत्यन्त पवित्र भाव में न्यास आदि विधियों को पूरा कर ले। साथ ही शैत्यनिवारण का भी पूरी तरह प्रबन्ध कर लेना चाहिये ॥ ५ ॥

इस तरह पूरी विधि के अनुसार अध्यवसाय रत रहने का निश्चय कर लेने के उपरान्त सूर्य बिम्ब में अष्टार चक्र, षडर चक्र और द्वादशार चक्र का न्यास करना चाहिये। सूर्य की दृष्टि से छह ऋतुएँ षडर चक्र और द्वादश मास द्वादशार चक्र माना जाता है। जहाँ तक अष्टार चक्र का प्रश्न है, यह भैरवाष्टक न्यास ही बिम्ब में स्थापित करना चाहिये। यों अष्टार चक्र शरीर की दृष्टि से त्रिनेत्र रूप भ्रूमध्य माना जाता है। द्वादशार अनाहत पद्म भी माना जाता है। षडर

वर्षादिऋतुसंयुक्तं मासैर्ऋक्षादिभिर्युतम् ।
अष्टारं चिन्तयेद्बिम्बे शेषं रश्मिषु चिन्तयेत् ॥ ७ ॥
तत्र चित्तं समाधाय प्रोक्तकालं विचक्षणः ।
अनिमीलितनेत्रस्तु भानुबिम्बं निरीक्षयेत् ॥ ८ ॥
ततः काले व्यतिक्रान्ते सुनिमीलितलोचनः ।
प्रविशेदन्धकारान्तर्भुवनं निरुपद्रवम् ॥ ९ ॥

स्वाधिष्ठान को कहते हैं। यहां भानुविम्ब की दृष्टि से षडर ऋतुचक्र और द्वादशार मास चक्र मानना चाहिये। अष्टार भैरवाष्टक मानना चाहिये। शिवशक्तिघन आठ भैरव स्वच्छन्द तन्त्र में वर्णित हैं ॥ ६ ॥

इसी तथ्य को इस श्लोक में स्पष्ट कर रहे हैं। वर्षा से प्रारम्भ कर वर्षा, शरद्, शिशिर, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म छह ऋतुयें षडर मानी जाती हैं। द्वादशार मास चक्र का काल नक्षत्रों के साथ चलता है। जैसे चित्रा से चैत्र, विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ आदि। अष्टार अष्टदिक्, भैरवाष्टक या आज्ञा चक्र ही माना जाता है। इन सबका भानुबिम्ब में चिन्तन होना चाहिये। शेष जो कुछ हैं उसे सूर्य की रश्मियों में चिन्तन करना चाहिये ॥ ७ ॥

इस प्रकार चित्त को समाहित कर बुद्धिमान् साधक कहे हुए समय के अनुसार अनिमीलित नेत्र से अर्थात् एकटक अपलक आँखों से सूर्य का दर्शन प्रारम्भ करे। इस श्लोक में साधक से तीन अपेक्षायें की गयी हैं—

१. साधक का चित्त नितान्त समाहित रहना चाहिये। बाह्य जगत् का विचार उसके मन में नहीं उठना चाहिये। केवल सूर्य का चिन्तन चलते रहना चाहिये।

२. समय में कभी भी हेर-फेर नहीं करना चाहिये। जिस तरह निर्देश है, उसके विपरीत वह कोई बदलाव न करे।

३. सूर्य को अपलक देखने की प्रक्रिया का प्रारम्भ कर उतने समय तक अनवरत देखता रहे।

इस तरह निर्देशानुसार श्रद्धा और आस्था पूर्वक अभ्यास से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ ८ ॥

जब समय बीत जाय तो अच्छी तरह आँखें बन्द करना अनिवार्यतः आवश्यक है। वह केवल आँख ही बन्द न करे वरन् अन्धकार से भरे गर्भ (भुँइधरा) या जहाँ सूर्य रश्मियों का तनिक भी प्रवेश न हो, उस स्थान में प्रवेश कर जाय। वह स्थान नितान्त ही निरुपद्रव होना चाहिये ॥ ९ ॥

तत्रोन्मीलितनेत्रस्तु बिम्बाकारं प्रपश्यति ।
सन्धाय तत्र चैतन्यं तिष्ठेद्यावन्न पश्यति ॥ १० ॥

नष्टेऽपि चेतसा शेषं तिष्ठेत्कालमनुस्मरन् ।
एवं मासेन देवेशि स्थिरं तदुपजायते ॥ ११ ॥

मासद्वयेन सर्वत्र प्रेक्षते नात्र संशयः ।
त्रिभिः समीक्षते सर्वं रविबिम्बसमाकुलम् ॥ १२ ॥

प्रोक्तकालावसानेन वृषस्थे तिग्मरोचिषि ।
प्रेक्षते सूर्यबिम्बान्तः सचक्रं परमेश्वरम् ॥ १३ ॥

वहाँ जाकर साधक अपनी आँखें खोल दे। उसके सामने सूर्य बिम्ब का आकार साक्षात् दीख पड़ने लगता है। देखने की क्रिया में 'प्र' उपसर्ग सूर्य बिम्ब की वास्तविक बिम्बता का स्पष्ट दर्शन जैसे यहाँ होता है, वैसा प्रत्यक्ष सूर्य दर्शन में नहीं होता, यह सिद्ध होता है। चैतन्य का बिम्ब में अनुसन्धान भी आवश्यक है। उसी अवस्था में आँखें खोले हुए तब तक उसे देखता रहे, जब तक बिम्ब दर्शन बन्द न हो जाय। यह साधना का नित्य का नियम समयानुसार निभाने का एक तरह से भगवान् शिव का आदेश है ॥ १० ॥

सूर्य का बिम्ब जब ओझल हो जाय, आँखें शान्ति का अनुभव करने लग जाँय, तो भी कुछ समय अभी वहीं उस निरुपद्रव स्थान में रुका रहे और चित्त उसी रोचिष्मान् के चिन्तन में समाहित रहे, इसका ध्यान रखना चाहिये। अनवरत एक मास तक इस प्रकार साधना में संलग्न साधक के समक्ष वह बिम्ब स्थिर हो जाता है ॥ ११ ॥

दो मास तक इस साधना में संलग्न व्यक्ति सर्वत्र दर्शन में समर्थ हो जाता है। सूर्य के प्रकाश में सारे मेय दृश्यमान होते हैं। उन सबका दर्शन उसे जब चाहे हो सकता है। यह नियमित साधना का सुपरिणाम होता है।

तीन मासों में तो रविबिम्ब में स्थिर उसकी दृष्टि सब कुछ देख लेने में समर्थ हो जाती है। इसमें दर्शन क्रिया में लगा सम् उपसर्ग उसके निर्बाध और सम्यक्तया दर्शन की सूचना देता प्रतीत हो रहा है ॥ १२ ॥

जो समय इस साधना के लिये निर्दिष्ट था, अर्थात् मकर स्थित सूर्य में इसे प्रारम्भ करने की बात कही गयी थी, जब यह पूरी हो जाय और सूर्य का

उपलब्धं समाकृष्य मुखाग्रे स्थिरतां नयेत् ।
आपीय पूर्ववत्पश्चाद्वृत्तिं निश्चलतां नयेत् ॥ १४ ॥

तत्र येन सहात्मानमेकीकृत्य मुहूर्तकम् ।
यावत्तिष्ठति देवेशि तावत्सन्त्यजति क्षितिम् ॥ १५ ॥

पश्यतो जनवृन्दस्य याति सूर्येण चैकतः ।
अनेन विधिना देवि सिद्धयोगीश्वरेश्वरः ॥ १६ ॥

शिवाद्यवनिपर्यन्तं न क्वचित्प्रतिहन्यते ।
भुक्त्वा तु विपुलान्भोगान्निष्कले लीयते परे ॥ १६ ॥

दूसरी राशि में प्रवेश हो जाय, और इस तरह दूसरी से तीसरी और चौथी राशि के बाद जब सूर्य वृष राशि में प्रवेश करें और उसकी साधना चलती रहती है, तो वह सूर्य बिम्ब में सचक्र परमेश्वर का दर्शन करने में समर्थ हो जाता है। हाथों में चक्र धारण किये हुए परमेश्वर सूर्य के पूर्ण विग्रह के दिव्य दर्शन होने लगते हैं॥ १३ ॥

उस सविग्रह दिव्य बिम्ब को मुखाग्र में आकर्षण करे और मुँह बाकर अर्थात् पूरी तरह खोलकर उसे पूरी तरह निगल जाय। उस बिम्ब को हृदय में स्थिर कर ले। अब वह साधक स्थिरवृत्ति से सावधान मानस होकर अपनी साधना का अनुसन्धान करे ॥ १४ ॥

उस हृदय स्थित बिम्ब में स्वात्मतादात्म्य का अनुभव करे। इस तादात्म्यानुभूति में थोड़ी देर ठहर जाय। उस बिम्ब से जब तक उनकी एकात्मता बनी रहती है, वह उस समय मानो भूमण्डल में न होकर सूर्य मण्डल में ही अवस्थित हो जाता है। भूतल को जैसे छोड़ ही जाता है ॥ १५ ॥

सूर्य बिम्ब में अवस्थित वह साधक वहीं रहते हुए जन समूह की सारी गतिविधियों के दर्शन में समर्थ हो जाता है। उस अवस्था तक उसका सूर्यैक्य बना रहता है। यह विश्व दर्शन की व्यास विधि प्रसिद्ध है। इस स्तर पर आ जाने वाला साधक सिद्धयोगीश्वरों का भी ईश्वर सिद्धयोगीश्वरेश्वर हो जाता है। उसकी शक्ति का नाम सिद्धयोगीश्वरी और सिद्धान्त का नाम सिद्धयोगीश्वरीमत माना जाता है। इस दृष्टि से श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र सिद्धयोगीश्वरी मत ही है, इसमें और भी अन्तः साक्ष्य हैं ॥ १६ ॥

तदेतत् खेचरीचक्रं यत्र खेचरतां व्रजेत् ।
सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रे सरहस्यमुदाहृतम् ॥ १८ ॥

अथवा चक्ररूपेण सबाह्याभ्यन्तरं स्वकम् ।
देहं चिन्तयतः पूर्वं फलं स्यान्निश्चितात्मनः ॥ १९ ॥

उच्चरन्फादिनान्तां वा ध्वनिज्योतिर्मरुद्युताम् ।
विश्रास्य मस्तके चित्तं क्षणमेकं विचक्षणः ॥ २० ॥

त्रिशूलेन प्रयोगेन सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।
एवं समभ्यसन्मासाच्चक्रवद्भ्रमति क्षितौ ॥ २१ ॥

उसके विरुद्ध प्रतिघात करने की क्षमता इस भूमण्डल में किसी के पास नहीं रह जाती। जीवन में यथेच्छ सुख-भोगों का उपभोग करने में वह स्वयम् समर्थ हो जाता है। अन्त में निष्कल परमेश्वर में वह लीन हो जाता है ॥ १७ ॥

इस तरह पूरा खेचरी चक्र ही सिद्ध हो जाता है। वह स्वयं खेचरता को प्राप्त कर लेता है। श्रीसिद्धयोगेश्वरी तन्त्र में उदाहरण पूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है। इसके रहस्यों का इस तरह पूरा उद्घाटन भी सम्भव हो गया है ॥ १८ ॥

एक दूसरा विकल्प सूर्याकृष्टिकर योग विद्या के अन्तर्गत प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके अनुसार स्वात्म के सबाह्यान्तर स्वरूप को चक्रमय ही ध्यान करे। सारा शरीर चक्र रूप से चिन्तन करना एक प्रकार का चक्रात्मक तादात्म्य ही प्रतीत होता है। इसमें सिद्ध हो जाने पर सूर्याकृष्टिकर योग जन्य समस्त फल साधक को प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

अथवा एक अन्य साधना विधि का विकल्प यह है कि 'फ' से प्रारम्भ कर 'न' पर्यन्त मालिनी राशि का ध्वन्यात्मक ज्योतिर्मय विलोम ध्यान करना प्रारम्भ करे। इसमें उसके प्राणापानवाह का क्रम भी चलता रहे। उस समय चित्त को मस्तक में स्थिर कर ज्योतिर्मण्डल में अवस्थित हो जाय ॥ २० ॥

इसमें त्रिशूल का प्रयोग करे। त्रिशूल प्रयोग के विषय में कोई विधि यहाँ नहीं दी गयी। हमारी दृष्टि में शूलाब्जत्रिक इसका तात्पर्य है। परा-अपरा-परापरा देवियों की अवस्था तीन शूल कमलों पर सहस्रार के उन्मनानाल से सम्बद्ध हैं। अपने चित्त को मस्तक में स्थिर करने की बात पहले कही गयी है। उस त्रिशूलाब्ज मण्डल

मुहूर्तं स्पृशते भूमिं मुहूर्ताच्च नभस्तलम् ।
शिवारावादि कुरुते वलनास्फोटनानि च ।। २२ ।।

मुद्राबन्धादिकं वाथ भाषा वा वक्त्यनेकधा ।
षण्मासान्मेदिनीं त्यक्त्वा समाधिस्थो दृढेन्द्रियः ।। २३ ।।

तिष्ठते हस्तमात्रेण गगने योगचिन्तकः ।
पश्यते योगिनीवृन्दमनेकाकारलक्षणम् ।। २४ ।।

संवत्सरेण युक्तात्मा तत्समानः प्रजायते ।
पश्यतामेव लोकानां तेजोभिर्भासयन्दिशः ।। २५ ।।

को आत्मसात् किया जाये, अथवा त्रिशूल के शूलाग्र बिन्दुओं पर या एक पराशूलाग्र बिन्दु पर ध्यान एकाग्र किया जाय तो मेदिनी की आकर्षण शक्ति उस योगी पर अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सकती। योगी इतना हल्का हो जाता है कि, वह आकाश में ऊपर उठ जाता है। एक मास पर्यन्त इस अभ्यास से चक्र की तरह मेदिनी में भ्रमण कर सकता है ।। २१ ।।

एक क्षण में यदि वह पृथ्वी के स्पर्श से युक्त है, तो दूसरे ही क्षण वह नभस्तल में सञ्चार करने में समर्थ हो सकता है। वह शिवाराव समर्थ वलन और स्फोटन व्यापारों का विज्ञ और अधिकारी हो सकता है ।। २२ ।।

समस्त मुद्राबन्धों से अभिज्ञ उस प्रतिभाशाली योगी की धारणा शक्ति का ऐसा विकास हो जाता है कि, वह अनेक भाषाओं का अभिज्ञ हो जाता है और धारा प्रवाह उसमें बोलने भी लगता है। छः मास के प्रयोग के बाद वह आकाशचारी हो जाता है। समाधि में निरन्तर अवस्थित इस पुरुष की सारी इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं। वे इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि, तनिक भी चलायमान नहीं हो पातीं ।। २३ ।।

योगविद्या का आश्रय ग्रहण कर योग चिन्तनरत रहते हुए आकाश में एक हाथ ऊपर ही अवस्थित हो जाने की क्षमता उसमें आ जाती है। अपने सामने ही अनेक आकृतियों से विभूषित चित्र-विचित्र योगियों का दर्शन उसे मिलने लगता है। उन्हें देखकर विश्वात्मा के रहस्य सर्जन के वैचित्र्य से प्रभावित होता है ।। २४ ।।

एक संवत्सर तक इस प्रकार की साधना में संलग्न रहने वाले योगी के दर्शन के लिये लोग लालायित रहते हैं। सूर्य के समान तेजस्वी उसके प्रभामण्डल से विश्व

यात्युत्क्रम्य महीपृष्ठात् खेचरीणां पतिर्भवेत् ।
मुद्रा खगेश्वरी नाम कथिता योगिनीमते ॥ २६ ॥

जागरित्वाथ वा योगी त्र्यहोरात्रमतन्द्रितः ।
चतुर्थेऽह्नि निशारम्भे पूजयित्वा महेश्वरम् ॥ २७ ॥

ततोऽन्धकारे बहुले कृतरक्षाविधिर्बुधः ।
भ्रुवोर्मध्ये समाधाय क्षणं चेतः प्रपश्यति ॥ २८ ॥

तेजो रूपप्रतीकाशं पर्यङ्कासनमास्थितः ।
प्रयोगं त्वेव सततं योगयुक्तः समभ्यसेत् ॥ २९ ॥

प्रभावित हो जाता है। लोग उसे देखकर चमत्कृत हो जाते हैं कि, अपने विराट् व्यक्तित्व और भास्कर तेजस्विता से वह दिक्मण्डल को भी उद्दीप्त कर दे रहा है ॥ २५ ॥

स्वेच्छा पूर्वक वह महीपृष्ठ का परित्याग कर आकाश-विहार में समर्थ हो जाता है। वह खेचरी शक्तियों का भी स्वामी बन जाता है। सिद्धयोगीश्वरी मत में इस मुद्रा को ही 'खेचरी' मुद्रा कहते हैं। यह उसकी साधना का ही सुपरिणाम है ॥ २६ ॥

एक नया विकल्प यहाँ प्रस्तुत करने जा रहे हैं। योगी तीन अहोरात्र तक अतन्द्रित भाव से सजग, सावधान, निरलस अवस्था में जागरण करता हुआ चौथे दिन जिस समय रात्रि का आरम्भ हो रहा हो, उस समय सन्ध्या काल में महेश्वर भगवान् की आस्था पूर्वक पूजा करे ॥ २७ ॥

पूजा और आराधना में निरत रहते हुए जब अन्धकार घना हो जाय, वह अपने भ्रूमध्य में चित्त को समाहित करे। इस अवस्था में अपने को रक्षा मन्त्रों से सुरक्षित कर लेना चाहिये। कवच मन्त्रों से स्वात्म को शक्ति सम्पन्न कर बाधाओं को दूर कर लेने की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। भ्रूमध्य में ही त्रैनेत्रिक आज्ञाचक्र होता है। वहाँ चैतसिक समाधान हो जाने पर साधक को जो कुछ दिखायी पड़ता है, वह एक चमत्कार ही होता है ॥ २८ ॥

पहले वहाँ वह योगी एक अप्रत्याशित तेज का दर्शन करता है। फिर उसमें एक तेजस्वी स्वयं तेज के 'स्व' रूप के सदृश एक आकृति का उभार होता है। पुनः पर्यङ्क आसन पर विराजमान दिव्य देव के दर्शन होते हैं। यह इस साधना की सिद्धि

पश्यते मासमात्रेण गृहान्तर्वस्तु यत् स्थितम् ।
द्वाभ्यां बहिः स्थितं सर्वं त्रिभिः पत्तनसंस्थितम् ॥ ३० ॥

चतुर्भिर्विषयान्तःस्थं पञ्चभिर्मण्डलावधि ।
षड्भिर्मासैर्महायोगी च्छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥ ३१ ॥

सर्वज्ञत्वमवाप्नोति वत्सरान्नात्र संशयः ।
योगिनीसिद्धसंघस्य सद्भावव्याप्तिसंस्थितम् ॥ ३२ ॥

पश्यते योगयुक्तात्मा तत्समानश्च जायते ।
अनेनैव विधानेन स्वस्तिकासनसंस्थितः ॥ ३३ ॥

का क्षण होता है। इस साधना को अनवरत अभ्यास द्वारा साधक सिद्ध करे, यह भगवान् का आदेश है ॥ २९ ॥

एक मास तक निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप उसे घर में रखी हुई सारी वस्तुओं की जानकारी हो जाती है। दो मास के अनवरत अभ्यास से घर के बाहर की किसी वस्तु की जानकारी हो जाती है। तीन मास में पत्तन अर्थात् एक परिक्षेत्र की सारी बातें ज्ञात हो जाती हैं ॥ ३० ॥

चार मास के निरन्तर अभ्यास से एक ऊर्ध्व मण्डल रूप विषय का ज्ञान हो जाता है और पाँच मास के अभ्यास से पूरे मण्डलावस्थित वस्तुओं की यथास्थान जानकारी हो जाती है। छह मास के नियमित और निरन्तर अभ्यास से महायोगी मेदिनी मात्र के समस्त छिद्रों के दर्शन हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

एक वत्सर पर्यन्त इस अभ्यास से योगी सर्वज्ञ हो जाता है। उसे पृथ्वी की सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है कि, कौन वस्तु कहाँ है? किस अवस्था में है। उसकी आँखों से कुछ भी ओझल नहीं रह जाता है। भगवान् कहते हैं कि, इस विषय में सन्देह की कोई जगह नहीं। योगिनियों को सिद्ध कर लेने वाले सिद्धों के संघ का वह व्यापक सद्भाव प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इसी सद्भाव व्याप्ति में अवस्थित सर्वज्ञत्व का वह अधिकारी हो जाता है ॥ ३२ ॥

ऐसा सिद्ध साधक 'योगयुक्तात्मा' पुरुष रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि, जिस पर्यङ्कासन स्थित दिव्य पुरुष का वह नैत्रिक भ्रूमध्य में दर्शन कर कृतार्थ होता है, वह उसी के समान हो जाता है।

बिन्दुं नानाविधं त्यक्त्वा शुद्धरूपमनुस्मरेत् ।
तेनापि सर्वं पूर्वोक्तं व्याप्नोति फलमुत्तमम् ।। ३४ ।।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे सूर्याकृष्ट्यधिकारो द्वाविंशतितमः ।। २२ ।।

इस विधान में अवस्थित योगी के लिये भगवान् एक नया विकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके अनुसार साधक अब स्वस्तिक आसन पर विराजमान होकर अपनी साधना में नयी प्रक्रिया प्रारम्भ करे ।। ३३ ।।

भ्रूमध्य में ओङ्कार बीज के पाँच आयाम होते हैं—१. अ, २. उ, ३. म्, ४. बिन्दु, ५. चन्द्र बिन्दु। स्वस्तिक आसन पर बैठकर भ्रूमध्य के ध्यान सन्दर्भ में बिन्दु के स्तर पर साधन कर वह विश्व के बिन्दुओं का परित्याग कर एकमात्र बिन्दु साधना में संलग्न हो जाय। बिन्दु के शुद्ध रूप की दिव्यता के जिस क्षण में उसे दर्शन होते हैं, वह धन्य हो जाता है। योगसिद्ध यह योगीश्वर इस साधना से वही सुफल प्राप्त करने की शक्ति से संवलित हो जाता है, जिससे वह पहले सुफल प्राप्त करता रहा है ।। ३४ ।।

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र का
डॉ॰ परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
बाईसवाँ सूर्याकृष्टिकराधिकार परिपूर्ण ।। २२ ।।
।। ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय ।।



अथ त्रयोविंशतितमोऽधिकारः

अथातः परमं गुह्यं कथयामि तवाधुना ।
सद्योपलब्धिजनकं[1] योगिनां योगसिद्धये ॥ १ ॥
पूर्वन्यासेन संनद्धश्चित्तं श्रोत्रे निवेशयेत् ।
निवाते स्वल्पवाते वा बाह्यशब्दविवर्जिते ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेक भाषा-भाष्य संवलितम्

त्रयोविंशतितमोऽधिकारः

[२३]

परमेश्वर शिव परम प्रसन्न हैं। पार्वती [स्वयं शिवा] सदृश परमशिष्या प्रणत हैं। समस्त ज्ञानराशि को ग्रहण करने में समर्थ परम ग्राहिका शक्ति की वे प्रतीक हैं। वे स्वयं तत्पर हैं। प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा के सिद्धान्तों में वे अनुशासित हैं। भगवान् आज के प्रवचन सन्दर्भ को भूमिका के रूप में कह रहे हैं कि, देवि! आज मैं तुम्हारे समक्ष परम गुह्य रहस्य का उद्घाटन करने जा रहा हूँ। यह तत्काल उपलब्धि का जनक है। योगियों को योगसिद्धि के लिये यह सर्वोत्तम फलप्रद उपाय है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त न्यास विधि के अनुसार षोढा आदि न्यासों को अपने समस्त अङ्गों पर न्यस्त कर साधक सन्नद्ध हो जाय। अपने चित्त को अपने ही श्रोत्र में निविष्ट करे। इस प्रक्रिया को निर्वात स्थान में सम्पन्न करना श्रेयस्कर होता है। अथवा श्वास सौविध्य के लिये थोड़ी हो भी, तो कोई बाधा नहीं होती। हाँ वाताधिक्य

१. क० पु० सद्यः फलानुभवजनकमिति पाठः

ततस्तत्र शृणोत्येव योगी ध्वनिमनावृतम्[1] ।
सुविशुद्धस्य कांस्यस्य हतस्येह मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥
यमाकर्ण्यं महादेवि पुण्यपापैः प्रमुच्यते ।
तत्र संधाय चैतन्यं षण्मासाद्योगवित्तमः ॥ ४ ॥
रुतं पक्षिगणस्यापि प्रस्फुटं वेत्त्ययत्नतः ।
दूराच्छ्रवणविज्ञानं वत्सरेणास्य जायते ॥ ५ ॥

नहीं होना चाहिये। कम से कम ऐसी व्यवस्था पहले से हो कर लेनी चाहिये कि, बाहर से किसी प्रकार का शब्द न सुनायी दे। ऐसा निर्जन और निर्वात स्थान ही इसके लिये आवश्यक है ॥ २ ॥

कान में अपने चित्त को स्थिर करने पर वहाँ से एक अनवरत निकलने वाली सनसनाती ध्वनि सुनायी पड़ती है। वह अनावृत ध्वनि मानी जाती है। उस पर कोई आवरण नहीं होता। यहाँ अनावृत के स्थान पर अनाहत पाठ भी हैं। अनाहत शास्त्र प्रसिद्ध प्रचलित शब्द है और यहाँ सन्दर्भ की दृष्टि से ठीक भी है।

विशुद्ध काँसा से बने बर्त्तन में थोड़ी लघु चोट देने पर जो ध्वनि होती है, उसका अनुरणन जब धीमा होने लगता है, कुछ ऐसी ही ध्वनि वह होती है। इसे धीमी सनसनाहट भी कह सकते हैं ॥ ३ ॥

भगवान् कहते हैं कि, महादेवि पार्वति ! इस ध्वनि का सुनना अतीव कल्याणकारी है। यह सत्य है कि, निष्ठापूर्वक इसे सुनने वाला साधक एक विधि-निषेध रहित उस स्तर को पा लेता है, जिसकी पावनता में पुण्य पाप की दृष्टि ही खो जाती है। इसमें अपनी सारी चेतना समाहित कर देनी चाहिये। इस साधना की कम से कम अवधि छः मास की होती है ॥ ४ ॥

इसे अनवरत छह मास तक सिद्ध करने वाला योगी इतना समर्थ हो जाता है कि, उस ध्वनि में समाहित होने के परिणाम का अनुभव सर्वप्रथम अव्यक्त नाद में भी अर्थज्ञान से होने लगता है। पक्षियों की चह-चह भरी अव्यक्त ध्वनि से यह जान लेता है कि, उसका अर्थ क्या है? इसके लिये उसे कोई यत्न नहीं करना पड़ता। दूर-दूर की ध्वनियों को सुनना उसे अपने आप सिद्ध हो जाता है।

१. ग० पु० ध्वनिमनाहतमिति पाठः ।

सर्वकामफलावाप्तिर्वत्सरत्रितयेन च ।
सिद्धयतीति किमाश्चर्यमनायासेन सिद्धयति ॥ ६ ॥

अथवा ग्रहणे मासि कृत्वा सूर्यं तु पृष्ठतः ।
पूर्वन्यासेन संनद्धः किंचिद्भित्तिमदाश्रितः ॥ ७ ॥

लक्षयेदात्मनश्छायां मस्तकोर्ध्वमनाहताम् ।
धूमवर्तिविनिष्क्रान्तां तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

याति तन्मयतां तत्र योगयुक्तो यथा यथा ।
तथा तथास्य महती सा वित्तिरुपजायते ॥ ९ ॥

यही नहीं उसका अर्थ भी उसे ज्ञात हो जाता है। इसमें एक वर्ष का समय अपेक्षित है ॥ ५ ॥

लगातार तीन वर्ष तक अपने जीवन के अमूल्य समय यदि साधक अनाहत ध्वनि को अर्पित कर दे, तो सभी कामों की फलवत्ता के लिये उसे किसी उपाय की आवश्यकता नहीं होती। फल उसके सामने स्वयं प्रस्तुत होने को तत्पर रहते हैं। इसके लिये साधक को आयास करने की आवश्यकता नहीं होती ॥ ६ ॥

एक नया विकल्प देते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, आग्रहायण [अगहन] मास में, या जिस मास में ग्रहण पड़ने वाला हो, उस मास में, सूर्य को पीठ पीछे करके पूरी तरह न्यास आदि करके सर्वाङ्ग दिव्य बनकर किसी का कुछ-कुछ आश्रय लेकर इसे पूरा करने का विधान अपनाना चाहिये ॥ ७ ॥

भित्तिमद् शब्द यह सूचित करता है कि, यह प्रयोग खड़ा होकर ही किया जाना चाहिये। साधक सन्नद्ध है। सूर्य उसके पीछे हैं। साधक की छाया उसके सामने पड़ रही है। इस अवस्था में वह अपने शिर के ऊपर की अनाहत अनावृत छाया को देखे। उसमें से धुएँ के छल्ले जैसे आर्द्र इन्धन से निकलते हैं, उसी के समान धुएँ की वर्तियाँ उसकी मस्तक-छाया से निकल रही हैं, इसको परिलक्षित करे। उसका मन उसी छाया-विनिक्रान्त धूम्रवर्त्ति में लगा रहे ॥ ८ ॥

योग संलग्न साधक उसमें जितनी तन्मयता प्राप्त करता है, उतनी ही उतनी उसकी संवित्ति की ओजस्विता बढ़ती जाती है। ये सारी साधनायें निष्ठा और आस्था के साथ की जाती हैं। देखने में सामान्य किन्तु फलप्रदता में असामान्य शक्ति वाली होती हैं ॥ ९ ॥

ततस्तत्र महातेजः स्फुरत्किरणसंनिभम् ।
पश्यते यत्र दृष्टेऽपि सर्वपापक्षयो भवेत् ।। १० ।।

तदस्याभ्यसतो मासात्सर्वत्र प्रविसर्पति ।
ज्वालामालाकुलाकारा दिशः सर्वाः प्रपश्यति ।। ११ ।।

षण्मासमभ्यसन्योगो सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
अब्दं [1]दिव्यतनुर्भूत्वा शिववन्मोदते चिरम् ।। १२ ।।

अथ जात्यः प्रवक्ष्यन्ते सपूर्वासनशाश्वताः ।
ह्लीं [2]क्ष्लां क्ष्वीं वं तथा क्षं च पञ्चकस्य यथाक्रमम् ।। १३ ।।

इतना परिलक्षित करते-करते साधक यह देखकर चकित हो जाता है कि, उसमें से किरणें स्फुरित हो रही हैं। छाया की छवि से रश्मिजाल का परिलक्षित होना एक सुखद आश्चर्य के समान होता है। पर यह होता है। इससे साधक निष्पाप हो जाता है ॥ १० ॥

एक मास के अभ्यास से साधक की दृष्टि सर्वत्र प्रविसर्पण करती है। प्रविसर्पण गति की प्रक्रिया के साथ तथ्य को परिलक्षित करने की स्थिति का द्योतक शब्द है। अधिक अभ्यास से ज्वालाओं से उज्ज्वल प्रकाशमयी दिशाओं के दिव्य दर्शन से साधक धन्य हो जाता है। यह बड़ी ही सरल साधना है किन्तु अनन्त सुपरिणाम प्रदान करने वाली है ॥ ११ ॥

छह मास के अभ्यास मात्र से ही दिशाओं के दिव्य दर्शन के साथ दिव्य ज्ञान की उत्पत्ति भी होती है। दिव्य ज्ञान सर्वज्ञता में परिवर्तित हो जाता है। अब साधक सर्वज्ञ हो जाता है। इसी तरह एक वर्ष तक इस साधना में लगे रहने का सुपरिणाम यह होता है कि, वह शरीर से भी देवदिव्य हो जाता है। साक्षात् शिव के समान सर्वत्र सानन्द विचरण करता हुआ सर्वपूज्य बनकर प्रसन्नता का अनुभव करता है॥ १२ ॥

इतना वर्णन सामान्य साधना से सम्बद्ध है और सामान्यतया सबके लिये लाभप्रद है। इसके बाद भगवान् शङ्कर मन्त्रात्मक आधारशक्ति और जात्यादि विशिष्ट न्यास आदि से सम्बन्धित विशिष्ट विषयों की जानकारी दे रहे हैं।

---

१. ग० पु० अब्बाद्दिव्यतनुरिति पाठः । २. ग० पु० क्षामिति पाठः ।

हं यं रं लं तथा वं च पञ्चकस्यापरस्य च ।
ॠं ॠं ॡं ॡं तथा ओं औं हः अं आकर्णिकावधौ ।। १४ ।।

सर्वप्रथम धरा तत्त्व की महत्ता शास्त्र स्वीकृत करता है। धरा का मूल बीज यों तो 'लं' माना जाता है किन्तु आधार शक्ति के रूप में माया बीज 'ह्रीं' बीज मूलाधार का रहस्यात्मक आधार है। इसलिये सपूर्वासन शब्द के माध्यम से सबसे पहले 'ह्रीं' की चर्चा भगवान् शङ्कर ने की है।

इसके बाद अप् तत्त्व क्रम में सुरोद का प्रकल्पन बीजमन्त्र द्रष्टा तान्त्रिक मनीषियों ने की है। पृथ्वी जल की आधार शक्ति है। जल की व्यापकता 'क्ष्लां' बीज में निहित है।

अप् भी तेज की आधार शक्ति है। तेज बीज के लिये 'क्ष्वीं' तेज वायु का आसन है। इसका बीज वं है। यह आकाश का आसन है। इसका बीज क्षं है। इस तरह यथाक्रम पृथ्वी, अप (सुरोद) तेज (पोत) वायुकन्द और आकाश स्वाधिष्ठानादि चक्रों के आसनों के बीज मन्त्रों का सूत्रात्मक निर्देश भगवान् शङ्कर ने यहाँ दिया है। ये आसन शाश्वत हैं। प्रत्येक प्राणी में ये विद्यमान हैं। केवल मानव योनि में मनीषी ही इस रहस्य का अनुभव कर पञ्चमहाभूतों से तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं ।। १३ ।।

इसके अतिरिक्त अपर पंचक की बात भगवान् कर रहे हैं। पार्वती के लिये तो इसका समझना सरल था। वे स्वयं विद्यामयी हैं। साधारणजनों के लिये भगवान् अभिनव गुप्त पादाचार्य ने इसे सुगम बना दिया है। उनके अनुसार 'हं' बीज नाल का आसन है। नाभि से ब्रह्मनाल की पौराणिक परम्परा से सभी परिचित है। 'ह' विसर्ग तत्त्व के अनुत्तर के संघट्ट से बनता है। विसर्ग से दृष्टि का उन्मेष ही नाल बनकर सुषुम्ना के माध्यम से ऊपर चढ़ता है और ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचकर सहस्रार में समाहित होता है।

इसके अतिरिक्त 'यं' धर्मबीज है अर्थात् प्राणधारण रूप धारणारूप धर्म का आसन माना जाता है। इसी तरह ज्ञान का बीज 'रं' मन्त्र है। अर्थात् ज्ञान का आसन है। 'लं' बीज वैराग्य का आसन और वं बीज वैराग्य का आसन है। इस तरह हं नाल, यं धर्म, रं ज्ञान और 'वं' ऐश्वर्य के क्रमिक रूप से आसन हैं। यहाँ तक दशदल कमल में पाँच पंचमहाभूत आसन के पाँच बीज मन्त्र और नाल, धर्म ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के बीज मन्त्र आसन हैं, यह सिद्ध हो जाता है। यह दशदल कमल का प्रकल्पन है।

केसरेषु भकारान्ता हं हां हिं हीं च हुं तथा।
हूँ हें हैं च दलेष्वेवं स्वसंज्ञाभिश्च शक्तयः ॥ १५ ॥
मण्डलत्रितये शेषं सूक्ष्मं प्रेतस्य कल्पयेत्।
त्र्यकारं शूलभृच्छृङ्गाणामित्येतत्परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥

अब उसकी कर्णिका में चार अधर्म आदि के बीज और तीन माया, विद्या और कला के बीजों का वर्णन कर रहे हैं—जैसे ॠं अधर्म बीज, ॠं अज्ञान बीज, ऌं अवैराग्य बीज और 'ॡं' अनैश्वर्य के बीज हैं। अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये अधर्मादि-चतुष्टय माने जाते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये धर्मादि-चतुष्टय कहे जाते हैं। इन दोनों का बोध धर्माद्यष्टक शब्द से भी होता है।

कर्णिका में ओं विद्या कंचुक बीज, औं मायाबीज और हः कला-कञ्चुक बीज माने जाते हैं। इस तरह मात्र कर्णिका में ये आठ बीज निहित हैं॥ १४॥

इस दश दल कमल के साररूप बीजों में 'क' से लेकर 'भ' तक के बीजाक्षर प्रयुक्त होते हैं। ये २४ स्पर्श वर्ण हैं। इनके भीतर एक अष्ट दल कमल का भी प्रकल्पन करना चाहिये। इसके आठों दलों में १. 'हं', २. 'हां' ३. 'हिं', ४. 'हीं', ५. 'हुँ' ६. 'हूं', ७. हें और आठवें पर 'हैं' बीज का न्यास करना चाहिये।

इन दलों में अपनी संज्ञा पूर्वक शक्तियों का अधिष्ठान भी आवश्यक माना जाता है। जैसे क्रमशः पूर्व से प्रारम्भ करने पर १. पूर्वदल में हं वामा, २. अग्नि-कोणीय दल हां ज्येष्ठा, ३. दक्षदल हिं रौद्री, ४. नैर्ऋत्य दल 'हीं' काली ५. पश्चिम दल हुँ कलविकरणी, ६. वायव्यदल हूं बलविकरणी ७. उत्तर दल 'हें' बलप्रमथिनी और ८. ईशानदल 'हैं' सर्वभूतदमनी–आठों अपनी संज्ञाओं[1] और बीजमन्त्रों के साथ विराजमान हैं॥ १५॥

इस श्लोक में भगवान् तीन मण्डलों की चर्चा करते हैं। वस्तुतः विश्व प्रसार में अग्नि को प्रमाता, सूर्य को प्रमाण और सोम को प्रमेय कहते हैं। शास्त्र इन्हीं प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयों के आधार पर १. अग्निमण्डल २. सूर्यमण्डल और सोमरूप तृतीय मण्डल की कल्पना करते हैं। इनमें अन्तःस्थ और ऊष्मा वर्णों में से पांच के श्लोक १४ के अनुसार प्रयोग कर देने पर शेष 'श', 'ष' और 'स' बचते हैं। इन तीनों को इन मण्डलों में प्रयुक्त करते हैं।

---

१. श्रीस्वच्छन्द तन्त्र २।६८-७०; मावि० ८।६३-६४

अनुक्तासनयोगेषु सर्वत्रैवं प्रकल्पयेत् ।
नमः स्वाहा तथा वौषट् हुं वषट् फट् च जातयः ॥ १७ ॥

प्रायश्चित्तेषु सर्वेषु जपेन्मालामखण्डिताम् ।
भिन्नां वाप्यथवाभिन्नामतिक्रमबलाबलाम् ॥ १८ ॥

दूसरी प्रक्रिया के अनुसार पाँच मण्डल माने जाते हैं। इनमें पहला मण्डल पार्थिवाण्ड, दूसरा मण्डल प्रकृत्यण्ड और तीसरा मण्डल मायाण्ड माना जाता है। इनमें श, ष और स को प्रतिष्ठित करते हैं।

इसके बाद 'सूक्ष्म' शब्द का प्रयोग भगवान् कर रहे हैं। इस सूक्ष्म को समझना माँ जगदम्बा की कृपा पर ही निर्भर है। इसका अर्थ सविन्दु 'क्षम' बीज होता है अर्थात्, 'क्षमं' बीजमन्त्र को ईश्वर और सदाशिव रूप प्रेत के प्रतीक रूप में न्यस्त करते हैं।

इसके बाद शूलश्रृङ्ग की चर्चा कर भगवान् इस शरीर रूप मूलाधार से लेकर उन्मना तक के पूर्ण पिण्ड मण्डल का चित्र पूरा कर लेते हैं। शूलश्रृङ्ग तीन हैं—१. अपरा (वामश्रृङ्ग), २. परा (मध्यश्रृङ्ग) और ३. परापरा (दक्षश्रृङ्ग)। इन तीनों का बीज मन्त्र है। 'सूक्ष्मं' की तरह सूत्रां अर्थ लगाने पर यह त्र्यूँ बीज भी माना जा सकता है। श्रीमदभिनवगुप्त इसे न तो त्र्यं और न त्र्यूँ वरन् 'जूं' मानते हैं। इसी को शूलश्रृङ्गों के आसन रूप में स्वीकार करते हैं ॥ १६ ॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! जहाँ वर्णन के प्रसङ्ग में आसनों के सम्बन्ध में कुछ न कहा गया हो, वहाँ इसी तरह आसन प्रकल्पन कर लेना चाहिये। जहाँ तक मन्त्रों की जाति का प्रश्न है, ये क्रमशः इस प्रकार की मानी जाती हैं—

१. नमः, २. स्वाहा, ३. वषट्, ४. हुं, ५. वौषट् और ६. (अस्त्राय) फट् ॥ १७ ॥

प्रायश्चित करने के लिये २-४-१० मन्त्रों के प्रयोग नहीं होते, वरन् अखण्डित माला का जप करना चाहिये। इसमें चाहे तो भिन्ना अर्थात् मालिनी मन्त्र का या अभिन्ना अर्थात् मातृका मन्त्र का जप करना चाहिये। इसमें प्रायश्चित्त के बलाबल पर और शक्ति मन्त्र के संख्या के बलाबल पर भी विचार कर लेना आचार्य के लिये आवश्यक होता है ॥ १८ ॥

सकृज्जपात्समारभ्य यावल्लक्षत्रयं प्रिये ।
प्राणवृत्तिनिरोधेन ततः परतरं क्वचित् ॥ १९ ॥

सदा भ्रमणशीलानां पीठक्षेत्रादिकं बहिः ।
प्रयोगं संप्रवक्ष्यामि सुखसिद्धिफलप्रदम् ॥ २० ॥

नासाक्रान्तं महाप्राणं दण्डरूपं सबिन्दुकम् ।
तद्वद्गुह्यं च कुर्वीत विद्येयं द्व्यक्षरा मता ॥ २१ ॥

अस्याः पूर्वोक्तविधिना कृतसेवः प्रसन्नधीः ।
पीठादिकं भ्रमेत्सिद्ध्यै नान्यथा वीरवन्दिते ॥ २२ ॥

एक बार एक माला जप से लेकर जप संख्या तीन लाख तक मानी जाती है। इसमें प्राणवृत्ति अर्थात् प्राणापानवाह प्रक्रिया को भी महत्त्व देते हैं। इसके निरोध से ही कार्य में एकाग्र चित्तता आती है। इसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्त्तन पर भी विचार करना आवश्यक माना जाता है ॥ १९ ॥

जो यायावर है, जिसे हमेशा इधर-उधर आना-जाना पड़ता है। पीठों में तथा विभिन्न क्षेत्रों में जाना, वहाँ की व्यवस्थाओं की देख-रेख करना और भविष्य की योजनाओं को निर्धारित करने के लिये यात्रा आवश्यक हो जाती है, उनके लिये सरलता पूर्वक अनायास सिद्ध हो जाने वाली विधि का निर्देश यहाँ किया जा रहा है, जिससे शास्त्र का अनुशासन और मर्यादा भी रहे और कर्त्तव्य की पूर्त्ति भी हो सके ॥ २० ॥

इस श्लोक में भगवान् एक द्व्यक्षरा विद्या का उद्घाटन कर रहे हैं। इसमें पूरी तरह कूट वर्णों का प्रयोग किया गया है। नासा (ई) से आक्रान्त महाप्राण (ह), दण्ड (र) अक्षरों में समन्वय से बनने वाले सबिन्दुक बीज मन्त्र का उद्धार हो रहा है। स्वाध्यायशील अध्येता यह जानते हैं कि, यह द्व्यक्षरा विद्या है। इसे अत्यन्त गुह्य माना जाता है। साधक इसे हर किसी समय और जब कभी उच्चारण न करे ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त न्यास विधि से इस विद्या की साधना रूपी सेवा में संलग्न प्रसन्न मन बुद्धि से जप करने वाले साधक को यात्रा काल में कुछ भी दूसरे उपचार आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। केवल इसी द्व्यक्षरा विद्या का आश्रय लेकर वह अपनी सारी यात्रायें पूरी कर सकता है। समस्त पीठों और क्षेत्रों की यात्रा

तत्प्रदेशं समासाद्य मन्त्रैरात्मानमादरात् ।
विद्यया वेष्टयेत्स्थानं रक्तसूत्रसमानया ॥ २३ ॥
बहुधानन्यचित्तस्तु सबाह्याभ्यन्तरं बुधः ।
ततस्तत्र क्वचित्क्षेत्रे योगिन्यो भीमविक्रमाः ॥ २४ ॥
समागत्य प्रयच्छन्ति सम्प्रदायं स्वकं स्वकम् ।
येनासौ लब्धमात्रेण सम्प्रदायेन सुव्रते ॥ २५ ॥
तत्समानबलो भूत्वा भुङ्क्ते भोगान्यथेप्सितान् ।
अथवा कृतसेवस्तु लक्षमेकं जपेत्सुधीः ॥ २६ ॥

कर सकता है। भगवान् कहते हैं कि, पार्वति ! इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २२ ॥

जहाँ जाना हो, यात्रा में द्व्यक्षरा विद्या का आश्रय ले। वहाँ पहुँच कर पूर्ववत् आदर पूर्वक स्वात्म को और उस स्थान को इस विद्या से आवेष्टित करे। जैसे लाल धागे से किसी यन्त्र आदि को लपेटते हैं, उसी तरह उस स्थान को बुद्धि-पूर्वक मन्त्रावेष्टित करे ॥ २३ ॥

साधक के महत्त्व को जानने वाला यह सोच सकता है कि, इस तरह वह क्षेत्र ही विद्या से प्रभावित होकर उसका आदर कर सकता है। इस प्रक्रिया में अनन्य भाव से लगना आवश्यक है। बाहर की तरह अन्तःकरण की पवित्रता भी परमावश्यक होती है। साधक को सबाह्याभ्यन्तर पवित्र रहना ही चाहिये। इस तरह सन्नद्ध साधक को किसी क्षेत्र में योगिनी शक्तियाँ जो अत्यन्त शक्तिशालिनी और विशिष्ट रूप से दूसरों को आक्रान्त कर लेने में सक्षम होती हैं, वे उससे मिलती हैं ॥ २४ ॥

वे उसके पास आती हैं। वे अपने-अपने संप्रदाय सिद्ध रहस्यों की जानकारी उसे देती हैं। साधक उनके द्वारा इस तरह विशेषज्ञ बन जाता है। उन सम्प्रदायों के ज्ञान से विज्ञ हो जाने पर वह परम तृप्ति का अनुभव करता है ॥ २५ ॥

भगवान् कह रहे हैं कि, सुन्दर ढंग से व्रतनिष्ठ देवि पार्वति ! वह साधक योगिनियों की शक्ति से उन्हीं के समान शक्ति सम्पन्न हो जाता है। यथेप्सित भोग उसे उपलब्ध होने लगते हैं। उनका स्वेच्छा पूर्वक उपभोग करके वह सन्तुष्ट हो जाता है। इस कार्य की सफलता को देखकर बुद्धिमान् साधक इस मन्त्र का एक लाख जप अवश्य करे ॥ २६ ॥

तर्पयित्वा दशांशेन क्षुद्रकर्मसु योजयेत् ।
तत्रोच्चारितमात्रेयं विषक्षयकरो भवेत् ॥ २७ ॥
चक्रवद्भ्रममाणैषा योनौ रक्तां विचिन्तयेत् ।
गमागमक्रमाद्वापि विन्द......वारिता ॥ २८ ॥
तत्रस्थश्चाशु संघातविघाताकुञ्चनेन तु ।
क्षणादनन्यचित्तस्तु क्षोभयेदुर्वशीमपि ॥ २९ ॥
कृतसेवाविधिर्वाथ लक्षत्रयजपेन तु ।
महतीं श्रियमाधत्ते पद्मश्रीफलतर्पिता ॥ ३० ॥

इसका दशांश तर्पण भी आवश्यक है। इतना साधन सम्पन्न साधक अब इस विद्या का सामान्य प्रयोग भी कर सकता है। हित की दृष्टि से इसका प्रयोग छोटे कामों के लिये भी किया जा सकता है। जैसे किसी को विषधर ने दंश से प्रभावित कर दिया हो, तो जानकारी होते ही वह इस विद्या का उच्चारण करे। आवश्यकतानुसार उस स्थान का स्पर्श भी कर ले, तो विष का तत्काल शमन हो जाता है। उस समय विषक्षयकरी विद्या के रूप में यह लोककल्याण का निमित्त बन जाती है ॥ २७ ॥

एक अत्यन्त गुह्य कर्म के विषय में यहाँ इस विद्या के प्रयोग की बात कर रहे हैं। स्त्री प्रसङ्ग के समय योनि में इस विद्या ध्यान करें। यह प्रकल्पन करे कि, रक्तवर्णा यह विद्या चक्रवत् उसमें गोल घूम रही है। उसके मध्य में जो आकाश सुषिर है, उसमें पति गमागम करे। उस चिन्तन के साथ सम्भोग में पुरुष वीर्य का पतन वारित हो जाता है। यहाँ टूट की जगह 'बिन्दुपातनिवारिता' पाठ होना चाहिये। इसका अर्थ होगा कि, गमागम स्थिति में भी बिन्दुपात को निवारिणी स्थिति ही बनी रहती है ॥ २८ ॥

उस उत्तेजना भरे क्षोभ के क्षणों में मिथुन प्रक्रिया में अवस्थित पुरुष संघात-विघात में लिप्त रहता है और स्त्री आकुञ्चन में आनन्द का अनुभव करती है। उस चरम कामोत्तेजना में पुरुष इस द्व्यक्षरी विद्या में अनन्यता पूर्वक अपनी सक्रियता में रत रहे, तो वह उर्वशी को भी क्षुब्ध कर सकता है ॥ २९ ॥

एक अन्य विकल्प प्रस्तुत करते हुये भगवान् कह रहे हैं कि, समस्त सेवा-विधि से पूर्ण होकर साधक यदि इस द्व्यक्षरी विद्या का अनवरत तीन लाख जप

षड्डुत्थासनसंस्थाना साधिताप्युक्तवर्त्मना ।
सर्वसिद्धिकरी देवी मन्त्रिणामुपजायते ।। ३१ ।।

शूलपद्मविधिं मुक्त्वा नवात्माद्यं च सप्तकम् ।
षड्डुत्थमासनं दद्यात्सर्वचक्रविधौ बुधः ।। ३२ ।।

मुद्रा च महती योज्या हृद्बीजेनोपचारकम् ।
अथान्यत्संप्रवक्ष्यामि स्वप्नज्ञानमनुत्तमम् ।। ३३ ।।

हृच्चक्रे तन्मयो भूत्वा रात्रौ रात्रावनन्यधीः ।
मासादूर्ध्वं महादेवि स्वप्ने यत्किंचिदीक्षते ।। ३४ ।।

कर ले और श्री के चरणों में पद्म और श्रीफल अर्पित कर उसे प्रसन्न कर ले, तो इसका सुपरिणाम यह होता है कि, साधक पुष्कल श्री से सम्पन्न हो सकता है ।। ३० ।।

षड्डुत्थ आसन परिभाषित शब्द है। तन्त्र कहता है—षट् त्यागात् सप्तमे लयः । ये छह जिनके त्याग की बात है, वह केवल मुमुक्षु के लिये है । वहाँ इस द्व्यक्षरी विद्या का न्यास होना चाहिये । विकल्प रूप से जाति के छह अङ्गों पर इसी विद्या के साथ प्रयोग के रूप में छह अङ्गों पर इसका न्यास ही आसनत्व सिद्ध करता है । इस पद्धति से साधित की गयी यह विद्या समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाली महाविद्यारूपिणी मानी जाती है । मन्त्र के प्रयोग में दक्ष मन्त्रिवर्ग के लिये यह अत्यन्त हितकारिणी विद्या मानी जाती है ।। ३१ ।।

शूल पद्मविधि की चर्चा पहले की गयी है । उसको छोड़कर नवात्मक और सप्तक विधि के विना भी षड्डुत्थ आसन देना चाहिये । यह सभी चक्र की विधियों में प्रयोजनीय विधि है । विचक्षण आचार्य को इस विषय में सचेत रहना चाहिये ।। ३२ ।।

इसमें हृद्बीज का प्रयोग करते हुये महामुद्रा का प्रयोग आवश्यक माना जाता है । यह द्व्यक्षरी विद्या इस पद्धतियों के अनुसार सिद्ध करना जीवन को धन्य बना देता है ।

इस विद्या के पूर्ण विश्लेषण के बाद भगवान् कुछ स्वप्न विज्ञान की बात भी कहने जा रहे हैं । यह ज्ञान भी अत्यन्त उत्तम माना जाता है ।। ३३ ।।

हृदय चक्र अनाहत चक्र को कहते हैं । इसमें आस्थापूर्वक तन्मय होकर अनन्य भाव भावित साधक प्रतिरात्रियों में इसी प्रकार अनवरत एक मास का समय

तत्तथ्यं जायते तस्य ध्यानयुक्तस्य योगिनः ।
तत्रैव यदि कालस्य नियमेन रतो भवेत् ।। ३५ ।।

तदा प्रथमयामे तु वत्सरेण शुभाशुभम् ।
षट्त्रिमासेन क्रमशो द्वितीयादिष्वनुक्रमात् ।। ३६ ।।

अरुणोदयवेलायां दशाहेन फलं लभेत् ।
संकल्पपूर्वकेऽप्येवं परेषामात्मनोऽपि वा ।। ३७ ।।

क्वचित्कार्ये समुत्पन्ने सुप्तज्ञानमुपाक्रमेत् ।
इत्येतत्कथितं देवि सिद्धयोगीश्वरीमतम् ।। ३८ ।।

तादात्म्य पूर्वक लगावे। एक मास के बाद उसे स्वप्न में जो कुछ दीख पड़ेगा, वह इसी पद्धति का चमत्कार माना जायेगा ।। ३४ ।।

तन्मयता की विधि से प्रतिरात्रि ध्यान सम्पादित करने वाले साधक के लिये वह स्वप्न दर्शन मात्र स्वप्न नहीं रह जाता, वरन् उसके जीवन का तथ्य ही उसके माध्यम से व्यक्त हो जाता है। इसी विधि में काल का भी नियम साधक को निर्धारित कर लेना चाहिये। जैसे निशीथ-सन्ध्या (११।३० से १२।३०) तक का एक घंटे का समय। या कोई भी समय एक से लेकर चार घंटे तक जितना समय भी साधक दे सके, उसे देना चाहिये ।। ३५ ।।

मान लीजिये, प्रथम याम का समय निर्धारित है, तो उसे ही एक वत्सर पर्यन्त नियमतः निभाना चाहिये। इससे साधक को शुभ और अशुभ सब का पता चल जाता है। इसे लगातार छह तिमाही अर्थात् एक वर्ष छह मास तक सम्पन्न करने पर दूसरे-तीसरे प्रहरों में ही साधना करने पर तदनुसार ही तथ्य का ज्ञान हो जाता है। इसमें क्रमशः जैसे जैसे साधक प्रवृत्त होता है, वैसे वैसे ही तथ्यों का ज्ञान होने लगता है ।। ३६ ।।

यदि अरुणोदय वेला में ही निर्धारित समय के अनुसार हृच्चक्र का अनन्य चिन्तन साधक करता है, तो यह ध्रुव सत्य है कि, साधक को दश दिन के अन्दर ही तथ्य ज्ञान का लाभ प्राप्त हो जाता है। संकल्प के अनुसार स्वात्म अथवा इतर व्यक्ति पर भी यह नियम लागू हो जाता है ।। ३७ ।।

जीवन में प्रायः ऐसी आवश्यकता का अनुभव होता है कि, अमुक कार्य आ गया है। इसके फलाफल की जानकारी होनी ही चाहिये। उस अवस्था में

नातः परतरं ज्ञानं शिवाद्यवनिगोचरे ।
य एवं तत्त्वतो वेद स शिवो नात्र संशयः ।। ३९ ।।

तस्य पादरजो मूर्ध्नि धृतं पापप्रशान्तये ।
एतच्छ्रुत्वा महादेवी परं सन्तोषमागता । ।। ४० ।।

एवं क्षमापयामास प्रणिपत्य पुनः पुनः ।
इति वः सर्वमाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ।। ४१ ।।

सोने में ही यह जानकारी हो जाय, इस सम्बन्ध में तत्काल प्रयोग का उपक्रम करना चाहिये । भगवान् कह रहे हैं कि, हे देवि ! पार्वती अब तक जो कुछ मैंने तुमसे कहा है, यह सिद्ध योगीश्वरी मत ही है । इसमें सन्देह नहीं ।। ३८ ।।

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, हे देवि ! पृथ्वी से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त इस ३६ तत्त्वात्मक सृष्टि प्रसार में अभी तक कहीं भी इस प्रकार के आध्यात्मिक विज्ञान का आविष्कार नहीं हुआ है । यह मेरा आविष्कार है । जो साधक सिद्ध-योगीश्वरी मत के विज्ञान को यथावत् जानता है, निःसन्देह वह शिवरूप हो जाता है । ।। ३९ ।।

उस महामनीषी साधक के चरणों की धूलि अपने मस्तक पर धारण करने से धारक के समस्त पापों का नाश अवश्यम्भावी माना जाता है । भगवान् की इस बात को सुनकर पराम्बा पार्वती अत्यन्त प्रसन्न और हर्ष से विह्वल हो उठीं ।। ४० ।।

परमशिव भट्टारक की परम भट्टारिका धर्म महिषी होते हुए भी पट्ट शिष्या पार्वती परम सन्तुष्ट और प्रसन्न होते हुए परमगुरु के पदारविन्द में प्रणिपात पूर्वक बारम्बार क्षमा याचना करने लगीं कि, भगवन् ! अपराध क्षमा करें । मैंने आपको इतना कष्ट पहुँचाया । आप को इतना सारा ज्ञान-विज्ञान सुनाने का आयास करना पड़ा ।

भगवान् कार्त्तिकेय ने मुनियों से कहा कि, आप लोगों के आग्रह पर मैंने अपने पितृचरण द्वारा पूज्य प्रसू माता को सुनाये गये इस विज्ञान का एक नया नाम 'श्रीमालिनीविजयोत्तर' रखा है । यह मेरा दिया हुआ नाम है ।। ४१ ।।

ममैतत्कथितं देव्या योगामृतमनुत्तमम् ।
भवद्भिरपि नाख्येयमशिष्याणामिदं महत् ॥ ४२ ॥

न चापि परशिष्याणामपरीक्ष्य प्रयत्नतः ।
सर्वथैतत्समाख्यातं योगाभ्यासरतात्मनाम् ॥ ४३ ॥

प्रयतानां विनीतानां शिवैकार्पितचेतसाम् ।
कार्तिकेयात्समासाद्य ज्ञानामृतमिदं महत् ॥ ४४ ॥

यह सारा विज्ञान मेरी माँ ने मुझे सुनाया था। यह योग विद्या का अमृत विज्ञान है। इससे बढ़कर कोई दूसरा विज्ञान सम्भव नहीं। यह महामहिम अनुत्तम विज्ञान परम आस्थावान् विद्या-विनय-सम्पन्न विचक्षण शिष्य को ही दिया जा सकता है। ऐसे किसी अयोग्य को यह ज्ञान नहीं देना चाहिये, जो इसका दुरुपयोग करे। आप लोग भी किसी अनधिकारी व्यक्ति को कभी मत दीजियेगा। इसका ध्यान रखना आवश्यक है ॥ ४२ ॥

कभी ऐसे अवसर भी आते हैं, जब अपर सम्प्रदाय में दीक्षित है और अधराम्नाय का ही अधिकारी वह इस ऊर्ध्व विज्ञान को जानने के लिये ऊर्ध्व सम्प्रदाय निष्ठ गुरु से छलपूर्वक भी विद्या ले लेते हैं।

कार्त्तिकेय कहते हैं कि ऋषियों! ऐसे शिष्यों से सावधान ही रहना चाहिये। कभी वह यदि विनम्र भाव से इस विज्ञान को जानने की चेष्टा करे तो सर्व प्रथम उसकी परीक्षा लेनी चाहिये। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर भी जब तक उसे दीक्षा देकर ऊर्ध्वाम्नाय योग्य न बना लिया जाय, तब तक यह विज्ञान किसी मूल्य पर नहीं दिया जाना चाहिये। परीक्षा के लिये श्लोक में प्रयत्नतः शब्द क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इस पर विशेष रूप से विचार करना चाहिये। जो योगाभ्यास में सर्वात्मभाव से निरत हो, उसी को यह विज्ञान दिया जा सकता है ॥ ४३ ॥

यह विद्या किसको दी जानी चाहिये, उसकी योग्यता क्या हो? और उसके संस्कार कैसे हों? इसके लिये इस श्लोक में तीन विशेषण दिये गये है—

१. **प्रयत**—पूरी तरह और विशेष रूप से संयमित रहते हुए इस विज्ञान का अधिकारी बनने में संलग्न व्यक्ति ही प्रयत कहला सकते हैं।

२. **विनीत**—विशेष रूप से नम्रता के संस्कार से सम्पन्न विनम्र शिष्य को विनीत कहते हैं।

मुनयो योगमभ्यस्य परां सिद्धिमुपागताः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे तन्त्रे त्रयोविंशतितमोऽधिकारः ३२ ॥

समाप्तं चेदं मालिनीविजयोत्तरं नाम महातन्त्रम् ॥

---

३. **शिवैकार्पितचेतस**—आराध्य के रूप में एक मात्र शिव को स्वीकार कर उन्हें ही अपना चेतम् पूरी तरह अर्पित करने वाला । अनन्य भाव से शिवैक्य सद्भाव भूषित शिष्य ही ऐसा हो सकता है ।

ऐसे विशेषणों से विशिष्ट शिष्य ही इस विद्या के सच्चे अधिकारी हैं। कार्त्तिकेय से मुनियों को इसी अधिकार के आधार पर ही ज्ञान प्राप्त हुआ। इस विज्ञान को महत् ज्ञानामृत संज्ञा से संवलित माना जाता है। ऐसा ज्ञान मुनियों ने कार्त्तिकेय से प्राप्त किया ॥ ४४ ॥

इस महान् गौरव ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कार्त्तिकेय ही यह घोषणा कर रहे हैं कि, मेरे उपदेश के अनुसार मुनियों ने योगविद्या का अभ्यास किया। यह निश्चित है कि, योगविद्या के अभ्यास से कोई भी महती सिद्धि प्राप्त करता है और महान् सिद्ध हो जाता है।

परमेशमुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचिरूप श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का

डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर विवेक भाषा-भाष्य संवलित

सद्योपलब्धिजनकाधिकार नामक तेईसवाँ अधिकार परिपूर्ण ॥ २३ ॥

॥ शुभं भूयात् ॥

❀ समाप्तं चेदं श्रीमालिनीविजयोत्तरं नाम महातन्त्रम् ❀

स्हौः ह्सौः

सौः



तन्त्रालोक-ललाम-भाष्यरचना-मुक्तेन 'हंसेन' तन्,

मालिन्या विजयोत्तरस्य ललितं भाष्यं विधातुं स्वयम् ।

स्वात्मायं विनियोजितस्तदधुना सा मालिनी नम्यते,

यस्याः स्राक् सदनुग्रहात् कृतिरियं पूर्णा पराभीप्सिता ॥



श्रीमालिन्यम्बार्पणमस्तु



श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रमूलश्लोकादिक्रमः

विशिष्टशब्दक्रमः

विशिष्टोक्तयः

शुद्धिनिर्देशः

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठसंख्या
अथदा	अथवा	२७४
अवा	अथवा	२९३
काराकारम	कराकारम्	२४७
तथैव	यथैव	२८७
देबा	देवा	३०१
२३८	१३८	१३८
भोमं	मौमं	७६
पुष्यं	पुण्यं	२२२
बद्धा	बध्वा	९०
वदनं	वचनं	२१८
वर्भानु	स्वर्भानु	२८३
वासेन	मासेन	२२१



श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

परमेशमुखारविन्दनिष्यन्दमकरन्दरूपम् इदमाद्यं तन्त्रम्। परावाक्स्रोतस्विनीप्रवाहमयं मूलं वा विज्ञानं श्रावं श्रावमृषीणां चेतनाचक्षूंषि समुन्मीलितान्येव स्थितानि। अश्रुतपूर्वमिदं रहस्यमिति चाकित्य-चमत्कृतानां समक्षं मन्ये चितेश्चेतनामयानि तरङ्गितानि वर्णवरेण्यानि तत्त्वान्येव प्रत्यक्षीभूतानि।

नफप्रत्याहारे विश्वशक्तीनां समुल्लासं स्वयं साक्षात्कृत्य सर्वे पारमेश्वर-शाम्भवसमावेशमाविशन्त-स्तस्थिरे। तदैव ह्रीं न फ ह्रीं वर्णविग्रहमयी वाग्देवी प्रत्यक्षीभूय तान् प्रति पारमेश्वरवचनान्येव प्रामाणयत्।

सैवेयं शब्दराशिरूपिणी भिन्नयोनिरूपा तत एव प्रावर्त्तत। मूलरूप एव समुपलब्धा कार्त्तिकेयप्रवर्त्तितेयं मालिनीविद्या। समुदीरितं स्वयमेव परमेश्वरेण—

अनेन क्रमयोगेन सम्प्राप्तः परमं पदम् ।
न भूयः पशुतामेति शुद्धे स्वात्मनि तिष्ठति ।।

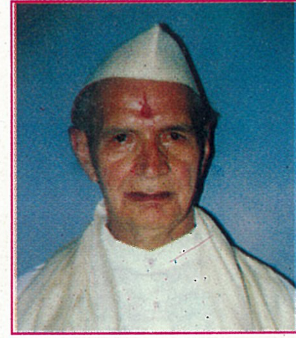
अस्यामभिन्नमालिन्यां सर्वाणि तत्त्वानि, सकलानि भुवनानि, सर्वा निवृत्त्यादयः कलाः, सर्वे मन्त्राश्च यथावदवधारिताः सन्ति; किन्तु या भिन्नयोनि-मालिनी समुल्लसति तस्यामपि कलाः पदानि मन्त्रा भुवनानि च सद्भावेत्युक्त्या पूर्ववद्वर्त्तन्त एवेति। समुद्घोषितं च वर्त्तते यत्—

सद्भावः परमो ह्येष मातॄणां परिपठ्यते ।
तस्मादेनां जपेन्मन्त्री य इच्छेत् सिद्धिमुत्तमाम् ।।



ISBN : 81-7270-047-4

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र के नीरक्षीरविवेक-भाषाभाष्यकार का संक्षिप्त जीवनवृत्त



१. **नाम** – **डॉ. परमहंस मिश्र 'हंस'**
२. **पितृनाम** – स्व. पं. फौजदार मिश्र
३. **मातृनाम** – स्व. पराकाली देवी
४. **जन्म** – २० अगस्त, १९२० ई.
श्रावण शुक्ल सप्तमी, १९७७ वै.
५. **जन्मभूमि** – मल्लपहरिसेनपुर, मलयनगर, बलिया
६. **प्राथमिक-शिक्षा**– ग्रामविद्यालय, नगरा, बलिया
७. **उच्च-शिक्षा** – आचार्य (साहित्य), राजकीय संस्कृत कालेज (सं.सं.वि.वि.), वाराणसी। एम.ए. (हिन्दी) गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
८. **उपाधि** – पी-एच्.डी.–काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
९. **भाषा-ज्ञान** – हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बँगला, कन्नड।
१०. **पद-अध्यापन** – संस्कृत-विभागाध्यक्ष, आर्य महिला डिग्री कालेज, वाराणसी।
११. **लेखन** – १. प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन।
२. पी कहाँ (छायावादी खण्डकाव्य)।
३. विश्वामित्र (हिन्दी महाकाव्य)।
४. मधुमयं रहस्यम् (संस्कृत-गीतकाव्य)।
५. स्वतन्त्रताशतकम्।
१२. **सम्पादन एवं भाष्यलेखन**
१. श्रीतन्त्रालोक (आगमिकविश्वकोष) आठ भागों में प्रकाशन।
२. तन्त्रसार – दो भागों में।
३. मन्त्रयोगसंहिता (बँगला लिप्यन्तर एवं अनुवाद)।
४. अवधूतोल्लास-पद्यानुवाद।
५. श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्।
६. सौभाग्यरत्नाकरः।
७. श्रीकुलार्णवतन्त्रम् (हिन्दी भाष्य के साथ)।
८. परशुरामकल्पसूत्रम्।
९. स्वच्छन्दतन्त्रम् (प्रथम भाग)।
१३. **पुरस्कार व सम्मान**– १. संस्कृत आकादमी, लखनऊ।
२. सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी।
१४. **सम्पादन** – **सूर्योदयः** (मासिक पत्र, १९७०-१९८१)
१५. **संस्कृतप्रतिभा, सारस्वती सुषमा** आदि में विभिन्न लेख।
१६. स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानी।

